H.M.99

यूरोप का इतिहास

फ्रांसीसी क्रांति से द्वितीय महायुद्ध तक

लालबहादुर वर्मा

द्वितीय संशोधित तथा परिवर्द्धित संस्करण

यूरोप का इतिहास

दि मैकमिलन कंपनी आफ इंडिया लिमिटेड
नई दिल्ली बंबई कलकत्ता मद्रास
समस्त विश्व में सहयोगी कंपनियां

प्रथम संस्करण 1976
द्वितीय संशोधित एवं परिवर्धित संस्करण 1980

भारत सरकार से रियायती दर पर प्राप्त कागज
इस पुस्तक में इस्तेमाल किया गया है।

एस जी वसानी द्वारा
दि मैकमिलन कंपनी आफ इंडिया लिमिटेड के लिए प्रकाशित
तथा शब्दशिल्पी द्वारा अनिल प्रिंटर्स, दिल्ली-110032 में मुद्रित।
L B Varma : Europe Ka Itihas

इतिहास आदमी के इंसान बनने के
जद्दोजहद का दस्तावेज है
निहाल को
जिसे इंसान होना 'मयस्सर' है



कृतज्ञता ज्ञापन

इतिहास में रुचि पहले से थी। लेकिन इतिहास एक जीवनदृष्टि बन सकता है और इतिहास के विद्यार्थी तथा प्राध्यापक को उसे उत्तरदायित्व समझकर अत्यंत गंभीरता से लेना चाहिए इसकी प्रेरणा दी विश्वविख्यात विचारक और लेखक रेमों आरों ने। उनके विचारों से प्रायः सहमत नहीं हो पाता हूं। फिर भी उनके शिष्यत्व में जो कुछ सीखा है उसने जीवन को सार्थकता दी है। उनका ऋणी रहूंगा—जीवन भर।

उन विद्यार्थियों के प्रति भी कृतज्ञ हूं जिनके सामने लगातार 'हिंदी में अच्छी किताबें नहीं हैं' कहने की शर्म से बचने के लिए भी यह जिम्मेदारी निभानी पड़ी। विशेष रूप से कु० पूनम पांडे, रवि प्रकाश, शशि प्रकाश, कमलेश कुमार, सुनील कुमार और राम नरेश के प्रति कृतज्ञ हूं जिन्होंने पांडुलिपि की तैयारी में भरपूर मदद की।

'राज' ने 'घर' दिया है और वह माहौल भी जिसमें कुछ कर पाना संभव हो पा रहा है। अस्मिता और सत्यम् ने पापा का वक्त, जो उनका होना चाहिए, इस किताब को दिया है। उनके प्रति केवल कृतज्ञ तो नहीं हो सकता।

मैकमिलन कंपनी ने हिंदी प्रकाशन क्षेत्र में प्रवेश कर लेखकों को आश्वस्त और उत्साहित किया है। लेखक और प्रकाशक का स्वस्थ सहयोग सबके हित में होगा।



अनुक्रम

दूसरे संस्करण पर लेखक की ओर से

किसी भी पुस्तक का दूसरा संस्करण लेखक के लिए उत्साहवर्धक होता है। इस पुस्तक के संदर्भ में उसके जल्दी बिक जाने से अधिक प्रेरणा उन पत्रों ने दी है जिन्हें राजस्थान से बिहार तक के अपरिचित छात्र, प्राध्यापक और अन्य बुद्धिजीवी समय समय पर भेजते रहे हैं। इतिहास-बोध को कौन कहे इतिहास-ज्ञान तक से प्राय: अछूते हमारे समाज में कोई इतिहास की पुस्तक परीक्षा में सफलता दिलाने के साथ साथ कुछ लोगों को उद्वेलित भी करे, इतिहास के कारक द्वंद्व को समझने की इच्छा पैदा कर सके, यह लेखक के लिए उत्प्रेरक सफलता है।

दूसरे संस्करण में पुस्तक के हर अध्याय में कुछ न कुछ परिवर्तन किया गया है, कुछ अध्याय नए सिरे से लिखे गए हैं और कुछ नए अध्याय भी जोड़े गए हैं। नामों के उच्चारण यथासंभव सही दिए गए हैं जो अक्सर प्रचलित नामों से भिन्न हैं। हमारे देश में काम बिगाड़ने के साथ नाम बिगाड़ने का भी चलन रहा है। आखिर हम कब तक लीक पीटते रहेंगे ?

यह संस्करण और उपयोगी, और उत्प्रेरक, और उत्कृष्ट सिद्ध हो तभी उसमें लगा श्रम सार्थक होगा।

15 जून 1980 —लालबहादुर वर्मा

अपनी ओर से

ब्रिटिश राज के दौरान भारतीय इतिहास का न तो सही लेखन हो सका, न सही परिप्रेक्ष्य में उसके पठन-पाठन का प्रबंध था। उस समय कुछ सही, कुछ गलत भारतीय और उससे भी अधिक दूसरे देशों, विशेषकर ब्रिटेन का 'गौरवशाली' इतिहास पढ़ाया जाता था। यूरोप और विश्व का इतिहास पढ़ने से एक लाभ तो हुआ ही कि भारतीय इतिहास संकीर्णता से अपेक्षाकृत बचा रहा। शायद उसी का परिणाम है कि आज उसी जमाने के पाठ्यक्रम को ढोता भारतीय विद्यार्थी यूरोप के इतिहास से अधिक परिचित जान पड़ता है। एक सर्वथा भिन्न सभ्यता का इतिहास, जिसकी स्थितियों, नामों और स्थानों से अंतरंग होना सहज नहीं है, कैसे भारतीय विद्यार्थी को भारतीय इतिहास से अधिक

प्रभावित कर लेता है? कारण वहुत से हैं लेकिन एक कारण यह भी है कि यूरोप का इतिहास जिस तरह प्रस्तुत किया जाता रहा है वह रोचक, ज्ञानवर्धक और ग्राह्य रहा है। यही वात भारतीय इतिहास के वारे में नहीं कही जा सकती।

अव जवकि सामान्य विद्यार्थी अंगरेजी की पुस्तकें नहीं पढ़ता, नहीं पढ़ पाता, और 'अच्छी पुस्तकें हिंदी में नहीं हैं' यह कहकर उसका प्राध्यापक हर साल बिना शर्म किए छुट्टी पा लेता रहा है, तो विद्यार्थी क्या करे? जैसी दोषपूर्ण शिक्षा और परीक्षा पद्धति है और प्रायः शिक्षक जितनी गैरजिम्मेदारी से अपना भार उतारता है उसमें विद्यार्थी यदि 'शार्टकट' न ढूंढ़े तो मूर्ख कहलाता है। कोई अकेले इस पद्धति से टकराकर 'डान क्विकजोट' बनना नहीं चाहेगा। लेकिन पठनीय, सहज, ग्राह्य और वैज्ञानिक ढंग से पाठ्य पुस्तकें मातृभाषा में लिखकर इस दिशा में पहल की जा सकती है।

मेरी पहली पुस्तक का इतिहास के विद्वानों ने स्वागत किया है। मैं उनके प्रति आभारी हूं। विद्यार्थियों ने उसे 'भिन्न' पाया है और सोचने पर मजबूर हुए हैं। वे लोग भी उसे पठनीय पा रहे हैं, जिन्होंने कभी वाकायदा इतिहास नहीं पढ़ा है। इससे उत्साह बढ़ा है। नतीजा सामने है।

पंद्रहवीं शताब्दी के वाद का इतिहास मध्यवर्ग के माध्यम से आधुनिकता के जन्म और विकास का इतिहास है। इस पुस्तक के पहले भाग में आधुनिकता के जन्म की प्रसव पीड़ा और उसके शैशव की झलक थी। इस भाग में आधुनिकता के विकास का विश्लेषण मिलेगा। सत्रहवीं शताब्दी के अंत तक मध्यवर्ग एक वास्तविकता बन चुका था और उसने अपना संघर्ष शुरू कर दिया था। इंग्लैंड की परंपराओं और विकासक्रम में उसे अपेक्षतया अधिक आसानी से सफलता मिलती जा रही थी। लेकिन फ्रांस और यूरोप के अन्य देशों में उसे संघर्ष करना पड़ा। संघर्ष का पहला विस्फोट फ्रांस की क्रांति में हुआ। क्रांति से महायुद्धों तक के इतिहास का अध्ययन मध्यवर्ग और पूंजीवाद के विकासक्रम और चरमोत्कर्ष पर प्रकाश डालता है। प्रथम महायुद्ध के दौरान हुई रूसी क्रांति एक नए युग के प्रारंभ का परिचायक है। दो महायुद्धों के बीच फासिज्म का प्रादुर्भाव हुआ और अंतर्राष्ट्रीय संकल्प और संघर्ष के सहारे ही उसे पराजित किया जा सका। इस दौरान शांति के प्रयास होते रहे और युद्ध निकट आता गया। द्वितीय महायुद्ध में फासिस्ट ताकतों की पराजय के साथ पूंजीवादी व्यवस्था के अंतर्विरोध स्पष्ट हो गए और सामजवाद एक विकल्प के रूप में स्थापित होने लगा।

इस प्रकार यूरोप के इतिहास का यह दौर अत्यंत महत्वपूर्ण है। इतिहास के इस अंश पर इतिहास की असंख्य पुस्तकें विभिन्न दृष्टिकोणों से लिखी गई हैं। उन्हें आधार मानकर एक ऐसी पाठ्यपुस्तक लिखना, जो संक्षिप्त हो, जिसमें सभी प्रासंगिक तथ्य भी आ जाएं और जो वैज्ञानिक समझदारी भी पैदा करे, एक कठिन कार्य है। लेकिन इतिहास चुनौतियां स्वीकारने की प्रेरणा तो देता ही है। हमने भी साहस किया है। यदि विद्यार्थियों ने इस पुस्तक को परीक्षा के साथ इतिहास की समझदारी के लिए भी उपयोगी पाया और इतिहास जैसे नासमझी में उपेक्षित विषय में रुचि पैदा करने में इस पुस्तक ने

तनिक भी सफलता प्राप्त की तभी हम अपने श्रम को सार्थक समझने के हकदार होंगे।

श्रम ही प्रगति का सार और आधार है। हमारा श्रम निरर्थक न हो इसी आशा और विश्वास के साथ—

25 अक्टूबर 1976
गोरखपुर विश्वविद्यालय
गोरखपुर

लालबहादुर वर्मा

फ्रांस का किसान सामान्य स्थितियों में भी अपनी जरूरत के लिए अनाज तो पैदा कर लेता था, लेकिन उनमें अधिकांश संख्या भूमिहीनों की थी। देश की अधिकांश जमीन सामंतों के पास थी और उस पर किसान काम करने के लिए मजबूर था। चूंकि सामंतों की जरूरतें पूरी हो ही जाती थीं इसलिए पैदावार में उन्हें विशेष रुचि नहीं थी। किसान जिस थोड़ी बहुत जमीन से पैदा करता था उसका अधिकांश भाग भूमिकर (टैताइय) धर्मकर (तिथे) और नमककर (गैवेल्ल) के रूप में राज्य या सामंतों को देना पड़ता था। नमक की बिक्री पर राज्य का एकाधिकार तो था, लेकिन करों की असमानता की यह स्थिति थी कि एक स्थान से दूसरे स्थान के मूल्य में कभी कभी तीस गुना फर्क होता था। हर तरह से संपन्न सामंत और पादरी विशेषाधिकार के कारण इन करों से मुक्त थे। यह कहावत चरितार्थ हो चली थी कि 'सामंत लड़ता है, पादरी पूजा करता है और सामान्य जन कर देता है' (दि नोबिलिटी फाइट्स, दि क्लर्जी प्रे ऐंड दि पीपुल पे)।

करों के अतिरिक्त किसान को समय समय पर उपहार भी देने पड़ते थे। भ्रष्ट कर्मचारियों को खुश रखना पड़ता था और दूसरों के लिए बेगार (कार्वे) भी करनी पड़ती थी। जमींदार भी किसानों पर कर लगाते थे और अपने मनोरंजन आदि के लिए किसानों को ही इस्तेमाल करते थे।

लूई पंद्रहवां के समय से ही राज्य की ओर से कृषि का महत्व समाप्त हो गया था। गांवों से राज्य का मात्र इतना संबंध केवल कर वसूल करने से था। अकाल की स्थिति होने पर भी राज्य का तंत्र इस संबंध में चुपचाप कान बंद किए रहता था।

फ्रांस का उद्योग सत्रहवीं शताब्दी से उन्नत हो चला था और उसके निर्यात पर यूरोप के राज्य निर्भर रहते थे। सल्ली और कोल्बैर ने इस दिशा में महत्वपूर्ण काम किए थे। फ्रांस का विदेशों से व्यापार बढ़ा था। समकालीन अर्थशास्त्री मोसांस के अनुसार इस अवधि में निर्यात पिछली शताब्दी की अपेक्षा चार गुना अधिक बढ़ा था। औद्योगिक क्रांति के लक्षण उभर रहे थे, लेकिन अठारहवीं शताब्दी के मध्य में जहां यूरोप, विशेषकर इंग्लैंड में महत्वपूर्ण परिवर्तन हो रहे थे वहीं फ्रांस के शासक व्यवसाय को भी वृहत्तर संदर्भ में न देखकर इसे अपने हित के लिए इस्तेमाल करते थे। राज्य के अयोग्य और कड़े नियंत्रण के कारण उद्योग और व्यापार की भी प्रगति नहीं हो रही थी। बेरोजगारी बढ़ने लगी थी। लिओ और बोर्दो जैसे औद्योगिक नगरों तथा राजधानी पेरिस में बेरोजगार इकट्ठा होने लगे थे। पिंडारियों जैसे लुटेरे बढ़ रहे थे। तस्करों का भी बोलबाला था। इससे तनाव बढ़ रहा था। साल्विमिनी ने सामंतों को 'स्वर्ण जड़ित निकम्मों' (गिल्डेड आइडिलर्स) संज्ञा दी है और ये लोग बिलकुल ही उत्पादक तत्व नहीं रह गए थे। शातोब्रियां ने बताया है कि उत्तराधिकार के दोषपूर्ण नियमों के कारण कभी कभी एक व्यक्ति को एक शिकारी कुत्ता, एक कबूतर और एक खरगोश के अतिरिक्त उत्तराधिकार में कुछ भी नहीं मिलता था। इस तरह उसकी अरुचि बढ़ती चली जाती थी।

दूसरी ओर वेर्साई में शान-शौकत और विलासितापूर्ण जीवन पर कोई असर नहीं था। वहां सब कुछ पूर्ववत चल रहा था जरूरतें पूरी करने के लिए कर या ऋण वसूली

का आसान नुस्खा इस्तेमाल होता था। दरबारी जीवन के बारे में कहा जा सकता था कि ये लोग सांसारिक सुखों के उपभोग में अत्यंत निपुण हो गए थे और विनाश की ओर बेखटके बढ़ते जा रहे थे—(ए वर्ल्ड ह्विच हैज ब्राट दि आर्ट आफ सेंसुअस एन्व्वायमेंट टु इट्स परफेक्शन ऐंड वाज गोइंग टु रुइन विद ए स्माइल)। राज्य का कोई बजट नहीं था। आमदनी के अनुसार खर्च करने के बदले खर्च के हिसाब से आमदनी करने की नीति जारी थी। 1666 से 1763 तक फ्रांस लगातार युद्धरत रहा और अमेरिका के स्वतंत्रता संग्राम में भी उसने अंगरेजों के विरुद्ध सेना भेज दी थी। इन युद्धों का खर्च बर्दाश्त कर पाना मुश्किल था। यदि समर्थ वर्ग कर मुक्त हो तो कर और ऋण की भी एक सीमा होती है। परिणाम यह था कि स्थिति डांवाडोल होती जा रही थी। फिर भी यह नहीं कहा जा सकता था कि फ्रांस की स्थिति यूरोप के अन्य राज्यों से खराब या भयावह थी। वास्तव में, एक फ्रांसीसी का अन्य यूरोपीय लोगों की अपेक्षा बेहतर जीवन था। और इसी स्थिति से उसे नई चेतना के आधार पर मौजूदा स्थितियों को समझने और नतीजे पर पहुंचने का अवसर प्राप्त होता था।

विशेषाधिकार : फ्रांसीसी समाज की विषम समस्या विशेषाधिकार की थी। यह एक प्रकार का रोग हो चला था। परंपरा के आधार पर पादरियों और सामंतों को विशेषाधिकार प्राप्त हुए थे। समाज का उद्धार करने वाला चर्च था। एक कैथोलिक ईसाई का सही जन्म तभी माना जाता था जब वह चर्च की शरण में जाने के संस्कार (बप्टिज्म) द्वारा एक नाम और संरक्षण प्राप्त कर ले। कैथोलिकों का विश्वास है कि मनुष्य पाप में जन्म लेता है और ईश्वर की अनुकंपा से ही उसे मुक्ति मिल सकती है। यह अनुकंपा तभी उपलब्ध होगी जब व्यक्ति को किसी चर्च का संरक्षण प्राप्त हो जाए। इस तरह संरक्षक और उद्धारक के रूप में चर्च की महत्ता का व्यावहारिक जीवन में यह अर्थ था कि चर्च की संपत्ति पर कर नहीं लगाया जा सकता, क्योंकि यह संपत्ति ईश्वर के नाम समर्पित है। यही नहीं, धार्मिक कार्यों के नाम पर चर्च को जनता से दशमांश नामक कर वसूलने का अधिकार था। असंगति यह थी कि पादरियों का संपन्न वर्ग कर की वसूली तो करता था लेकिन स्वयं कर देता नहीं था।

मध्ययुग में वास्तविक शक्ति सामंतों के हाथ में थी। राजा नाम मात्र का था। उसे सामंतों पर निर्भर रहना पड़ता था। इन सामंतों के पास ही सेना होती थी जो युद्ध होने पर राजा की ओर से भी लड़ती थी। राजा की ऐसी सेवा करने के बदले सामंत को प्रतिष्ठा के अतिरिक्त यह विशेषाधिकार भी प्राप्त था कि उसे सामान्य लोगों की तरह न समझा जाए। वह राज्य के करों से स्वयं मुक्त तो था, लेकिन अपनी रियासत में जनता पर तरह तरह के कर लगा सकता था। वह किसानों से पैदावार का एक हिस्सा या उनके कुछ मवेशी जब चाहे ले सकता था। कभी कभी सामंतों के पास ही गेहूं पीसने की चक्की, शराब बनाने की भट्ठी और रोटी सेंकने के तंदूर हुआ करते थे जिनके इस्तेमाल के लिए किराया देना अनिवार्य था। अपनी जमीन बेचने पर किसान को कभी कभी मूल्य का बीस प्रतिशत जमींदार को देना पड़ता था। शिकार के लिए जानवर चाहिए और जानवर खेतों का भारी नुकसान करते थे; लेकिन शिकार

खेलने पर केवल सामंतों का अधिकार था। इसलिए किसान जानवरों को भी नहीं मार सकते थे। हवेलियों में हजारों की संख्या में कबूतर पाले जाते थे जो खेत के खेत साफ कर जाते थे। लेकिन उन्हें मारा नहीं जा सकता था।

एक तरफ वे सामान्य लोगों के कार्य से मुक्त थे तो दूसरी तरफ प्रतिष्ठित पदों पर, जैसे सेना के वरिष्ठ अधिकारियों के रूप में, उन्हीं की नियुक्ति हो सकती थी। कुलीनता के प्रति मोह और उसके प्रति सम्मान तो था लेकिन विडंबना यह कि खानदानी सामंतों की संख्या बहुत कम थी। अधिकांश के पास तो दो एक पीढ़ी ही से खरीदी गई रियासत थी। राजा आवश्यकता पड़ने पर धन लेकर लोगों को पदवी और ओहदे बांटता था। इस दृष्टि से जो नव सामंत वर्ग विकसित हुआ उससे लोग चिढ़ते थे; क्योंकि इनके विशेषाधिकारों का कोई परंपरागत आधार नहीं था। मध्यवर्ग के उन लोगों का ईर्ष्यालु होना स्वाभाविक भी था जो सामंती और उससे संबद्ध विशेषाधिकार से वंचित थे।

बढ़ती चेतना और क्रांति की बौद्धिक पृष्ठभूमि

फ्रांस की स्थितियों से वहां की जनता विशेषकर मध्यवर्ग, पूरी तरह अवगत हो रहा था। वह समझने लगा था कि समाज में यथास्थिति सदा नहीं बनी रहेगी; परिवर्तन हो सकता है और होना चाहिए। परिवर्तन की संभावना और उसके लिए आकांक्षा पैदा करने में फ्रांसीसी विचारकों ने बहुत महत्वपूर्ण योगदान दिया।

अठारहवीं शताब्दी में यूरोप में वैचारिक स्तर पर नया दृष्टिकोण अपनाया जा रहा था। कोपरनिकस और गैलीलियो के बाद विज्ञान की बढ़ती हुई प्रगति और ज्ञानोदय (एन्लाइटेनमेंट) का युग आया जिसमें लेखकगण सामाजिक बुराइयों का उद्घाटन करने में अपनी प्रतिभा का उपयोग करने लगे थे। उनका नारा 'तर्क, सहिष्णुता और मानवता' (रीजन, टालरेंस ऐंड ह्यूमेनिटी) था। ये लोग क्रांति नहीं चाहते थे, किंतु इनके प्रभाव से परिवर्तन की प्रक्रिया को बल मिला।

वोल्तेयर (1694-1778) : वोल्तेयर अपनी लेखनी में स्याही के बदले शायद विष का प्रयोग करता था। ऐसा इसलिए सोचना पड़ता है कि उसके व्यंग्यपूर्ण कथन काफी मर्माहत करने वाले थे जिन्होंने तत्कालीन व्यवस्था, विशेषकर सामाजिक-धार्मिक व्यवस्था की धज्जियां उड़ाकर रख दीं। वोल्तेयर न्यूटन को सीजर और सिकंदर से भी अधिक महान मानता था। उसके विचार से, 'हमारे सम्मान का पात्र वह है जो हमारे मस्तिष्क पर सच्चाई की शक्ति से प्रभाव डालता है; वह नहीं जो हिंसा के माध्यम से प्रभुत्व स्थापित करता है। हमें सम्मान उसका करना चाहिए जो संसार को समझता है; उसका नहीं जो उसे भ्रष्ट करता है।' (इट इज टु हिम हू मास्टर्स आवर माइंड्स बाइ दि फोर्स आफ ट्रुथ, नाट टु दोज हू एन्स्लेव मेन बाइ वायलेंस, इट इज टु हिम हू अंडर-स्टैण्ड्स नाट टु दोज हू डिसफीगर इट, दैट वी ओ आवर रेवरेंस)। वह लाक के विचारों से बहुत प्रभावित था। लाक के अनुसार, मनुष्य के विचार जन्मजात नहीं होते और न ही उन पर कोई दैवी प्रभाव होता है। मनुष्य के ज्ञान का स्रोत वे प्रभाव और अनुभूतियां

होती हैं जो बाहर से प्रवेश करती हैं। इस प्रभाव के अनुसार वोल्तेयर ने इंग्लैंड के संवैधानिक तंत्र का फ्रांस में प्रचार करने का बीड़ा उठाया, क्योंकि उसके विचार से यह तंत्र ही फ्रांस की मुक्ति का एकमात्र तरीका था। वह इंग्लैंड में व्यवसायी वर्ग की प्रतिष्ठा से बहुत प्रभावित हुआ। फ्रांस में इस वर्ग के प्रति वितृष्णा व्याप्त थी जिसे वोल्तेयर ने अनुचित माना और देश को समृद्ध करने वाले व्यवसायी को समाज के लिए उस सामंत से अधिक उपयोगी बताया जिसकी दिनचर्या राजा के सोकर उठने से लेकर फिर सो जाने के इर्द गिर्द मंडराती रहती थी। सामंत और मध्यवर्ग के अंतर्विरोध को देखते हुए हमें वोल्तेयर के विचारों में मध्यवर्ग के प्रति पक्षधरता का आभास मिलता है और इस प्रकार फ्रांस में मध्यवर्गीय क्रांति की पृष्ठभूमि साफ होती है।

वोल्तेयर नास्तिक नहीं था, लेकिन उसका मत था कि ईश्वर अपने को प्रकृति और मानव हृदय में अभिव्यक्त करता है; बाइबिल और चर्च में नहीं। इसीलिए वह—प्रोटेस्टेंट और कैथोलिक—दोनों ही चर्चों का आलोचक था। वह पोप को 'विदेशी पादरी' कहा करता था और कैथोलिक चर्च तथा पदारियों पर उसने विशेष रूप से प्रहार किया है। वह व्यंग्य में कहा करता था कि दुनिया में एक ही तो ईसाई था वह भी सलीब पर चढ़ा दिया गया (देअर वाज ओनली वन क्रिस्चिएन ऐंड ही टू डाएड आन दि क्रास)। कैथोलिक चर्च के पाखंड, अंधविश्वासों और क्रूर असहिष्णुता के कारण उसने उसे नष्ट कर देने का आह्वान किया (एक्राजे लैंकाम)।

वोल्तेयर ने भ्रष्ट एकतंत्र की भी आलोचना की। अभिव्यक्ति की स्वंतत्रता पर बल देते हुए उसने यहां तक कहा कि : 'मैं जानता हूं कि तुम्हारी बात गलत है फिर भी तुम्हारी अभिव्यक्ति के अधिकार के लिए मैं अपनी जान तक देने के लिए तैयार हूं।' इस प्रकार उसने तत्कालीन फ्रांसीसी समाज और व्यवस्था की कटु आलोचना की। उसके व्यंग्य के चुटीलेपन से लोग आहत हो जाते थे। उसके विचारों ने फ्रांस को पूरी तरह झकझोर डाला लेकिन उसके विचार प्राय: सतही होते थे और वह अनावश्यक निर्णयों तक भी पहुंच जाता था। वह यह तो जानता था कि क्या अच्छा है, लेकिन इस अच्छे कार्य को क्रियान्वित करने के लिए उसके पास न तो विश्लेषण था न ही कोई कार्यक्रम। वह इस बात का सुझाव न दे सका कि इंग्लैंड की संस्थाएं फ्रांस में कैसे लाई जाएं। इसीलिए उसकी आलोचना को रचनात्मक स्वर नहीं मिला।

इसके बावजूद वोल्तेयर अपने समय का सबसे प्रभावशाली और प्रतिष्ठित लेखक था। फ्रेडरिक महान जैसे शासक से उसकी मित्रता और उसके साथ वह वर्षों तक बर्लिन में सम्मानित अतिथि की तरह रहा। रूस की महारानी कैथरीन भी उसे अपने दरबार में बुलाने को लालायित थी। दूसरी ओर सामंत और पादरी उससे आतंकित रहते थे। उसकी पुस्तकों पर प्रतिबंध लगाया जाता था। कहने की आवश्यकता नहीं कि इंग्लैंड के विषय में लिखे गए उसके लेखों (लेटर्स आन इंग्लिश) को पेरिस की पार्लमेंट ने खुलेआम जलाने का आदेश दिया था।

उसे 'अठारहवीं शताब्दी के पुनर्जागरण का प्रस्तोता' कहा जाता है और उसे फ्रांस ही नहीं सारे यूरोप में विवेक, प्रबुद्धता और प्रगति के सिद्धांत के प्रचार-प्रसार का श्रेय

प्राप्त है। उसे विश्वास हो चला था कि फ्रांसीसी धीरे धीरे उसकी बातें जरूर मानेंगे और भविष्य बेहतर होगा। उसने एक मित्र को लिखा था, 'फ्रांसिसी लोग समझते तो हैं, लेकिन देर से···युवा लोग बेहतर दिन देखेंगे (फ्रेंच पीपुल कम टु थिंग लेट, बट दे डू कम···यंग पीपुल हैव टु सी फाइन थिंग्स)। उसकी मृत्यु के एक दशक बाद हुई क्रांति ने उसके विचारों को क्रियान्वित कर पुष्ट कर दिया।

मौंतेस्किउ (1685-1755) : मौंतेस्किउ को राजनीति विज्ञान का पहला महत्वपूर्ण विचारक (फर्स्ट पोलीटिकल साइंटिस्ट) कहते हैं। सबसे पहले उसने 'फारस के खत' (पर्सियन लेटर्स) में काल्पनिक यात्रियों के माध्यम से तत्कालीन फ्रांसीसी समाज की आलोचना की। वह इंग्लैंड से बहुत प्रभावित था और राजतंत्र का समर्थक था, लेकिन वह राजा की शक्ति को संतुलित या नियंत्रित करने के लिए अन्य संस्थाओं को शक्तिशाली बनाना चाहता था।

उसकी दूसरी महत्वपूर्ण पुस्तक 'स्पिरिट आफ लाज' में राज्य का तर्कपूर्ण विवेचन है। उसने इतिहास को सामने रखकर यह सिद्ध किया कि सरकारों का आधार स्वेच्छा से नहीं बनाया जा सकता। उनका जन्म विशेष स्थिति में होता है और उन्हें किसी देशकाल की जनता की आवश्यकताओं के अनुकूल होना चाहिए। उसने राज्य के तीन काम बताए—कानून बनाना, उसे लागू करना और कानून की व्याख्या तथा न्याय करना। इसके लिए उसने व्यवस्थापिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका की कल्पना की। उसने इन तीनों कार्यों को पृथक संस्थाओं द्वारा किए जाने अर्थात शक्ति के विभाजन (सेपरेशन आफ पावर) का विचार प्रदान किया। इस प्रकार राजा की निरंकुशता के स्थान पर एक वैधानिक राजतंत्र का उसने पक्ष लिया। उसने परोक्ष रूप से फ्रांस के एकतंत्र और केंद्रीकरण की आलोचना की तथा राजतंत्र को बेहतर बनाने के सुझाव सामने रखे। उसने पहली बार परंपरागत व्यवस्था का एक विकल्प प्रस्तुत किया। उसकी बातें कितनी मूल्यवान थीं, इसका प्रमाण इस बात से मिलता है कि अमेरिकी संविधान में इन्हें स्वीकार किया गया और क्रांतिकाल में भी उसके सिद्धांतों को संवैधानिक स्वरूप प्रदान किया गया। आज भी इस सिद्धांत की प्रासंगिकता समाप्त नहीं हुई है और विभिन्न देशों के संविधानों में उसे कमोबेश स्वीकार किया गया है। भारत के संविधान में ही न्यायपालिका और कार्यपालिका को पूरी तरह अलग अलग रखने का विधान राज्य के नीति निर्देशक तत्वों में स्वीकार किया गया है।

रूसो (1712-1778) : रूसो एक रोमांटिक व्यक्ति था। उसने अपने आचरण तथा लेखन में रूढ़ियों की अवहेलना करके स्वतंत्रता और समानता का विचार प्रस्तुत किया था। उसने अपनी कुशल लेखनी के सहारे साहित्य, शिक्षा, समाज और राज्य के विषय में नए विचार प्रस्तुत किए और लोगों को भावना तथा विवेक दोनों ही स्तरों पर प्रभावित किया। उसने 'सामान्य इच्छा' और जनता में निहित प्रभुसत्ता का विचार दिया। उसने राज्य के दैवी सिद्धांत को अस्वीकार करते हुए बताया कि राज्य का जन्म किसी समझौते से होता है। इस तरह उसने समझौता करने वालों अर्थात जनता को शक्ति संपन्न

बताया। बहुत विवेकपूर्ण और तर्कसंगत विश्लेषण न कर पाने के बावजूद उसने तत्कालीन समाज को काफी हद तक प्रभावित किया।

उसने व्यक्ति के नैसर्गिक गुणों के सहज विकास को महत्व दिया। 'समाज की असमानताओं के स्रोत' की बात करते हुए उसने स्पष्ट किया कि मनुष्य संपत्ति और संस्थाओं के बंधन में धीरे धीरे अपने आपको बांधते हुए कुटिल और प्रकृति से दूर होता गया है।

एक दूसरी पुस्तक 'एमिले' में उसने शिक्षा को व्यक्ति के सहज और नैसर्गिक विकास का उपकरण बताया। आज के मांटेसरी और किंडर गार्टेन जैसी शिक्षा पद्धतियों का पूर्वाभास उसमें मिलता है।

अपनी सबसे महत्वपूर्ण पुस्तक 'सोशल कांट्रैक्ट' में उसने राज्य की उत्पत्ति की एक परिकल्पना प्रस्तुत की। उसके अनुसार मनुष्य पहले 'प्राकृतिक अवस्था' (स्टेट आफ नेचर) में रहता था और वह आदिम, परंतु निर्मल था। इस तरह उसने एक जंगली, किंतु सरल (नोबल सेवेज) समाज की कल्पना की। इसी समाज में सभी लोगों ने सबके हित में अपने अपने अधिकारों का परित्याग कर एक 'समवेत शक्ति' गठित करने के लिए समझौता किया और राज्य का जन्म हुआ। इस राज्य में सामान्य इच्छा (जेनरल विल) ही प्रभु इच्छा (सावरेन विल) थी। दूसरे शब्दों में उसने सत्ता का स्रोत किसी एक व्यक्ति या दैवी इच्छा को न मानकर समष्टि समाज के समवेत रूप को माना। उसने घोषित किया कि जनता की इच्छा ही किसी सरकार को वैध बनाती है (इट इज दि विल आफ दि पीपुल दैट रेंडर्स गवर्नमेंट लेजिटिमेट)।

उसके विचार न तो इतिहास के तथ्यों पर आधारित और न ही तर्कसंगत थे। लेकिन उसने पुनः प्राकृतिक स्थिति की ओर लौटने (बैक टु नेचर) की बात करके समाज की कृत्रिमता पर प्रहार किया और साहित्य से लेकर सामान्य जन-जीवन, हर कहीं उसका शीघ्र प्रभाव पड़ा। 'मनुष्य जन्म से स्वतंत्र है लेकिन प्रत्येक स्थान पर बंधनों में बंधा रहता है' (मैन इज बार्न फ्री बट एव्री ह्वेअर ही इज इन चेन्स) कहकर उसने एक साथ मनुष्य में स्वतंत्रता की लालसा जगाई और बंधनों से मुक्त होने की प्रेरणा दी।

रूसो की आलोचना करते हुए यह कहा जाता है कि उसने मनुष्य की प्रगति को नकारा और मनुष्य को पशु बना देना चाहा। वह कल्पना लोक में रहता था और उसे यथार्थ की कोई पहचान नहीं थी। जो भी हो, उसने एक रूढ़िवादी समाज को उद्वेलित तो कर ही दिया था। यद्यपि उसने क्रांति के विचार और तत्कालीन व्यवस्था का विकल्प नहीं प्रस्तुत किया, तथापि तत्कालीन संस्थाओं को नकार कर उसने परिवर्तन की इच्छा और संभावना स्पष्ट की। उसकी आस्था का केंद्र मानव था। इसीलिए स्वतंत्रता, समानता और भ्रातृत्व (लिबर्टी, इक्वालिटी ऐंड फ्रेटर्निटी) जैसे सिद्धांत उसकी लेखनी से प्रकट हो सके। तत्कालीन समाज से लोगों का मोहभंग करने में उसे सफलता मिली और मध्यम वर्ग उसका अनन्य भक्त हो गया। क्रांति की अवधि का सबसे शक्तिशाली नेता रोब्सपियर तो उसे मसीहा और 'सोशल कांट्रैक्ट' को पवित्र ग्रंथ (बाइबिल) की तरह मानता था। क्रांति पर रूसो का स्पष्ट प्रभाव पड़ा था, लेकिन यह प्रभाव प्रेरणा

की सीमा तक ही था। नेपोलियन कहा करता था, 'रूसो बहुत बुरा था, उसीने क्रांति को आसन्न किया' (रूसो वाज ए बैड मैन, ए वेरी बैड मैन, ही काज्ड दि रिवोल्युशन)। व्यावहारिक स्तर पर उसके विचार क्रियान्वित नहीं हो सकते थे, इसलिए रूसो विचारकों में सम्मानित होते हुए भी एक रूमानी लेखक माना जाता है, परंतु उसकी प्रतिभा पूर्णतः असंदिग्ध है।

विश्वकोश : ज्ञान का एक समन्वित कोश तैयार करने की दिशा में 1723 में इंग्लैंड में एक विश्वकोश (चैंबर्स इनसाइक्लोपीडिया) तैयार किया गया था जिसका अनुवाद करने के प्रयास के दौरान दिदरो ने एक फ्रांसीसी विश्वकोश की रूपरेखा तैयार कर डाली। इसी समय जर्मनी में चौंसठ भागों में इसी तरह का एक विश्वकोश (यूनिवर्सल डिक्शनरी) प्रकाशित हुआ था। लेकिन बाद में दिदरो के विश्वकोश को ऐतिहासिक महत्व प्राप्त हुआ। दिदरो एक उदार और सचेतन विचारक था। इंग्लैंड के प्रभाव में आकर उसने 'विवेक' के महत्व पर बल देते हुए 'फिलासफिक थाट' नामक पुस्तक लिखी थी। उसका कहना था : 'जिस विषय पर कोई प्रश्न नहीं उठा हो उसे कभी प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। विश्वास करने का अधिकार प्राप्त करने के लिए शंका करना अनिवार्य है।' दिदरो को उस समय के प्रख्यात गणितज्ञ दालेम्बैर का सहयोग प्राप्त था। इन दो विद्वानों ने अन्य विशेषज्ञों की मदद से एक ऐसा विश्वकोश तैयार किया जिसमें छोटे बड़े सभी प्रश्नों की नई और आधिकारिक व्याख्या प्रस्तुत की गई थी। इसमें उन्होंने उन प्रश्नों को भी शामिल किया जिन्हें वे स्वयं नहीं मानते थे। फिर भी कोश में प्रस्तुत किए गए उनके तर्कों से गलत विचारों को समाप्त करने का आधार मिलता है। कोश के कुछ भागों का प्रकाशन होने और प्रचार बढ़ने से स्थापित संस्थाएं आतंकित हो गईं। चौतरफा प्रहार शुरू हुआ। सरकार ने भी हस्तक्षेप किया। दालेम्बैर क्षुब्ध और निराश हो गया। उसने अपना क्षोभ वोल्तेयर को लिख भेजा। वोल्तेयर ने उसे प्रोत्साहित करते हुए लिखा कि 'हम मानव मस्तिष्क में होने वाली महान क्रांति के बहुत करीब हैं और हम लोग इसके लिए आप लोगों के ही विशेष कृतज्ञ हैं।' वोल्तेयर ने दिदरो को फ्रांस के बाहर किसी अन्य देश में जाकर लिखने की सलाह दी जहां उसे सुविधा मिले। लेकिन दिदरो अडिग रहा और हर तरह के व्यवधानों के बावजूद कोश के एक एक खंड प्रकाशित होते रहे।

कोश ने संतुलित ढंग से धार्मिक असहिष्णुता, दोषपूर्ण कर व्यवस्था, गुलामों के व्यापार और निर्मम फौजदारी कानून जैसी व्यवस्थाओं पर प्रहार किया। कोश में मध्यमवर्गीय चेतना की भी झलक मिलती है। ऐसे स्थलों पर दिदरो लिखता है कि 'विभिन्न देशों के लोगों का एक दूसरे के लिए उपयोग आवश्यक हो गया है ताकि भूमि और उद्योग के उत्पादनों का आदान प्रदान हो सके। वाणिज्य मनुष्य के आपसी संबंध का नया सूत्र है।' विज्ञान, दर्शन, समाजशास्त्र तथा राजनीति जैसे विषयों पर वैज्ञानिक दृष्टिकोण से अधिकाधिक लेख लिखे गए। दिदरो ने स्वयं सैकड़ों लेख लिखे। उस अवधि में किसी भी विषय की परंपरागत मान्यता केवल इसीलिए नहीं स्वीकार की गई कि वह एक समय प्रतिष्ठित और स्वीकृत रही है। पुनर्जागरण काल की तर्क परंपरा को कसौटी बनाया गया। परिणामतः एक ही स्थान पर विभिन्न विषयों की नई व्याख्या उपलब्ध

हो गई और नगरों के मध्यवर्गीय पाठकों को ज्ञान का विस्तार करने और समझने का अवसर मिला। इससे जो दृष्टिकोण विकसित हुआ वह तत्कालीन व्यवस्था के लिए घातक सिद्ध हो सकता था। इसलिए उस पर प्रतिबंध लगाया गया। लेकिन तब तक उसका विभिन्न भाषाओं में अनुवाद हो चुका था। यहां तक कि रूस की जारीना कैथरीन भी इसकी प्रशंसा करने लगी थी। इस प्रकार यह विश्वकोश मध्यमवर्गीय लोगों के प्रशिक्षण और परिवर्तन के लिए अनुकूल मानसिकता का निर्माण करने में अत्यंत महत्व-पूर्ण सिद्ध हुआ।

अर्थशास्त्री : अठारहवीं शताब्दी के मध्य में ही ज्ञान की नई शाखा राजनीतिक अर्थ-व्यवस्था (पोलीटिकल इकोनामी) का विकास हुआ। यह खोजबीन शुरू हुई कि देश की संपत्ति का स्रोत क्या है, वस्तुओं का उत्पादन और वितरण कैसे होता है, मांग और पूर्ति के क्या नियम हैं, धन का क्या उपयोग होता है और उसका उद्योग तथा वाणिज्य पर क्या प्रभाव पड़ता है ? इसके पहले इन विषयों पर वैज्ञानिक ढंग से सोचा ही नहीं जाता था। अब इंग्लैंड और फ्रांस में इन विषयों पर विधिवत विचार शुरू हुआ। इंग्लैंड में प्रसिद्ध अर्थशास्त्री एडम स्मिथ ने अपनी ऐतिहासिक पुस्तक 'इन्क्वायरी इण्टू दि नेशन ऐंड काजेज आफ दि वेल्थ आफ नेशन' लिखी जो इस विषय पर पहली पुस्तक थी। इससे प्रभावित होकर फ्रांस में आर्थिक समीक्षा शुरू हुई। फ्रांसीसी विचारकों ने, धरती को एकमात्र उत्पादक तत्व माना। ऐसे विचारकों में केने और तूर्जो जैसे लोग प्रमुख थे। धरती से संबंधित कृषि, जंगल और खनिज को उत्पादन का साधन और धन का स्रोत माना गया। उद्योग और वाणिज्य पर विशेष ध्यान नहीं दिया गया। अब तक राजकीय नियंत्रण में प्रतिष्ठित 'वाणिज्यवाद' (मर्कंटाइलिज्म) के विरुद्ध लोगों ने किसी प्रकार के हस्तक्षेप से मुक्त व्यापार नीति (लैस्से फेअर) का विचार सामने रखा। केने का कथन है कि 'यदि किसान गरीब है तो राज्य और राजा भी गरीब होंगे।' उसे विश्वास था कि भूमि संबंधी समस्याओं का समाधान हो जाने पर देश की आर्थिक स्थिति स्वत: सुधर जाएगी। केने और एडम स्मिथ के विचारों में निकटता है। इन विचारकों ने आर्थिक स्थिति की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित किया और जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में अव-रोध पैदा करने वाले राजकीय प्रतिबंधों की आलोचना की। इससे राजनीतिक क्षेत्र में तत्कालीन व्यवस्था की हो रही आलोचना पूरक सिद्ध हुई। इन्होंने सही उत्तर भले ही न दिए हों लेकिन सही प्रश्न अवश्य उठाए।

जनमत : तत्कालीन फ्रांस में जनमत जानने के साधन उपलब्ध नहीं थे। स्थानीय संस्थाएं या कोई व्यवस्थापिका सभा थी ही नहीं। कुल मिलाकर न्यायिक संस्थाओं के रूप में पार्लमां का अस्तित्व था जो किसी भांति अंकुश रख सकती थी। वैसे तो प्रांतों में भी पार्लमां थी लेकिन पेरिस की पार्लमां का विशेष महत्व था। नियम के अनुसार किसी भी नए कानून को पार्लमां में पंजीकृत (रजिस्ट्रेशन) करना आवश्यक था, क्योंकि इसके अभाव में निर्णय करते समय नए कानूनों का ध्यान रखना कठिन था। राजा द्वारा कानून बनाए जाने का अधिकार स्वीकार करने के बावजूद पार्लमां कभी कभी अनुचित कानून का विरोध करती थी और प्राय: अपना यह विरोध पर्चों में छपाकर वितरित करवाती

थी। ऐसी स्थिति में या तो राजा अपेक्षित परिवर्तन करता था या स्वयं पार्लमां के समक्ष जाकर कानून के पंजीकरण का आदेश देता था। इस स्थिति में पार्लमां के लिए आदेश का पालन करना अनिवार्य होता था। लेकिन क्रांति के पूर्ववर्ती वर्षों में पार्लमां ने ऐसे कानून को वैध मानने से इनकार करना शुरू कर दिया था। इस तरह अन्य संस्थाओं के अभाव में पार्लमां सरकारी नीतियों के प्रति जनता का ध्यान आकर्षित करती थी और लोगों को यह भी बताती थी कि देश के आधारभूत कानून को मनमाने ढंग से बदलने का अधिकार राजा को नहीं है।

यहां यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि पार्लमां कोई प्रगतिशील संस्था नहीं थी। इसके सदस्य विशेषाधिकार संपन्न लोग ही होते थे। स्टेट्स जनरल के क्रांतिकारी कार्य शुरू होने के समय इन लोगों ने निरंकुश तंत्र के विरुद्ध असंतोष बढ़ाने में भले ही महत्वपूर्ण भूमिका निभाई हो, परंतु पार्लमां ने उनका विरोध शुरू कर दिया था। जनमत का प्रभाव सामने न दिखने पर भी यह महसूस किया जा सकता था। दैनिक समाचारपत्र तो नहीं थे लेकिन आवश्यकता पड़ने पर पर्चे छापकर बांटे जाते थे। इस कार्य में तत्कालीन बुद्धिजीवी बड़े दक्ष थे। जनता को इन पर्चों का इंतजार रहता था। सरकार जानती थी कि इन पर्चों का जनता पर क्या प्रभाव पड़ सकता है और इसीलिए सरकार ने वोल्तेयर, दिदरो और मोंतेस्किउ जैसे लेखकों के लेखन को हतोत्साहित और कभी कभी उनका दमन भी किया। इस तरह असंतोष और परिवर्तन की आकांक्षा जनमत का रूप लेकर किसी न किसी माध्यम से अभिव्यक्त होती ही थी। जनमत की जागरूकता का सबसे बड़ा प्रमाण उस समय सामने आता जब 'स्टेट्स जनरल' का आह्वान किया गया और संपूर्ण फ्रांस में कुछ ही सप्ताह के अंतर्गत हजारों मांगपत्र (काइए) तैयार कर लिए गए।

इस तरह क्रांति के पहले नई चेतना का प्रसार तो हो रहा था, लेकिन व्यवस्था में आर्थिक परिवर्तन पर विशेष बल नहीं दिया जा रहा था और न ही राजतंत्र का कोई विकल्प ढूंढ़ा जा रहा था। हालांकि सभी ने प्रश्न खड़े किए और यथास्थिति के पोषकों की नींव हिला दी थी। सत्रहवीं शताब्दी से ही बढ़ रहे तर्क और विवेक का महत्व फ्रांस में चरमोत्कर्ष पर था। हर तरह से संपन्न मध्यवर्ग, परिवर्तन के लिए लालायित था। समाज में उसका स्थान गौण होने से वह क्षुब्ध और उद्वेलित था। साथ ही छोटे पादरी और सामंतगण भी असंतुष्ट थे। साहित्य के अध्ययन और गोष्ठियों की बहसों का महत्व बढ़ रहा था। समाचारपत्र अब कस्बों और छोटे बाजारों में भी बिकने लगे थे। नगरों, विशेषकर पेरिस, में कई तरह के क्लब स्थापित हो रहे थे। 'कारदीलिए' जैसी संस्थाओं में बहसें और परिसंवाद हुआ करते थे।

पंद्रहवीं और सोलहवीं शताब्दी में जो आर्थिक, सामाजिक परिवर्तन हुए थे उनसे सत्रहवीं शताब्दी में ही विचारों में परिवर्तन की पृष्ठभूमि तैयार हो गई थी। परिणामत: ज्ञानोदय काल में समाज के संपन्न और स्थापित लोगों की रूढ़ियों का पोषण करने वाली रूढ़ियों से असंतुष्ट लोगों ने तर्क का सहारा लेकर प्रहार करना शुरू कर दिया था। फ्रांसीसी विचारकों ने इसे और आगे बढ़ाया। तत्कालीन राजनीतिक, आर्थिक,

सामाजिक और धार्मिक स्थितियों में परिवर्तन की संभावना पर उन्होंने बल दिया और उसे वैचारिक आधार प्रदान किया।

कहा जाता है कि फ्रांसीसी दार्शनिकों ने क्रांति की पृष्ठभूमि तैयार की। यहां यह अवश्य ध्यान में रखना चाहिए कि विचार जिस समाज में पैदा होते हैं वहां की आर्थिक स्थितियों का उनपर प्रभाव पड़ता है, क्योंकि ये विचार किसी शून्य में नहीं वरन आर्थिक-सामाजिक परिवेश में पैदा होते हैं। इस प्रकार एक क्रम—स्थितियां, विचार, स्थितियां—चलता रहता है। इसलिए हम कह सकते हैं कि फ्रांस जिन स्थितियों में अठारहवीं शताब्दी में था उसमें परिवर्तन अनिवार्य हो गया था। अतः अनुकूल विचार पैदा हुए और उन्होंने परिवर्तन की आवश्यकता तथा उसके स्वरूप के बारे में समाज में एक वर्ग को जागरूक बनाया। इसी वर्ग ने परिवर्तनकारी संघर्ष अर्थात क्रांति का नेतृत्व किया।

लूई सोलहवां के स्वभाव से उसके गद्दी पर बैठने के समय (1774) लोगों को बहुत आश्वासन मिला था। फ्रांस ने जब अमेरिकी स्वतंत्रता संग्राम की मदद की और जार्ज वाशिंगटन के नेतृत्व में अमरीका को इंग्लैंड के विरुद्ध विजय मिली तो सभी फ्रांसीसी गौरवान्वित हुए थे। लेकिन खुशियों का आधार स्थाई नहीं था। राज्य का ऋण बढ़ता जा रहा था और उसका भुगतान कर पाना असंभव लग रहा था।

लूई ने जब फ्रांसीसी अर्थशास्त्री और इतिहासकार तूर्जो को अपना मंत्री बनाया तो लगा कि समस्या का समाधान हो जाएगा। कार्यभार संभालते ही तूर्जो ने खाद्यान्न के व्यापार पर लगे बहुत से प्रतिबंध हटा दिए। उसने विभिन्न व्यवसायों की शक्तिशाली संस्था 'गिल्ड' को समाप्त कर दिया। उसने सड़कों की मरम्मत के निमित्त लिए जाने वाले बेगार (कार्वे) को समाप्त कर एक सामान्य कर लगा दिया। तूर्जो ने चारसूत्री कार्यक्रम रखा—ऋण नहीं, नए कर नहीं, दिवालियापन नहीं और राज्य के खर्च में कमी। इसे पूरी तरह क्रियान्वित करने पर निश्चय ही स्थिति में सुधार होता। आंशिक रूप से लागू होने पर भी स्थिति में स्थिरता आने लगी थी, लेकिन खर्च में कमी के लिए कोई तैयार नहीं था। उसके सुधारों ने विभिन्न लोगों को अलग अलग कारणों से असंतुष्ट कर दिया। तूर्जो की शिकायत होने लगी और उसे पद से हट जाना पड़ा। उसने स्वयं कहा कि यह फ्रांस के लिए विपत्ति है, घटनाओं ने इसे सत्य कर दिखाया।

उसके बाद क्लून्यी नामक व्यक्ति को जिम्मेदारी सौंपी गई। उसने तूर्जो का कार्यक्रम रद्द कर दिया। इसी समय अमरीका में स्वतंत्रता संग्राम शुरू हुआ और फ्रांस ने लाफाय्यत के नेतृत्व में अपने परंपरागत शत्रु इंग्लैंड के विरुद्ध अमेरिका की मदद के लिए एक सेना भेज दी। यह अतिरिक्त भार संभाल पाना मुश्किल था और फलतः क्लून्यी को हटना पड़ा। अब एक महत्वपूर्ण व्यक्ति नेकर की नियुक्ति हुई। नेकर स्विटजरलैंड का निवासी था और प्रोटेस्टेंट था। ये दोनों ही बातें उसकी सफलता के मार्ग में अवरोध बन सकती थीं, लेकिन एक बैंकर परिवार का होने के कारण वह आर्थिक मामलों में दक्ष था। उसने ऋण न लेने की बात छोड़कर तूर्जो के अन्य सुझाव स्वीकार कर

लिए। अमेरिकी युद्ध में जब अंगरेज हारने लगे तो इसका श्रेय नेकर को मिला। कहा जाने लगा कि 'नेकर ईश्वर है। वह बिना कोई कर लगाए युद्ध लड़ रहा है।' उसने राज्य का एक तरह का बजट (कोंत रान्द्यू) बनाया। मनगढ़त आंकड़ों के सहारे यह सिद्ध किया कि हालत सुधरती जा रही है। तमाम गड़बड़ियों के बावजूद ये आंकड़े प्रकाशित होने पर प्रशंसित हुए। लोगों ने पहली बार यह जाना कि वास्तव में कराधान से राज्य को कितनी आमदनी होती है और राजा स्वयं अपने ऊपर कितना खर्च करता है। लेकिन नेकर की प्रतिभा ने वेर्साई के षड्यंत्रपूर्ण माहौल में ईर्ष्यालु लोगों की संख्या बढ़ा दी और लोग उसके विरुद्ध होने लगे। परिणामतः उसे भी अपने पद से हटना पड़ा।

उसका उत्तराधिकारी फ्लरी एक साधारण और चापलूस व्यक्ति था। उसने हवा के साथ बहना शुरू कर दिया। वह मारी आंतुआनेत के खर्च के लिए धन जुटाता रहा। परंतु यह स्थिति आखिर कब तक चलती? उसके स्थान पर कालोन्न को वित्तमंत्री बनाया गया। उसने अपना कार्य शुरू ही किया था कि एक अशोभनीय घटना हुई। फ्रांस के वरिष्ठ पादरियों में से एक कार्डिनल रोहां बहुत भ्रष्ट था। उसे बताया गया कि रानी बहुत प्रसन्नता से उपहार स्वीकार करती है और यदि वह एक कीमती हार रानी को भेंट करे तो राजपरिवार से उसकी निकटता हो जाएगी तथा उसे प्रतिष्ठा भी मिलेगी। वस्तुतः यह एक चाल थी जो उसे और रानी दोनों को एक साथ बदनाम कर देती। रोहां ने चुपके से उपहार देना चाहा, लेकिन उपहार विरोधियों को मिल गया और सरकार की बहुत बदनामी हुई। इसी बीच राजा और पेरिस की न्यायिक संस्था पार्लमां में मतभेद बढ़ता गया। आर्थिक स्थिति संभल नहीं रही थी। कालोन्न ने राजा को सूचना दे दी कि राज्य दिवालियापन की ओर उन्मुख है और पूरे तंत्र में बिना कुछ मौलिक सुधार किए स्थिति संभल नहीं सकती। अंत में फ्रांस के सभी विशिष्ट लोगों की सभा (ले नोताब्ल) बुलाने का निर्णय हुआ। विशिष्टों की सभा के पास कोई समाधान नहीं था। एकमात्र समाधान यह हो सकता था कि विशेषाधिकार संपन्न और कर मुक्त लोगों पर कर लगाया जाए; लेकिन विशिष्टों में अधिकांश वे लोग थे जो विशेषाधिकार संपन्न थे। वे कर देने के लिए तैयार नहीं थे। कालोन्न और विशिष्टों की सभा का अधिवेशन दोनों ही बर्खास्त कर दिए गए।

राजा ने अध्यादेशों के माध्यम से शासन करना चाहा। इसी समय पेरिस की पार्लमां ने अपने महत्व को स्थापित करने के लिए उन कानूनों को न केवल रजिस्टर करने से इनकार कर दिया, उसने यह भी स्पष्ट कर दिया कि केवल राज्य को ही 'स्टेट्स जनरल' के माध्यम से नए कर लगाने का अधिकार है। जिन मौलिक कानूनों का प्रश्न पार्लमां में उठता था अब उसे एक निश्चित रूप दे दिया गया। इसके अनुसार (i) राज्य कर लगाने का अधिकार स्टेट्स जनरल के माध्यम से व्यक्त करता है; (ii) फ्रांस में मिलाए जाते समय विभिन्न प्रांतों की स्वायत्तता बरकरार थी और प्रांतीय पार्लमां के अधिकार भी अक्षुण्ण हैं; (iii) राजा जजों को बर्खास्त नहीं कर सकता; (iv) गिरफ्तार होने पर हर व्यक्ति को न्यायालय के सामने याचिका प्रस्तुत करनी चाहिए और नियमित न्यायाधीश की अदालत में ही मुकदमे की सुनवाई होनी चाहिए।

जब अधिकारियों ने बलप्रयोग करना चाहा तो रैन्न, तूलूज और बोर्दो नगरों में प्रत्यक्ष विरोध प्रदर्शन हुआ। ग्रनोब्ल में तो पार्लमां ने विशेष अधिवेशन करके यह घोषणा कर दी कि राजा और उसके अधिकारियों की नीति गलत है और स्टेट्स जनरल का अधिवेशन तत्काल बुलाया जाना चाहिए। इस अधिवेशन में सामंत, पादरी और तृतीय वर्ग के प्रतिनिधि एक साथ शामिल थे।

अब कठिनाई यह थी कि स्टेट्स जनरल का अधिवेशन अंतिम बार 1614 में हुआ था रिशलिउ द्वारा स्टेट्स जनरल का उपयोग बंद कर दिए जाने के बाद वह विस्मृत होती चली गई थी। लेकिन विकल्प क्या था? फ्रांस की जर्जर आर्थिक स्थिति और राज्य के दिवालियेपन से कैसे निबटा जाए? किसी के पास कोई निदान नहीं था। समस्या को टालने का एक ही तरीका था—प्रतिनिधि सभा का अधिवेशन बुलाना। यह अपने में एक क्रांतिकारी घटना थी। राजा ने अपनी असमर्थता स्वीकार कर ली थी। 'मैं ही राज्य हूं' कहने वाले का उत्तराधिकारी भी प्रतिनिधि सभा से समस्या का समाधान मांगने के लिए मजबूर हुआ था।

स्टेट्स जनरल की बात लोग भूल चुके थे। उसका स्वरूप, उसका संगठन, उसकी कार्यप्रणाली, चुनाव आदि कुछ भी ज्ञात नहीं था। ब्रई ने इन विषयों पर शोध करने के के लिए कुछ लोगों की नियुक्ति कर दी ताकि कुछ दिनों तक यथास्थिति बनी रहे। जब उसे भी तत्काल सफलता नहीं मिली तो अंत में उसे हटा दिया गया। नेकर को फिर से आमंत्रित किया गया।

स्टेट्स जनरल के चुनाव के लिए पादरी, सामंत और तृतीय वर्ग से अलग अलग प्रतिनिधि चुनने की पुरानी पद्धति अपनाई गई। हर व्यक्ति जो राज्य को कर देता हो या किसी विशेष कार्य में दक्ष हो, मत दे सकता था। फ्रांस में बढ़ती हुई चेतना का प्रमाण यही था कि जो लोग चुने गए वे राजनीति समझते थे और टामसन के अनुसार उनके विचारों में सिद्धांतों की प्राथमिकता स्पष्ट थी। चुने गए सदस्य अपने अपने क्षेत्र से 'मांग पत्रक' तैयार करके लाए थे। ताकविल ने इन पत्रकों का विशद अध्ययन करने के बाद लिखा है कि इनसे स्पष्ट हो जाता है कि 1789 में जनता क्या चाहती थी। इन्हें पुरातन व्यवस्था की अंतिम इच्छा और वसीयत कहा गया है। इनमें निरंकुशता की सामान्यतः आलोचना और राष्ट्रीय संविधान की अपेक्षा की गई थी। इनका मत था कि स्टेट्स जनरल का अधिवेशन समय-समय पर होना चाहिए और उसे राजा को सलाह देने के साथ स्वतंत्रता की रक्षा का उत्तरदायित्व निभाना चाहिए। इन पर ध्यान देकर राजा स्थिति संभाल सकता था, लेकिन ऐसा हुआ नहीं। चुनाव के साथ जनता में व्यापक जागरूकता आ गई थी। स्टेट्स जनरल के महत्व पर चर्चाएं हो रही थीं। उसी समय आब्बे सीऐ ने एक पुस्तिका में इस प्रश्न को बहुत सरल ढंग से हल किया था। उसने लिखा : स्टेट्स जनरल क्या है?

—सब कुछ।

उसका राजनीतिक जीवन में क्या महत्व है?

—कुछ नहीं।

वह क्या चाहती है ?

—थोड़ा महत्व।

अब प्रश्न यह था कि अधिवेशन कहां बुलाया जाए ? नेकर ने सलाह दी कि पेरिस उपयुक्त होगा, लेकिन लूई और उसके निकट के लोग वेर्साई से बाहर जाने को तैयार नहीं थे। वेर्साई में इतने लोगों की रहने तक की व्यवस्था नहीं थी। फिर भी अधिवेशन वहीं बुलाया गया।

2 मई, 1789 का बासंती दिन। बड़े समारोह के साथ लूई ने सदस्यों का स्वागत किया। उसका ख्याल था कि धूमधाम में ही लोग खो जाएंगे; परंतु समस्याएं शुरू से ही सिर उठाने लगीं। तृतीय वर्ग के प्रतिनिधियों के ठहरने की कोई व्यवस्था नहीं थी। कुछ लोगों को तो खाली किए गए अस्तबलों में रहना पड़ा था। इसका पहला प्रभाव बहुत बुरा पड़ा था।

अब एक महत्वपूर्ण प्रश्न उठ खड़ा हुआ कि स्टेट्स जनरल में मतदान की प्रणाली क्या होगी। परंपरा थी कि तीनों वर्गों—पादरी, सामंत और तृतीय वर्ग, के प्रतिनिधि अलग अलग सदनों में मत देते थे और इस तरह तीनों सदनों में से दो सदन जो चाहते थे वही स्वीकृत होता था। इस प्रणाली से स्पष्ट था कि समान हित वाले पादरी और सामंत हमेशा एक साथ रहेंगे इसलिए उनकी बात स्वीकृत होगी। तृतीय वर्ग ने इस पद्धति को मानने से इनकार कर दिया। उसने हर व्यक्ति को एक मत मानकर पूरे स्टेट्स जनरल के बहुमत के आधार पर निर्णय लेने का प्रस्ताव रखा। विशेषाधिकार संपन्न लोगों का ध्यान भी आकृष्ट हुआ। राजा को सलाह दी गई कि वह इसे स्वीकार न करे। इसी बीच छोटे पादरी, गरीब सामंत और इन दोनों ही वर्गों के प्रबुद्ध प्रतिनिधि तृतीय वर्ग का पक्ष लेकर उससे मिलने लगे। तृतीय वर्ग संगठित होने लगा। इनके अध्यक्ष ने विशेषाधिकार के विरुद्ध प्रस्ताव रखा। राजा के गुट ने व्यवधान डालने का निश्चय किया। जिस सभा भवन में अधिवेशन होता था उसे मरम्मत के बहाने बंद कर दिया गया; लेकिन उन्हें स्थिति का पता नहीं था। 20 जून को सभा भवन बंद पाकर प्रतिनिधियों ने पास के टेनिस मैदान में इकट्ठा होकर घोषणा की कि वे केवल तृतीय वर्ग के नहीं सारे राष्ट्र के प्रतिनिधि हैं और वे एक स्थाई संविधान (चार्टर आफ लिबर्टी) बनाए बिना नहीं मानेंगे। यह एक क्रांतिकारी घटना थी। फ्रांस में पहली बार एक संविधान सभा का स्वतः संगठन हो गया था और अब तक जो तृतीय वर्ग तिरस्कृत था वह संगठित और मुखर हो उठा। उसे अब प्रबुद्ध पादरियों और सामंतों का भी समर्थन प्राप्त था।

मजबूरन लूई ने मतदान के लिए एक ही सदन की प्रणाली और संविधान बनाने की बात मान ली। तृतीय वर्ग और क्रांति की यह पहली प्रमुख सफलता थी। एक राष्ट्रीय सभा (नेशनल एसेंबली) का जन्म हुआ। इस सभा में मध्यमवर्गीय लोगों का प्रभाव सबसे अधिक था। कोंत ला मा नामक लेखक ने बताया है कि 'फ्रांस की संपूर्ण प्रतिभा और शक्ति एसेंबली में एकत्र हो गई थी।' आब्बे सीऐ जैसा आदर्शवादी और व्यवहार कुशल पादरी, बाईय जैसा प्रबुद्ध और परंपरा विरोधी बुद्धिजीवी तथा मिराबो जैसा

प्रखर और यथार्थवादी राजनेता तृतीय वर्ग का नेतृत्व कर रहे थे। इसके विपरीत सामंतों, पादरियों और राजा का पक्ष लेने वाला कोई ऐसा व्यक्ति नहीं था जो अपनी बात किसी से स्वीकार करा सके।

वेर्साई के पास ही पेरिस में तनाव बढ़ रहा था। स्टेट्स जनरल का अधिवेशन पेरिस में न बुलाए जाने से पेरिस के लोग क्षुब्ध थे। पिछले दो वर्षों से अकाल की स्थिति के कारण बेरोजगार लोग पेरिस में इकट्ठा हो रहे थे। कारखानों के बंद होने के कारण मजदूर बेकार हो गए थे। इन भूखे नंगे लोगों को सां क्यूलोत कहा जाता था। उन्होंने खुलेआम सड़कों पर इकट्ठा होकर अपनी बातें कहनी शुरू कर दी थीं। 27 जून को इन लोगों ने कारखानों के मालिकों और व्यापारियों पर हमला कर दिया। काफी लोग हताहत हुए और उन्हें सख्ती से दबा दिया गया। इस समय यात्रा पर आए आर्थर यंग ने फ्रांस छोड़ते समय लिखा कि क्रांति पूरी हो गई है, लेकिन यह तो शुरुआत थी।

दंगे बढ़ते जा रहे थे। 'रोटी का दाम ही लोगों की मनस्थिति जानने का माध्यम था।' दाम का बढ़ना स्वाभाविक था, क्योंकि बाजार में गेहूं नहीं के बराबर था और महंगी रोटी से लोगों की उत्तेजना भड़कती थी। फलतः दंगे होते रहे। महल में कुछ सामंतों, मारी आंतुआनेत और राजा के भाई आर्तुआ ने षड्यंत्र करना शुरू कर दिया। वे किसी भी तरह स्टेट्स जनरल की सत्ता को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं थे। राजा भी उन्हीं की बातों में आ गया। नेकर को बर्खास्त कर दिया गया जिसका पेरिस में विरोध हुआ। लोग यह समझने लगे कि राजा सख्ती बरतने जा रहा है और उन लोगों को हटा रहा है जो जनता का पक्ष ले सकते हैं। कामीय देमूलँ ने तत्काल लोगों को सावधान किया और शस्त्रास्त्रों से लैस रहने का आह्वान किया।

बास्तीय का पतन : पेरिस से थोड़ी ही दूर पर एक छोटा सा किला था जहां प्रायः राजनैतिक बंदी रखे जाते थे। मिराबो और वोल्तेयर जैसे लोग वहां भेजे जा चुके थे। धीरे धीरे बास्तीय निरंकुशता और स्वच्छंदता का प्रतीक बन गया था। लोगों को मालूम था कि यहां बारूद और शस्त्रास्त्र काफी मात्रा में मौजूद हैं।

13 जुलाई को यह अफवाह फैली कि सैनिकों को पेरिस भेजा जा रहा है। इससे उत्तेजित होकर लोगों ने शस्त्रास्त्र संग्रह करने का निर्णय किया। नगर में जहां भी शस्त्रास्त्र उपलब्ध हो सकते थे वहां लूट खसोटकर भीड़ ने हथिया लिया। 14 जुलाई को यह खबर फैली कि बास्तीय में शस्त्रों का भंडार है और यह जान कर भीड़ उधर ही उमड़ पड़ी। उस समय बास्तीय में न तो बहुत हथियार थे और न ही राजनैतिक कैदी। उसकी सुरक्षा का भी पूर्ण प्रबंध नहीं था। फिर भी प्रशासक द लोने ने हथियार देने से इनकार कर दिया। भीड़ को डराने के लिए जब रक्षकों ने गोली चलाई और सैकड़ों लोग हताहत हो गए तो भीड़ किले पर टूट पड़ी और सचमुच ईंट से ईंट बजा दी गई। रक्षक मार दिए गए। कैदी जिनमें अपराधी भी थे छोड़ दिए गए। पूरा किला ध्वस्त कर दिया गया। लोग यादगार के लिए वहां से लोहे और पत्थर के टुकड़े अपने अपने घर ले गए और बास्तीय का नामोनिशान मिटा दिया गया।

इस घटना का महत्व इसी बात से समझा जा सकता है कि आज भी फ्रांस अपना

राष्ट्रीय दिवस 14 जुलाई को ही मनाता है। वैसे अपने में यह कोई बड़ी बात न थी; एक मामूली किले पर उग्र भीड़ ने कब्जा करके उसे नष्ट कर दिया था, पर यह घटना बदले हुए समय के आगमन की स्पष्ट ही पूर्वसूचना थी। लूई ने इस घटना का विवरण जानकर कहा कि 'अरे! यह तो विद्रोह है।' पास खड़े लिआंकूर ने कहा, 'नहीं सरकार! यह क्रांति है।' और सत्य ही, यह क्रांति का उद्घोष था। बास्तीय एक किला ही नहीं, एक सिद्धांत और परंपरा का पतन था। ब्रिटिश राजदूत ने लिखा कि, 'फ्रांस अब एक स्वतंत्र देश हो गया है।'

बास्तीय के पतन के तात्कालिक और दूरगामी दोनों ही परिणाम क्रांतिकारी थे। इससे फ्रांस के लोगों को सीधी कार्यवाही करने की प्रेरणा मिली। सारे फ्रांस में क्षुब्ध लोगों ने सामंतों और विरोधियों पर प्रहार करना शुरू कर दिया और बास्तीय की आग तेजी से संपूर्ण फ्रांस में फैल गई। सामंतों की हवेलियों पर प्रहार किए गए, उन्हें लूटा और जलाया जाने लगा, पुराने दस्तावेज नष्ट कर दिए गए और इस प्रकार पुरातन व्यवस्था के गढ़ों और प्रतीकों को समाप्त किया जाने लगा। दूसरी ओर फ्रांस में यूरोप का सबसे प्रसिद्ध एकतंत्र था। बास्तीय के पतन को एकतंत्र की पराजय और स्वतंत्रता की जीत समझा गया। पेरिस में जनरल लाफाय्यत के नेतृत्व में सामान्य सुरक्षा के लिए एक 'नेशनल गार्ड' का गठन किया गया और सैनिक शक्ति मध्यवर्ग के हाथ में आ गई। पेरिस में एक नई म्युनिसिपल सरकार (कम्यून) का संगठन किया गया और सत्ता धीरे धीरे मध्यवर्ग के हाथों में सिमटने लगी। सारे यूरोप में बास्तीय के पतन की खुशियां मनाई गईं। रूस और जर्मनी के छात्रों ने सड़कों पर नाच-गाकर फ्रांसीसियों का अभिनंदन किया। फ्रांस के प्रतिद्वंदी इंग्लैंड के प्रबुद्ध लोगों ने भी इसका स्वागत किया। उस समय के सबसे प्रसिद्ध कवि वर्ड्सवर्थ ने प्रशंसा में कविताएं लिखीं जिनका भाव था— 'फ्रांस में जीवन इस समय इतना सुखकर है; और इस समय युवा होना तो मानो स्वर्ग का ही सुख भोगना है।' कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि बास्तीय का पतन फ्रांस के इतिहास और क्रांति का एक निर्णायक मोड़ साबित हुआ।

अभी भी लोगों का राजा से कोई व्यक्तिगत विरोध नहीं था, परंतु रानी अवश्य बहुत घबड़ाई हुई थी। लूई ने पेरिस जाने का निश्चय किया। जब वह क्रांति की तिरंगी कलंगी लगाए पेरिस पहुंचा तो भीड़ ने राजा के लिए 'जिंदाबाद' के नारे लगाए। नेशनल एसेंबली में 4 अगस्त को फिर एक अप्रत्याशित घटना हुई। नोआइय नामक एक प्रतिनिधि ने यह प्रस्ताव रखा कि करों में समानता और विशेषाधिकारों का अंत होना चाहिए। उसने घोषणा की, 'मैं अपने विशेषाधिकारों का परित्याग करता हूं।' स्थिति नाटकीय थी और लोग भावावेश में आ गए। सामंत प्रतिनिधियों में भी होड़ लग गई। सुबह होते होते प्राय: सभी प्रतिनिधियों ने अपने विशेषाधिकार त्याग दिए थे। यह सिद्धांत बनाया गया कि सभी नागरिकों से एक समान ही कर वसूल किया जाएगा। इस प्रकार समानता और एकरूपता की स्थापना हो गई जिसके लिए फ्रांस की जनता लालायित थी।

सुबह की रोशनी में एक नया फ्रांस जागृत हुआ। सदियों पुरानी व्यवस्था का अंत

हो चुका था। सामंती समाज की कब्र पर मध्यवर्गी फूल खिल रहे थे। सामंतों की जमीन पर पहले ही किसानों ने कब्जा करना शुरू कर दिया था। धीरे धीरे सामंतों की जमीन नगर के धनिकों और मध्यमवर्गीय लोगों के हाथों में आने लगी थी। उस समय एक कार्टून प्रकाशित हुआ। पहली तस्वीर में एक बूढ़ा किसान पीठ पर बोझ लादे जा रहा है—बोझ पर लिखा था 'सामंती और धार्मिक कर'। दूसरे चित्र में वही किसान, सामंत और पादरी पर सवारी करते हुए कह रहा है, 'मैं जानता था कि मेरे दिन भी आएंगे।' संभवतः यह सच नहीं था कि इस नई चेतना से फ्रांस का किसान शक्तिशाली हो गया है, लेकिन यह जरूर सच था कि सामंत और पादरी ध्वस्त हो गए।

तत्कालीन स्थिति को मारा ने अपने समाचार पत्र में पूर्णतः स्पष्ट कर दिया। उसने लिखा : 'यदि विशेषाधिकार संपन्न लोगों में उदारता थी तो भी उन्होंने बहुत देर कर दी। जब उनकी हवेलियों में लगी आग से सारे देश में रोशनी फैल गई तो उन्होंने उदारता-पूर्वक उन लोगों को बंधनमुक्त कर अपने विशेषाधिकारों का परित्याग कर दिया। लेकिन इन अधिकारों को तो लोगों ने पहले ही अपने शस्त्रों की शक्ति से छीन लिया था।'

मानव और नागरिकों के अधिकारों की घोषणा : एसेंबली में इस बात पर काफी बहस हो रही थी कि जो कुछ करना है, उसकी घोषणा होनी चाहिए। क्रांति का कोई सिद्धांत तो होना ही चाहिए (द रेवोल्यूशन मस्ट हैव ए क्रीड)। रूसो के 'सोशल कांट्रेक्ट' से उन्हें प्रेरणा मिल रही थी। मिराबो, लाफाय्यत और सीए ने अपने अलग अलग दृष्टि-कोण प्रस्तुत किए। अंत में 27 अगस्त को ईश्वर नहीं बल्कि सर्वोच्च सत्ता (सुप्रीम बींग) को साक्षी मानकर नागरिकों के अधिकारों की घोषणा कर दी गई। इस घोषणा में निम्न-लिखित बातों पर विशेष बल दिया गया :

—मनुष्य के कुछ नैसर्गिक अधिकार हैं जो उसे जन्म से ही प्राप्त होते हैं; जैसे अपनी सुरक्षा का अधिकार, अभिव्यक्ति स्वातंत्र्य का अधिकार, संपत्ति रखने का अधि-कार आदि।

—कानून सामान्य इच्छा की अभिव्यक्ति होती है। राज्य का जन्म व्यक्तियों के सामूहिक प्रयत्न का फल है। इसीलिए व्यक्ति को स्वयं या अपने प्रतिनिधियों के माध्यम से शासन और विधि निर्माण में भाग लेने का अधिकार है।

—किसी भी संस्था का, चाहे वह परिवार हो या राज्य, यह कर्तव्य है कि वह नागरिक अधिकारों की रक्षा करे।

—राज्य व्यक्ति का दमन न करे इसके लिए उसके अधिकारों पर नियंत्रण की व्यवस्था होनी चाहिए।

यह घोषणा रूसो के विचारों और आदर्शों से ओतप्रोत तथा उसी से प्रेरित थी। जुलाई और अगस्त में घटी घटनाओं का इन पर प्रभाव अवश्य था, लेकिन मूलतः यह क्रांति के आदर्शों पर अधिक और कार्यक्रमों पर कम प्रकाश डालती है। कहा जाता है कि वस्तुस्थिति को ध्यान में नहीं रखने के कारण क्रांतिकाल के कार्यक्रमों पर इस घोषणा ने विशेष प्रभाव नहीं डाला, पर यह भी सच है कि फ्रांस ही नहीं सारी दुनिया के लोगों को इसने प्रेरित किया है। एक्टन ने कहा है कि 'यह कागज का टुकड़ा नेपोलियन की सेना

से भी अधिक शक्तिशाली सिद्ध हुआ है।' संयुक्त राष्ट्रसंघ ने भी मानव अधिकारों को परिभाषित करने की योजना द्वारा सैकड़ों वर्ष पुरानी इस घोषणा का सम्मान किया है। इस घोषणा ने क्रांति को एक व्यापकता प्रदान कर दी और मानव मात्र के अधिकारों की मांग ने क्रांति के पक्षधरों और शत्रुओं की स्थिति स्पष्ट करते हुए दोनों की संख्या बढ़ा दी। एसेंबली के इस उद्‌बोधन में यह सच्चाई थी कि मानव अधिकारों को सदियों से गलत ढंग से प्रस्तुत किया गया है; इन्हें अब इस प्रकार स्थापित किया जा रहा है कि वे उत्पीड़कों के विरुद्ध सतत संघर्ष के आह्वान (एवरलास्टिंग वार क्राई एगेंस्ट आप्रेसर) के रूप में जीवत रहे।

लफेव्वर के अनुसार राजा ने कुलीनों और सामंतों का पक्ष लेकर मध्यमवर्ग के हितों का विरोध करना शुरू कर दिया था। यह उसके और देश के लिए दुर्भाग्यपूर्ण था। वेर्साई का सशंकित राज परिवार तरह तरह की योजना बना रहा था। क्रांति से भयभीत लोग देश छोड़कर भाग रहे थे और फ्रांस की सीमाओं पर जमा होकर षड्यंत्रों का बाजार गर्म कर रहे थे। इसी बीच पेरिस की औरतों ने वेर्साई जाकर लूई और उसके परिवार को पेरिस आने पर मजबूर कर दिया। जब लाचार लूई पेरिस आ रहा था तो साथ की भीड़ यह कहते हुए नाच-गा रही थी कि, 'हमारे साथ रोटी वाला और उसका परिवार है।' जनता अभी भी लूई के विरुद्ध नहीं थी। वह निर्णायक भूमिका अदा कर सकता था, लेकिन वह बिलकुल ढुलमुल और कमजोर साबित होता जा रहा था।

पादरियों का कानून (सिविल कांस्टीट्यूशन आफ द क्लर्जी) : इस बीच एक और महत्वपूर्ण कदम उठाया गया। फ्रांस की जनता अधिकांशतः कैथोलिक थी। वहां अब भी पोप और पादरियों का महत्व और जनजीवन पर उनका अत्यधिक प्रभाव था। वोल्तेयर की आलोचना के कारण और प्रबुद्धता बढ़ने के साथ जागरूक लोग या तो धर्म विरोधी होते जा रहे थे या धर्म की तत्कालीन व्यवस्था के आलोचक। ऐसे ही लोगों का एसेंबली पर प्रभाव था। वे पादरियों और पोप के महत्व को सीमित करना चाहते थे। इसलिए एक नए विधान की घोषणा हुई। इसके अनुसार,

—फ्रांस की बेढंगी धार्मिक इकाइयों को समाप्त कर उनकी संस्था सीमित कर दी गई और उनकी क्षेत्रीय सीमा को स्पष्ट ढंग से निर्धारित कर दिया गया।

—धर्म के अधिकारियों के चुनाव का अधिकार जनता को दिया गया।

—ये अधिकारी राज्य के कर्मचारी होंगे और इनका वेतन, भत्ता और छुट्टी का निर्धारण राज्य द्वारा होगा।

—पोप केवल उन्हें औपचारिक स्वीकृति दे सकेगा।

—पादरियों के लिए भी प्रशासन के नियम मानना अनिवार्य होगा और वे दंडित भी किए जा सकेंगे।

—पादरियों के लिए राष्ट्र कानून और राजा के प्रति निष्ठा की शपथ लेनी जरूरी हो गई। यह भी आवश्यक माना गया कि वे अपनी सारी शक्ति से एसेंबली द्वारा घोषित संविधान की रक्षा करेंगे।

इस विधान ने फ्रांस में एक विभाजन कर दिया। यह सच था कि फ्रांस में कैथोलिक

धर्म का एक राष्ट्रीय स्वरूप था और पोप के हस्तक्षेप तथा पादरियों की राजनीति में रुचि पर क्षोभ व्यक्त किया जाता था, लेकिन आम जनता परंपराग्रस्त थी। इसलिए इस घोषणा को समर्थन नहीं मिला। जिन पादरियों ने इसे स्वीकारा वे 'ज्यूरर' और जिन्होंने अस्वीकारा वे 'नान ज्यूरर' कहलाए। यह विभाजन क्रांति का विरोध बढ़ाने में सफल हुआ। विशप लोगों का साधारण मतदाताओं द्वारा चुनाव, जिनमें प्रोटेस्टेंट और यहूदी लोग भी शामिल थे, वहुतों को स्वीकार्य नहीं था। क्रांति का धर्म के प्रति दृष्टिकोण स्पष्ट होने सगा। लूई अव धार्मिक आधार पर भी क्रांति का दुश्मन हो गया। केवल चार विशपों ने शपथ ली। 46,000 छोटे पादरियों ने अपनी धार्मिक परंपरा छोड़ने से इनकार कर दिया। जव क्रांतिकारी सरकार ने इन पादरियों को सजा देनी शुरू की तो क्रांति स्वतंत्रता और शांति के स्थान पर उन लोगों को, विशेषकर जिनके विशेषाधिकार छिने थे, अधार्मिकमता, हिंसा और एक नए प्रकार के, पहले से वदतर और क्रूर, उत्पीड़न के रूप में दिखाई पड़ने लगी।

दूसरी ओर इसे धर्म को राज्य के अनुशासन के अंतर्गत लाने का श्रेय दिया जाता है। कुछ भी हो यह क्रांतिकारियों का एक साहसिक कदम था, लेकिन लूई ने इसे स्वीकार करने में आनाकानी की। बाद में उसने तो दवाव में इसकी स्वीकृति दे दी, लेकिन पोप ने इसे नहीं माना। उसने उन पादरियों को निष्कासित कर दिया जो इस विधान को स्वीकार कर चुके थे। इसका प्रभाव शिक्षा पर भी पड़ा। कारण, शिक्षा मुख्यत: चर्च के नियंत्रण में थी। यह स्थिति तव तक वनी रही जब तक नेपोलियन ने पोप से समझौता नहीं किया।

इतना कुछ होने के वावजूद आर्थिक स्थिति संभल नहीं रही थी। संपत्ति छोड़कर लोग भाग गए थे। 'राष्ट्रीय संपत्ति' का जन्म तो हुआ था लेकिन इस जमीन को खरीदे कौन? मध्यमवर्गीय लोगों ने यह काम किया। जरूरत के लिए कागज की मुद्रा (आसिन्या) का भी चलन हुआ। इस जमीन पर अधिकार करना ही क्रांतिकाल का निर्णायक तत्व वन गया। इस अधिकार की सुरक्षा के लिए कानून वने, हत्याएं हुईं और क्रांति का मनमाने ढंग से उपयोग हुआ। मजदूरों की स्थिति भी बेहतर वनाने का प्रयास किया गया। उनकी मजदूरी निश्चित और नियमित तथा कार्यपद्धति मानवीय और आरामदेह वनाने के प्रयास हुए। लेकिन क्रांति मजदूरों के पक्ष में कितनी है इसका पता तव चला जव मानव अधिकारों की घोषणा से प्रेरित होकर मजदूर अपने संघ (यूनियन) वनाने की योजना तैयार करने लगे। इससे मध्यमवर्गीव नेतृत्व आतंकित हो गया और यह कानून वना कि मजदूर अपना अलग से संघ नहीं बना सकते। यह 'घोषणा' में दिए गए अधिकारों की अवहेलना थी, लेकिन ऐसा तो क्रांति के दौरान कई बार हुआ था।

1791 का संविधान : स्थितियां काफी बदल चुकी थीं और निरंतर परिवर्तन हो रहे थे। शासन का स्वरूप वदल रहा था। इसे और संगठित रूप देने के लिए एसेंबली कृत-संकल्प थी। नया संविधान बनाने का निश्चय हो चुका था। अंत में, 1791 में पहली बार फ्रांस के इतिहास में संविधान का निर्माण हुआ। इस संविधान के प्रथम भाग में मानव

अधिकारों की पूर्व घोषणा को वैधानिक रूप दे दिया गया। इनमें कुछ नए प्रविधान जोड़े गए; जैसे देश से बाहर जाने का अधिकार, संपत्ति के लिए मुआवजा पाने का अधिकार तथा शिकायत करने का अधिकार। भारतीय संविधान के नीति निर्देशक तत्वों की तरह कुछ प्रतिज्ञाएं भी की गईं जैसे गरीबी के विरुद्ध कानून, शिक्षा का नया रूप आदि।

राज्य का पुनर्गठन किया गया। प्रशासन के लिए राज्य को जिलों, विभागों और कम्यूनों में बांट दिया गया। प्रशासन की सबसे छोटी इकाई कम्यून थी। पहले शिक्षा, शासन और चर्च के लिए अलग इकाइयां थीं और अब उन्हें एक कर दिया गया।

मोंतेस्किउ के प्रभाव में राज्य के कार्यों का विभाजन कर दिया गया। व्यवस्थापिका के लिए हर वयस्क को, जो कम से कम तीन दिनों की आमदनी कर के रूप में देता हो, मत देने का अधिकार दिया गया। 745 सदस्यों की एक सदन वाली प्रतिनिधि सभा का प्रावधान किया गया। इस सभा के सदस्य को 'देप्यूते' कहा जाता था। इस सभा को कानून बनाने का अधिकार था। इसके द्वारा बनाया गया कानून राजा की औपचारिक स्वीकृति के बाद लागू हो जाता था। इसके किसी सदस्य को मंत्री बनने का अधिकार नहीं था। हर वर्ष मई मास में सभा की बैठक अनिवार्य थी। राजा इसे भंग नहीं कर सकता था। इसकी स्वीकृति के बिना युद्ध या शांति की घोषणा नहीं हो सकती थी। इस प्रकार एक शक्तिशाली और स्वतंत्र व्यवस्थापिका का प्रावधान किया गया।

राजा कार्यपालिका का सर्वोच्च अधिकारी था और अपने द्वारा नियुक्त किए गए मंत्रियों की मदद से शासन करता था। व्यवस्थापिका सभा से किसी मंत्री का संबंध नहीं हो सकता था। नियुक्त मंत्रियों और राजदूतों के लिए व्यस्थापिका की अनुमति आवश्यक थी। व्यवस्थापिका द्वारा पारित किए गए कानून को राजा केवल कुछ दिनों के लिए ही अस्थाई निषेध द्वारा टाल सकता था। उसके और परिवार के खर्च के लिए रकम निश्चित कर दी गई और इस प्रकार एक नियंत्रित कार्यपालिका बनी जिसमें राजा के अधिकारों पर संवैधानिक अंकुश लगा दिए गए।

न्यायपालिका के सदस्यों के भी निर्वाचन का विधान बनाया गया। न्याय को सस्ता और सुलभ बनाया गया। जूरी की व्यवस्था हुई। नारी जाति को मत देने के अतिरिक्त प्रायः सभी अधिकार प्रदान किए गए। नागरिक विवाह (सिविल मैरेज) और तलाक के नियम बने। अब तक तिरस्कृत और प्रताड़ित यहूदियों को भी समान अधिकार दिया गया।

इस तरह यह संविधान क्रांतिकारियों के आदर्शों, लक्ष्यों, हितों और उनकी सीमाओं का भी परिचायक है। अपनी ही घोषणाओं के विरुद्ध इस संविधान के निर्माताओं ने सबको बराबर के अधिकार नहीं दिए, क्योंकि वे मध्यवर्गीय प्रमुखता बनाए रखना चाहते थे। राज्य के कार्यों का पूरी तरह विभाजन अव्यावहारिक था। न्यायपालिका के चुनाव का प्रावधान उसे भ्रष्ट कर सकता था। इतनी तेजी से हो रही घटनाओं के बीच एक ऐसा संविधान बनाना, जिसमें किसी प्रकार का परिवर्तन प्रायः असंभव था, अदूरदर्शी और दंभपूर्ण कार्यवाही थी। इसी आदर्शपूर्ण दंभ के कारण और दूरदर्शिता के अभाव में एसेंबली के सदस्यों ने प्रस्ताव पारित कर भावी सभा के लिए अपने चुने जाने पर निषेध

लगा दिया गया था। इस 'आत्मत्याग' ने अब तक के अनुभव से भावी सभा को वंचित कर दिया। नए प्रतिनिधियों को चुनने में प्रतिभाओं और नए उत्साह की संभावना तो थी; लेकिन अनुभव का अपना अलग महत्व होता है।

बहुविध घटनाओं ने इस संविधान को शीघ्र ही निरर्थक सावित कर दिया, लेकिन मध्यवर्गीय राजतंत्र मध्यमवर्ग के वढ़ते प्रभाव और शक्ति का सूचक था। इस तरह नेशनल एसेंबली को अपने संक्षिप्त कार्यकाल में महत्वपूर्ण उपलब्धियों के लिए श्रेय दिया जा सकता है। ब्रिटिश पार्लमेंट ने अपने पांच सौ वर्षों के जीवन में भी उतना कुछ नहीं प्राप्त किया था।

क्रांति फ्रांस में ही क्यों ?

क्रांति के एक दौर का सर्वेक्षण कर लेने के बाद एक स्वाभाविक प्रश्न उठ सकता है कि क्रांति फ्रांस में ही क्यों हुई ? फ्रांस यूरोप का सबसे गरीब देश भी नहीं था और दूसरी ओर जनता में व्याप्त असंतोष की पृष्ठभूमि में कोई राजनीतिक भूमिका भी नहीं थी। इस महत्वपूर्ण प्रश्न पर विचार करते हुए इस बात का अध्ययन आवश्यक है कि फ्रांस में क्रांति कैसे सफल हो पाई। घटनाओं का सम्यक अध्ययन इतना तो अवश्य स्पष्ट कर देता है कि यह क्रांति स्वतःस्फूर्त नहीं थी। वस्तुतः संपूर्ण यूरोप में स्थिति खराव थी। ताक्विल ने लिखा है कि सारा यूरोप जर्जर था, लेकिन वह कहां से टूटेगा यह पता नहीं था। इस अस्पष्ट स्थिति के समाप्त होने के बाद ही फ्रांस क्रांति के लिए सबसे उर्वर भूमि के रूप में सामने आया। क्रांति के लिए जिन भौतिक स्थितियों और जागरूकता की आवश्यकता होती है वे फ्रांस में ही विद्यमान थीं।

क्रांति बिलकुल भूखा आदमी नहीं कर सकता। उसके पास अपनी स्थिति तक समझने का अवसर नहीं होता। उसे वदलने की बात ही और है। फ्रांस की जनता न इतनी गरीब थी कि जीवन की आपाधापी में ही अपने को समाप्त कर देती और न इतनी समृद्ध थी कि यथास्थिति का पोषक वन जाए। उत्पादक लोग उत्पादन के साधनों से वंचित थे। किसान अधिकांशतः भूमिहीन थे। आर्थिक विषमता और उसके विरुद्ध जागृति बढ़ रही थी। सामंतों और मध्यमवर्ग के बीच का संघर्ष अब अनिवार्य होता जा रहा था।

इंग्लैंड में पार्लमेंट का विकास होने पर वहां के जागरूक लोगों को सत्ता में शामिल किया गया और राजनैतिक चेतना की अभिव्यक्ति के लिए स्थानीय तथा राष्ट्रीय मंच भी वहां थे। यूरोप के अन्य देशों में प्रबुद्ध शासकों ने सुधारों का मरहम लगाया था। फ्रांस में इसके विपरीत घोर केंद्रीकरण था और इसके अतिरिक्त न तो किसी तरह की स्वतंत्रता थी न सत्ता में सहभागिता। इसलिए यह असंतोष अभिव्यक्त न होकर एक भूचाल की तैयारी में संगठित हो रहा था।

फ्रांस जैसी विषमता अन्य देशों में नहीं थी। विशेषाधिकार संपन्न सामंत और पादरी अपनी कुलीनता के नाम पर हर स्थान पर वरीयता प्राप्त करते थे और अन्य लोगों को असम्मानित करते थे। विशेषकर नगरों में मध्यमवर्ग पग-पग पर पार्टियों, थियेटरों या घर में असम्मानित महसूस करता था। सामाजिक विषमता घुटन पैदा करती है और

वह परिवर्तन की आकांक्षा उत्कट करती है। फागे ने कहा भी है कि फ्रांस की क्रांति जितनी राजतंत्र के विरुद्ध नहीं थी उतनी असमानता के विरुद्ध थी।

सबसे बड़ी बात तो यह थी कि मध्यमवर्ग क्रांति के लिए इच्छुक और तत्पर था। कोई अन्य वर्ग न इतना सक्षम था, न इतना तत्पर और न ही इतना संगठित। अठारहवीं शताब्दी के विचारकों की मदद से इस वर्ग ने स्थितियों का आकलन कर लिया था और वह परिवर्तन की संभावना के विषय में आश्वस्त हो गया था। वह अपनी लड़ाई में अपनी योग्यता तथा सामर्थ्य का भरपूर उपयोग करना चाहता था। क्लबों और बैठकों के माध्यम से उनके बीच विचारों का आदान-प्रदान भी होता था और उनका संकल्प तथा संगठन भी सुदृढ़ होता जा रहा था। सामंत वर्ग की जर्जरता और अपनी शक्ति से परिचित इस मध्यमवर्ग ने क्रांति का आह्वान और नेतृत्व किया तथा सबसे अधिक लाभ भी स्वयं उठाया।

जिस तरह फ्रांस के राजा में ही राज्य की समूची सत्ता केंद्रित थी, उसी तरह फ्रांस की राजधानी पेरिस में फ्रांस का केवल वैभव ही नहीं, योग्यता और चेतना भी केंद्रित थी। वह फ्रांस की बौद्धिक और सांस्कृतिक राजधानी भी थी। उसका प्रभाव सारे फ्रांस पर ही नहीं, यूरोप पर भी था। क्रांति के दौरान वहां से अनेक समाचार पत्र निकले और राजनीतिक पर्चेबाजी का तो कोई अंत नहीं था। समाचार पत्रों में मारा द्वारा संपादित 'फ्रेंड आफ दि पीपुल' सबसे उग्र था। 'मोनितर' में आजकल के पत्रों की भांति समाचारों और विभिन्न विषयों पर टिप्पणियां प्रकाशित होती थीं। राजतंत्रवादियों ने भी अपने पत्र के माध्यम से अपना पक्ष प्रस्तुत करना शुरू कर दिया था। कहावत यह थी कि 'पेरिस को छींक आते ही औरों को जुकाम हो जाता था।' ऐसे पेरिस में नई स्थितियों और नई चेतना का भी केंद्रीकरण हो रहा था। वेर्साई के राजधानी बन जाने के बाद पेरिस का महत्व कम हो गया और यह तनाव बढ़ाने में सहायक सिद्ध हुआ। वेर्साई भी दूर नहीं, मुंह चिढ़ाती कुछ मील दूर स्थित थी। इस तरह पेरिस की भूमिका क्रांति की पृष्ठभूमि और उसका प्रवाह बनाने में महत्वपूर्ण सिद्ध हुई। दूसरी ओर चारों तरफ असंतोष था और बुद्धिजीवी उद्वेलित थे। जहां बारूद और आग दोनों मौजूद है वहां आग क्यों नहीं लगती ?

यहां एक प्रश्न यह भी उठता है कि क्या क्रांति अनिवार्य थी ? विभिन्न इतिहासों का अध्ययन करने पर हम स्पष्ट देखते हैं कि यदि क्रांतिकारी परिस्थितियां किसी देश में हैं तो क्रांति अवश्य होगी। फ्रांस में क्रांति होना इस बात का सबूत है कि वहां क्रांति के लिए जमीन तैयार थी। इसलिए उसके न होने का प्रश्न ही नहीं उठता। हम परिकल्पना का सहारा लेकर सोच सकते हैं कि अमुक-अमुक कार्य हुए होते तो शायद क्रांति नहीं हुई होती। यदि लूई के पास रिशलिउ और कोल्बैर जैसा मंत्री होता तो स्थिति शायद बेहतर होती। लूई स्वयं दूरदर्शी और योग्य प्रशासक होता तो स्थितियों को संभाल सकता था। यदि उसने मिराबो का सुझाव स्वीकार किया होता और मौलिक सुधार करके क्रांतिकारियों को निरस्त कर दिया होता तो क्रांति टल सकती थी। लेकिन यह सब कैसे होता ? कोई भी व्यक्ति अपने और अपने वर्ग के चरित्र के अनुकूल ही तो व्यवहार करता है।

राजा की स्थिति तो डांवाडोल थी ही, इधर रानी भी भयाक्रांत थी और शुरू से ही देश छोड़ देने के पक्ष में थी। राजा एक-एक कर ऐसी बातें भी स्वीकारता जा रहा था जो उसकी समझ से बाहर थीं। उसकी दुविधा के कारण नए नियम-कानून ठीक से लागू नहीं हो पा रहे थे। ऐसी स्थिति में केवल मिराबो ही उसकी रक्षा कर सकता था।

मिराबो : मिराबो का एक सामंत परिवार में जन्म हुआ था, लेकिन उसके अध्ययन और अनुभव ने उसे तृतीय वर्ग का प्रतिनिधि बना दिया था। देखने में उसका व्यक्तित्व प्रभावशाली नहीं था लेकिन वास्तव में वह बहुत कुशल और दूरदर्शी था। स्थितियों को समझने की उसमें अद्भुत क्षमता थी। योग्यता के बावजूद उसे उचित प्रतिष्ठा नहीं मिली थी क्योंकि उसका चरित्र अविश्वसनीय था। वह बेहद खर्चीला था इसलिए धन के लिए गलत काम भी कर बैठता था। अपनी गैरजिम्मेदाराना हरकतों के लिए उसे सजा भी मिल चुकी थी, लेकिन उसके लिए बदल पाना असंभव था।

स्टेट्स जनरल के चुनाव में वह तृतीय वर्ग की ओर से चुना गया था। अपने वर्ग को सबसे सशक्त अभिव्यक्ति उसने उस समय दी जब प्रतिनिधियों को अपदस्थ करने आए राजा के कर्मचारियों से उसने कहा कि 'हम यहां जनता की इच्छा से हैं और हमें यहां से केवल संगीनें हटा सकती हैं।' एक अन्य अवसर पर जब उसे कुत्ता कहा गया तो उसने कहा था : 'ठीक है। मैं कुत्ता हूं। लेकिन मेरे काटने से राजतंत्र मर जाएगा।' इस तरह वह अपनी बातें कहने में पूर्णतः निर्भीक बना रहता था।

वह इंग्लैंड के संविधान का प्रशंसक था। वह चाहता था कि फ्रांस का राजा एक संविधान द्वारा नियंत्रित हो और फिर भी वह पूरी तरह शासन करे। उसके विचार से राजा को क्रांति का नेतृत्व करना चाहिए था। वह लूई को तैयार करना चाहता था कि लूई स्वयं आवश्यक परिवर्तन करे और भीड़ के प्रभाव से बचे। जब भीड़ का दबाव बढ़ने लगा तो उसने लूई को पेरिस छोड़कर किसी राजतंत्र समर्थक क्षेत्र में चले जाने के लिए कहा। उसका विश्लेषण सही था कि जनता बुराइयों के विरुद्ध है, राजा या राजतंत्र के विरुद्ध नहीं। राज परिवार की स्थिति बड़ी विडंबनापूर्ण थी। वह अपने को तृतीय वर्ग का प्रतिनिधि समझता था इसलिए सामंत उस पर अविश्वास करते थे और चूंकि मिराबो जन्म से सामंत था इसलिए तृतीय वर्ग उस पर पूरी तरह विश्वास नहीं कर पाता था। उसका चरित्र अविश्वास बढ़ाने में सहायक था। उसने राजा से गुप्त रूप से मिलने के प्रयास किए। यह बात लोगों को पता लग गई और उसे शंका की दृष्टि से देखा जाने लगा। धीरे धीरे नेतृत्व उसके हाथों से निकलता गया। जीवन के अंतिम दिनों में उसकी स्थिति दयनीय थी। वह कभी राजा को अपनी बात समझाने की कोशिश करता तो कभी एसेंबली को। घटनाओं का ज्वार उसके ऊपर से बहने लगा था। मरते समय वह हताश और लाचार हो गया था।

सिडनी स्मिथ के अनुसार, 'वह एक विद्यार्थी, भोगी, सैनिक, लेखक, कूटनीतिज्ञ, राजनेता, जनवादी, दरबारी, गद्दार, सब कुछ एक साथ था। उसके कार्यकाल में किसी व्यक्ति ने मिराबो की तुलना में न उतनी दुनिया देखी थी, न उतने कार्य किए थे, न उतने दुख भोगे थे, न उतना कुछ सीखा था और न उतना महसूस ही किया था।' मिराबो ने

कहा था कि 'वह अपने साथ फ्रांसीसी राजतंत्र की आशा की अंतिम किरणें भी लिए जा रहा है।' और यह सच था। राजा उसके सुझाव स्वीकार कर ही अपनी स्थिति और जान बचा सकता था। यह निर्विवाद है कि उस समय किसी व्यक्ति में उसके राजनेता का गुण नहीं था। उसकी मृत्यु के बाद फ्रांस का राजतंत्र लड़खड़ाता रहा।

चारों तरफ से निराश लूई पत्नी की बात मानने के लिए मजबूर हो गया और फ्रांस से भागने की तैयारी होने लगी। एक दिन रात को छद्मवेष में राजपरिवार कुछ परिचरों के साथ उत्तरी पूर्वी सीमांत की ओर भाग निकला। सीमा के दूसरी ओर यूरोप के अन्य राजपरिवारों की सहायता उसका इंतजार कर रही थी। वहां पहुंच जाने पर तो शायद लूई और उसके परिवार की रक्षा हो जाती। राजतंत्र का भविष्य भी तब शायद कुछ भिन्न होता, लेकिन एक साधारण किसान द्रूए को शंका हुई और उसने लोगों की मदद से लूई को रोक लिया। तब तक पेरिस में राजा के पलायन की खबर फैल चुकी थी। उसके महल पर यह लिखकर पट्टी टांग दी गई थी कि 'मकान खाली है'। शर्म से गड़े विश्वासघाती लूई को कैदी के रूप में पेरिस लाकर पहरे में रखा गया। स्थितियों पर फिर से विचार करना आवश्यक हो गया। जिस संविधान पर राजा ने स्वयं हस्ताक्षर किए थे उसकी अवहेलना कर वह स्वयं देश से भाग रहा था। अब वह संविधान किस काम का ? लेकिन अब हो क्या ?

व्यवस्थापिका सभा

नई चुनी गई व्यवस्थापिका में दो तरह के लोग थे। एक तो वे जो लाफाय्यत के नेतृत्व में क्रमिक सुधार चाहते थे। इनकी संख्या तो अधिक थी परंतु प्रभाव कम था। दूसरे वे लोग थे जो उग्र थे और प्रभावशाली होते जा रहे थे। इनमें भी कई गुट थे और ये सभी बड़ी-बड़ी बातें करने वाले गरम मस्तिष्क के लोग थे। इनमें दो प्रमुख थे—जैकोबैं और जिरोंदिस्त। सभा के सामने सबसे बड़ा सवाल यह था कि राजा ने पलायन कर संविधान का आधार ही ध्वस्त कर दिया था, अतः नए शासन का स्वरूप क्या हो ? इस तरह पहली बार फ्रांस में गणतंत्र की बातें सुनाई पड़ने लगीं।

क्रांतिकालीन युद्ध : इसी समय एक दूसरी स्थिति पैदा हो गई। फ्रांस एक युद्ध की ओर बढ़ता चला गया। युद्ध का यह सिलसिला क्रांतिकाल से शुरू हुआ, नेपोलियन के पतन तक चलता रहा और सारे यूरोप का इतिहास उससे प्रभावित होता चला गया। इस युद्ध के कारणों के विषय में कई मत हैं। कहा जाता है कि क्रांति के नेता यूरोप के राजाओं और अन्य क्रांतिविरोधी तत्वों से भयभीत थे। इसलिए युद्ध के माध्यम से अपनी शक्ति बढ़ाना चाहते थे। इसी माध्यम से उनका शक्तिप्रदर्शन भी हो सकता था। इसी के समानांतर यह भी कहा सकता है कि प्रतिक्रियावादी युद्ध के सहारे क्रांतिकारी फ्रांस को परास्त कर पुरातन व्यवस्था की पुनर्स्थापना करना चाहते थे। किंतु जिरोंदिस्त लोग युद्ध का इस्तेमाल अपने और क्रांति के हित में करना चाहते थे। युद्ध की स्थिति में राष्ट्रभक्ति के नाम पर वे सारे देश को भड़का सकते थे। उनके विचार से युद्धकाल में ही क्रांति के समर्थकों का

सही परिचय मिलता और क्रांतिविरोधी लोगों का दमन किया जा सकता था।

कुछ भी हो, युद्ध निकट आता गया। फ्रांस के पड़ोसी देशों के शासक वहां की घटनाओं से चिंतित थे। प्रशा का विलियम और आस्ट्रिया का लेओपोल्ड, पिलनित्स नामक नगर में एकत्र हो चुके थे। वे फ्रांस के आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप करने में हिचक रहे थे, पर उन्होंने लूई के प्रति सहानुभूति दिखाई थी। उनकी घोषणा ने स्पष्ट कर दिया था कि वे अन्य यूरोपीय शासकों के साथ फ्रांस में ऐसी सरकार स्थापित करने के लिए हस्तक्षेप कर सकते थे जो राजाओं के अधिकारों और फ्रांस के हित के अनुकूल हों। वे इस बात के लिए भी तैयार थे कि फ्रांस में जो कुछ हो रहा था उसका किसी भांति दमन कर दिया जाए। लेकिन वास्तव में यह मात्र एक धमकी ही थी। जब लूई ने संविधान को मान लिया था तो वे चुप हो गए थे, लेकिन जब पिलनित्स की घोषणा का पता चला कि आवश्यकता पड़ने पर विदेशी शासक भी लूई की मदद कर सकते हैं तो जिरोंदिस्त दल के लोगों ने युद्ध के पक्ष में आग उगलना शुरू कर दिया। वे कहने लगे कि फ्रांस की क्रांति फ्रांस की सीमाओं में नहीं बंध सकती। वे हर देश के पीड़ित एवं त्रस्त लोगों के मददगार हैं। लूई ऊपर से खामोश था, लेकिन मारी आंतुआनेत का षड्यंत्र जारी था। वह अपनी मुक्ति के लिए अपने भाई लेओपोल्ड और अन्य लोगों को उकसा रही थी। उधर जिरोंदिस्त प्रचार के कारण बेरोजगार लोग भारी संख्या में सेना में भर्ती हो रहे थे। सामंतों के भाग जाने के कारण सेना बिखर गई थी। नेतृत्व का अभाव था। लेकिन नई सेना में असीम उत्साह था। पेरिस की भीड़ का दबाव बढ़ता जा रहा था। एसेंबली में सत्ता का संघर्ष बढ़ जाने के कारण देश में अराजकता भी बढ़ रही थी। सब कुछ अनिश्चित हो चला था। इसी समय आस्ट्रिया और प्रशा की सेनाओं के सेनापति ब्रुंजविक के ड्यूक ने घोषणा की कि लूई को उसके अधिकार वापस दिए जाएं और विश्वासघातियों को समाप्त किया जाए। राज परिवार के साथ तनिक भी हिंसा हुई तो इसकी जिम्मेदारी फ्रांस के क्रांतिकारियों की होगी। उसने स्पष्ट कर दिया कि लूई के मित्र शासकों ने उसके अधिकार वापस दिलाने का निर्णय ले लिया है और यदि ऐसा नहीं हुआ तो पेरिस को विनाश के लिए तैयार रहना चाहिए।

इस घोषणा ने फ्रांस को झकझोर दिया। यह सरासर देश के आंतरिक मामले में हस्तक्षेप था। अमेरिकन यात्री मोरिस ने लिखा है कि 'यह तो क्रांतिकारियों के लिए मौत का निमंत्रण था।' जिरोंदिस्त दल का प्रभाव घट रहा था और युद्ध ही अंतिम अवसर था। इसी बीच सीमाओं पर तैनात सेना से लाफाय्यत भाग खड़ा हुआ और उसने राजा के पक्ष में विद्रोह कर दिया। अब युद्ध अनिवार्य हो गया। ब्रुंजविक फ्रांस की सीमाओं में प्रवेश कर चुका था। फ्रांसीसी सेना पराजित हो रही थी। फ्रांस का सेनाध्यक्ष द्यूमूरिये मन ही मन राजा का समर्थक था। वह जिरोंदिस्त दल से भी संबद्ध था। अंत में वह भी दुश्मनों से जा मिला।

इसके बावजूद फ्रांस में एक नया सैनिक जन्म ले रहा था। एक नया नेतृत्व और नया उत्साह उभर रहा था। इसी समय वकील मोरो, बैरा म्यूरा और कपड़े का व्यापारी जूर्दा सेना में शामिल हुए जिन्होंने बाद में असाधारण सेनापतियों के रूप में नेपोलियन के

समय ख्याति प्राप्त की। वाल्मी में दुश्मनों की फौज को रोक दिया गया और इतिहास ने एक नया मोड़ लिया। अब फ्रांस के आक्रामक होने की बारी थी। अधिवेशन की ओर से भी सभी देशों की जनता का आह्वान किया गया : हमने अपने देश से तानाशाहों को निकाल बाहर किया है। आप भी अपनी स्वतंत्रता की घोषणा कर दें। हम आपके साथ हैं।

इस बीच पेरिस में स्थिति बहुत बिगड़ गई थी। शंकाकुल वातावरण में पहली सितंबर को कुछ कैदी मार डाले गए थे। अपराधी पकड़े नहीं गए और हत्याओं का जोर बढ़ता ही चला गया। 'सितंबर हत्याकांड' नाम से कुख्यात घटनाएं कई दिनों तक चलती रहीं और सैकड़ों निर्दोष लोग मारे गए। यह आग प्रांतों में भी फैल रही थी। जैकोबें लोग इस अराजक स्थिति का लाभ उठाकर अपना प्रभाव बढ़ा रहे थे। कुछ लोग क्रांति के इस रूप से हताश और क्षुब्ध हो रहे थे। थूरिओ ने एसेंबली में कहा कि 'यदि क्रांति के लिए अपराध आवश्यक है तो मैं पहले छुरा अपने पेट में घोंपूंगा।'

इस अनिश्चितता के बीच की स्थितियों पर पुनर्विचार और अप्रासंगिक संविधान का नया प्रारूप ढूंढ़ने के लिए नेशनल कन्वेंशन के चुनाव हो रहे थे।

नेशनल कन्वेंशन

इतिहासकार हेज की यह बात सच है कि बहुत कम ऐसी प्रतिनिधि सभाएं होंगी जिन्हें इतनी जटिल समस्याओं का सामना करना पड़ा होगा जितना कि नेशनल कन्वेंशन को और कन्वेंशन ने बड़े अध्यवसाय से इनका समाधान ढूंढ़ा। इस कार्य में उसे काफी सफलता भी मिली।

कन्वेंशन की समस्याएं विविध थीं :

—राज्य का नया रूप क्या होगा ? संविधान का निर्माण कैसे हो, उसका स्वरूप क्या हो ?

—राजा ने विश्वासघात किया है। उसके साथ कैसा व्यवहार हो ? यदि सजा देनी हो तो कौन सी सजा दी जाए ?

—युद्ध का संचालन कैसे किया जाए ? देश और क्रांति की रक्षा किस प्रकार हो ?

—देश में व्याप्त अराजकता से कैसे निबटा जाए ?

—देश में कानून, व्यवस्था, स्थितियों में सुधार और नवनिर्माण के लिए क्या किया जाए ?

—क्रांति की उपलब्धियों को व्यावहारिक रूप कैसे दिया जाए ? आदि

इतनी ढेर सारी समस्याओं से जूझने के लिए जिस एकता और संगठन की आवश्यकता थी वह भी कन्वेंशन के सदस्यों में नहीं थी। इसका कारण यह था कि दोनों प्रमुख दलों के नेता एक दूसरे के दुश्मन हो रहे थे।

जिरोंदिस्त दल : इस दल का नाम फ्रांस के एक प्रांत जिरोंद के नाम पर पड़ा था। शुरू में इस दल के सदस्य क्षेत्रीयता के आधार पर मिला जुला करते थे। बाद में इनका संगठन बढ़ने लगा और इनके लक्ष्य तथा कार्यनीतियां स्पष्ट होने लगीं। इस दल के प्रमुख नेता

इस्नार, पेसिओं, वेरिन्यो, व्रिसो, रोलां और मादाम रोलां, कोंदोर्से तथा टामस पेन आदि मध्यमवर्ग के बुद्धिजीवी थे। ये लोग सुशिक्षित, संभ्रांत और भावनाप्रधान लोग थे। इनका ज्ञान किताबी था। प्रायः ये स्थितियों का यथार्थपरक विश्लेषण न कर पाने के कारण व्यावहारिक निर्णय नहीं ले पाते थे। वे युद्ध के पक्ष में आसमान सिर पर उठाए हुए थे। उनका ख्याल था कि युद्ध में ही वास्तविक देशभक्ति का पता चलेगा और राजा का चरित्र भी स्पष्ट हो जाएगा कि वह देश को नेतृत्व प्रदान करता है कि देशद्रोही सिद्ध होता है। इनका पेरिस पर विशेष प्रभाव नहीं था और विना पेरिस को साथ लिए शक्तिशाली रह पाना मुश्किल था। उन्होंने पेरिस के असाधारण महत्व की आलोचना की और कहा कि पेरिस फ्रांस नहीं है। उन्होंने पेरिस के म्युनिसिपल कम्यून को भंग कर देने और कन्वेंशन को किसी अन्य नगर का केंद्र बनाने का भी प्रस्ताव किया। जैकोबैं लोगों ने इस वात पर उन्हें आड़े हाथों लिया और उनपर देश को विभाजित करने का आरोप किया। प्रसिद्ध इतिहासकार साल्वेमिनी के अनुसार इनका व्यवहार नाटकीय होता था। शुरू में इनका प्रभाव वढ़ा था और इनके नेताओं को मंत्री बनने का भी अवसर मिला था। इनकी मुख्य प्रतिद्वंदिता जैकोबैं लोगों से थी जो इनकी तरह इन्हीं के लक्ष्यों के लिए कार्यरत और अधिक व्यावहारिक थे। पेरिस पर इन्हीं लोगों का कब्जा था।

नेताओं के उत्तेजनापूर्ण भाषणों से सारे देश में युद्ध का उन्माद फैल गया और तनाव वढ़ने लगा। उसे नियंत्रित रख पाने की क्षमता इन नेताओं में नहीं थी। अराजकता वढ़ती गई, और जैकोबैं लोग पेरिस पर अपने नियंत्रण के सहारे हावी होते गए। सत्ता हाथ में होने के वावजूद जिरोंदिस्त फ्रांस में शांति व्यवस्था कायम नहीं कर पा रहे थे। युद्ध में भी फ्रांस की स्थिति नाजुक थी। उनके अनुयायी सेनाध्यक्ष द्यूमूरिये ने विश्वासघात किया था। आदर्शवादी जिरोंदिस्त नेता इससे घवरा गए थे। इसी समय जैकोबैं नेताओं ने उन पर हर तरह से प्रहार करना शुरू किया।

पहले उन्हें बहस में गलत साबित किया गया, फिर हत्याओं का दौर शुरू हुआ। धीरे धीरे सभी प्रमुख नेता मार डाले गए या उन्हें भागना पड़ा। शासन तंत्र पर कब्जा कर लेने के वाद जैकोबैं नेताओं ने जिरोंदिस्त वर्ग के प्रमुख लोगों को मौत की मशीन 'गिओतीन' पर चढ़ा दिया। हाल ही में यह मशीन तैयार की गई थी। जव सुंदर, शालीन और प्रतिभाशाली मादाम रोलां को गिओतीन पर चढ़ाया गया तो कहा जाता है कि उसने कहा था: 'ओ स्वतंत्रता! तुम्हारे नाम पर कितने अपराध किए जाते हैं?' (ओ लिवर्टी! व्हाट क्राइम्स आर कमिटेड इन दाई नेम!) आज भी जव क्रांति के नाम पर अत्याचार होता है या क्रांति कहीं भटकती जाती है तो मादाम रोलां के ये शब्द प्रासंगिक हो उठते हैं।

इस तरह सत्ता की लड़ाई में अंततोगत्वा जिरोंदिस्त पराजित होकर नष्ट हो गए। उन्हें कुछ इतिहासकार 'अस्थिर भावुक' (सेंटिमेंटल सैंडवैग) कहते हैं तो कुछ उन्हें क्रांति के शहीद सिद्ध करते हैं। फ्रांसीसी कवि ला मारतिन ने इनकी बड़ी श्रद्धा से चर्चा की है।

जैकोबैं दल : सिद्धांततः वे लोग प्रतिद्वंद्वियों से बहुत भिन्न नहीं थे। नारमन हैंपसन के

अनुसार जिरोंदिस्त लोग जैकोवें लोगों को उग्रपंथी और तानाशाही के पक्षधर समझते थे और जैकोवें दल अपने प्रतिद्वंदियों को समझौतावादी मानता था। यह स्पष्ट है कि जैकोवें अपेक्षतया अधिक उग्र और संगठित थे। शुरू में ये जैकव चर्च में मिला करते थे और इसी आधार पर इनका यह नाम पड़ा था। फ्रांस के अधिकांश बुद्धिजीवी कभी न कभी इस दल से अवश्य संवद्ध थे। इसमें निम्न मध्यमवर्ग के लोगों और सड़कों पर जीवन यापन करने वाले दांतों जैसे लोगों का भी प्रभाव था। पहले ये राजतंत्र के विरुद्ध नहीं थे, लेकिन बाद में गणतंत्र का दृढ़ समर्थन करने लगे। इनके नेताओं में वहुत से प्रतिभाशाली किंतु मनोवैज्ञानिक रूप से अस्वस्थ प्रक्कृति के लोग थे। सैं जुस्त इसी तरह का उग्रपंथी था। मारा अपने समाचारपत्र 'फ्रेंड आफ पीपुल' के माध्यम से केवल विद्रोह भड़काया करता था। दांतों अपेक्षतया सुलझा हुआ व्यक्ति था और उसका पालनपोषण पेरिस की सड़कों पर हुआ था। उसकी दृष्टि में रोटी के बाद शिक्षा ही दूसरी महत्वपूर्ण वस्तु थी। काफी जीवट का व्यक्ति होने के साथ उसके हृदय का मानवीय पक्ष भी क्रियाशील था और इसीलिए जव हत्याओं का जोर वढ़ा तो वह इस ओर से निष्क्रिय हो गया; वाद में रोव्सपियर ने उसे अपने रास्ते से हटा दिया।

रोव्सपियर : जैकोवें नेताओं में रोव्सपियर सबसे अधिक प्रसिद्ध है। क्रांतिकाल में उससेअधिक कोई भी शक्तिशाली सिद्ध नहीं हुआ। वह आर्रा प्रांत का एक वकील था। स्वभाव से वह अंतर्मुखी और रूसो का अनन्य भक्त था। कहते हैं, वह 'सोशल कांट्रेक्ट' को वाइविल की तरह तकिए के नीचे रखकर सोता था। वह रूसो के संसार को फ्रांस में अक्षरशः उतार देना चाहता था। उसने अपनी प्रतिभा का सबसे पहला परिचय तव दिया जव उसने एसेंवली में युद्ध का जोरदार विरोध किया। उस समय उसका भाषण सुनकर सभी चकित रह गए थे।

धीरे धीरे वह जैकोवें दल का सर्वप्रधान नेता हो गया। जिसने भी उसके विचारों का विरोध किया उसे वह विरोध काफी महंगा पड़ा। हिंसक न होते हुए उसने हिंसा को प्रश्रय दिया। वह फ्रांस में सद्गुणों का गणतंत्र (रिपब्लिक वर्चू) स्थापित करना चाहता था। लेकिन उसकी दृष्टि में इसके लिए आतंक आवश्यक था। इसीलिए उसने एक प्रकार से आतंक का राज्य स्थापित किया। उसकी जटिल मानसिकता का परिचय इस वात से मिल सकता है कि उसने सर्वोच्च सत्ता की उपासना और इस अमूर्त सत्ता को मूर्त रूप देने के लिए एक ऐसी महिला को प्रतीक रूप चुना जिसका चरित्र ही संदिग्ध था। इससे उसकी काफी वदनामी हुई।

उसके विचार से एकमात्र वह स्वयं ही क्रांति को सही ढंग से समझ सकता था और क्रांति के लक्ष्यों की पूर्ति कर सकता था। इस दंभ (सेल्फ राइटसनेस) के कारण वह अतिशयवादी हो गया। अपने व्यक्तिगत जीवन में सरल, और भीड़ से कतराने वाला रोव्सपियर दिन-व-दिन तानाशाह होता गया। अंत में उसने न केवल जिरोंदिस्त नेताओं वल्कि अपने सहयोगियों—एवर और दांतों आदि को वेकार समझकर उनकी हत्याएं करवा दीं। आतंक के राज्य ने रोव्सपियर का लक्ष्य तो पूरा नहीं किया परंतु क्रांति के विरुद्ध एक प्रश्नचिह्न खड़ा कर दिया। एक स्थिति ऐसी भी आई कि सभी लोग इस

बात से सशंकित हो उठे कि किसी भी क्षण वे रोब्सपियर की शंका का शिकार होकर गिओतीन पर चढ़ाए जा सकते हैं। अंत में ऐसा भी दिन आया कि भीड़ ने रोब्सपियर पर हमला किया। वह भागकर भी बच नहीं सका और टाउनहाल में मार डाला गया। मृत रोब्सपियर को भी गिओतीन पर चढ़ाया गया। उसकी मौत के बाद वे ताकतें पुन: सिर उठाने लगीं जिनके विरुद्ध क्रांति हुई थी।

क्या रोब्सपियर एक रक्तपिपासु तानाशाह था? उसकी एक समकालीन तस्वीर उपलब्ध है जिस पर नीचे लिखा हुआ है 'जिसे भ्रष्ट न किया जा सके' (लैकोरप्तिब्ल) और यह सच है कि उसका व्यक्तिगत जीवन बहुत पाक-साफ था। लेकिन कुंठाग्रस्त होने और अपने ही विचारों की श्रेष्ठता में अतिशय विश्वास रखने के कारण वह अपने को मसीहा मान बैठा था। अपनी कल्पना साकार करने के लिए वह घृणित षड्यंत्रों और हत्याओं में हिस्सा लेता था तथा उसे सिद्धांत का जामा पहनाकर प्रस्तुत करता था। उसका प्रभुत्व इस बात का परिचायक है कि कोई भी क्रांति जब स्पष्ट लक्ष्य और कार्यक्रम लेकर नहीं चलती और उसका नेतृत्व संगठित नहीं होता तो ऐसे ही विकृत व्यक्तित्व पनपते हैं जो क्रांति को गलत रास्ते पर मोड़ देते हैं और देश को बड़ी कीमत चुकानी पड़ती है।

राजा के अपराध के संबंध में कन्वेंशन द्वारा गठित अदालत में निर्णय किया गया कि राजा को एक साधारण अपराधी मानकर मुकदमा चलाया जाए। अत्यंत तनावपूर्ण वातावरण में लूई को मौत की सजा देने का निर्णय किया गया। भारी भीड़ के सामने जब लूई को गिओतीन पर चढ़ाया गया तो वह भयभीत नहीं था। उसने धीरे से कहा था: 'मेरी मौत से मेरे देश में शांति और खुशहाली फैले।' उसकी मृत्यु इस बात का प्रमाण थी कि शासकों को केवल सरल और भले आदमी होने की वजह से ही क्षमा किया जा सकता। यदि वे वक्त की मांग नहीं पहचानते और अपनी जिम्मेदारी नहीं निभाते तो उन्हें इसकी कीमत चुकानी पड़ सकती है। कुछ दिनों के बाद ही मारी आंतुआनेत को भी गिओतीन पर चढ़ा दिया गया।

देश की अराजक स्थिति के लिए क्रांति के समर्थन या विरोध की मानसिकता, युद्ध का वातावरण, आर्थिक अनिश्चितता और जिरोंदिस्त तथा जैकाबें नेताओं की प्रतिद्वंदिता ही प्रधान कारणों में थे। जैसे जैसे सख्ती की जा रही थी वैसे वैसे स्थिति बिगड़ रही थी। सुरक्षा, व्यवस्था और प्रशासन के लिए पहले 9 से 12 सदस्यों की 'जन रक्षा समिति' की स्थापना की गई। इसके एक सदस्य ने घोषणा की: हमें राजाओं की निरंकुशता समाप्त करने के लिए स्वतंत्रता की निरंकुशता स्थापित करनी चाहिए। शांति और सुरक्षा के लिए 'सामान्य सुरक्षा समिति' तथा 'क्रांतिकारी न्यायाधिकरण' की स्थापना की गई। ऐसा कानून बनाया गया, जिसके आधार पर किसी को किसी समय भी गिरफ्तार किया जा सकता था। इसके अंतर्गत एक संदिग्ध व्यक्ति को सुबह गिरफ्तार किया जाता, दोपहर तक फैसला हो जाता और शाम होते होते चौराहे पर खड़ी भीड़ के सामने गिओ-तीन मशीन पर झट से उसका सिर धड़ से अलग कर दिया जाता। जैकोबें लोगों के

हाथों में सत्ता पुन: आने के बाद आतंक का राज्य स्थापित हो गया। इस दौर में हजारों लोग मारे गए। कोंदोर्से जैसा विचारक, लव्हासिए जैसा वैज्ञानिक और सैंकड़ों बुद्धिजीवी, वैज्ञानिक, विचारक, कलाकार, साहित्यकार—दूसरे शब्दों में उस समय के मानदंडों के अनुसार समाज का सर्वोत्तम बुद्धिजीवी वर्ग इस विक्षिप्तता का शिकार हो गया। यह तूफान जब रुका तो फ्रांस में प्रतिभा की दृष्टि से एक शून्य सा पैदा हो गया। नेपोलियन जैसे तानाशाह के उदय का यह भी एक प्रधान कारण था।

देश में शांति और व्यवस्था तो स्थापित नहीं हो पाई लेकिन युद्धक्षेत्र में फ्रांस को आशातीत सफलता मिली। इंग्लैंड के प्रयास से फ्रांस के विरुद्ध यूरोप के विभिन्न राज्यों ने एक सैनिक संघ बना लिया था। फ्रांस को एक मिली जुली शक्ति से मुकाबला करना था। कन्वेंशन ने कार्नो को युद्धमंत्री बनाया। यह व्यक्ति इतिहास के महानतम युद्धमंत्रियों में से एक साबित हुआ। उसने सारे देश में सैनिकों की आम भरती शुरू कर दी। देश के हर व्यक्ति के लिए कोई न कोई काम निर्धारित कर दिया। नौजवान सैनिक बन गए, औरतों को सिलाई, नर्सिंग और मशीनें चलाने का काम दिया गया। बच्चों को पट्टियां बनाने जैसे आसान काम दिए गए। बुजुर्गों से कहा गया वे चौराहों पर खड़े होकर देश-वासियों को युद्ध के लिए तैयार और प्रोत्साहित करें। इस प्रकार संपूर्ण देश एक सैनिक कैंप में बदल गया। धीरे धीरे उत्साही नवयुवकों की एक भारी सेना तैयार हो गई। इस नई सेना का स्वरूप, संगठन और प्रेरणा भिन्न थी। फ्रांसीसी सेना का सामंती स्वरूप समाप्त हो गया। उसमें मध्यमवर्गीय लोगों और उनके नेतृत्व की प्रधानता हो गई। पहली बार फ्रांस की सेना में साधारण किसान और कामगार भी भरती हो सकता था। नए तराने (मार्साइऐज) के रंग में रंगी यह नई सेना फ्रांस में हो रहे परिवर्तनों का वाहक बन गई। यह वही नई सेना थी जिसका बाद में नेपोलियन ने भरपूर इस्तेमाल किया और जिसकी पूरी क्षमता नेपोलियन की तमाम विजय के समय उजागर हो पाई। इस सेना ने न केवल दुश्मनों को देश के बाहर खदेड़ा बल्कि दूसरे देशों पर भी कब्जा जमाना शुरू कर दिया। कार्नो, जिसे युद्ध का संयोजक कहा जा रहा था, अब 'विजय संयोजक' कहलाने लगा।

कन्वेंशन के अन्य कार्य : इतनी अराजक स्थितियों के बीच भी कन्वेंशन ने कुछ स्थाई महत्व के कार्य किए। इसके नेता शिक्षा की महत्ता के बारे में विशेष जागरूक थे। दांते तो शिक्षा को रोटी के बाद जीवन की सबसे महत्वपूर्ण आवश्यकता समझता था। कन्वेंशन ने शिक्षा का पुनर्गठन किया। राष्ट्र की एकमात्र भाषा फ्रेंच घोषित की गई। एक राष्ट्रीय शिक्षानीति अपनाई गई जो थोड़े से परिवर्तनों के साथ आज भी फ्रांस की शिक्षा का आधार है। अब तक बहुत से कानून बने थे जिन्हें संगठित या संकलित नहीं किया गया था। कन्वेंशन ने यह काम पूरा किया। उपनिवेशों में अफ्रीकी लोगों को गुलाम बनाकर भेजने की नीति समाप्त करने के लिए गुलामी प्रथा समाप्त कर दी गई। ऋण न दे पाने के अपराध में जेल भेजने का कानून समाप्त हो गया। प्रथम पुत्र को ही उत्तराधिकार देने का कानून समाप्त हो गया। साहित्य और कला के प्रोत्साहन के लिए कई तरह की अकादमियां संगठित की गईं। नापतौल की विविधता समाप्त कर दी गई। दुनिया के

इतिहास में पहली बार दशमलव पद्धति लागू की गई जिसे आज अधिकांश देश स्वीकार करते जा रहे हैं। राष्ट्र का नया कैलेंडर गणतंत्र की स्थापना के दिन (22 सितंबर 1792) से बनाया गया। वर्ष को ऋतुओं के आधार पर बारह महीनों में बांटा गया और उनका नया नाम ब्रूमेयर, थर्मिडार आदि रखा गया। महीने को दस दस दिनों के तीन सप्ताहों (देकाद) में बांटा गया और रविवार के स्थान पर हर दसवां दिन (देकादी) छुट्टी का दिन घोषित हुआ। चर्च विरोधी नीति के कारण रविवार की प्रार्थना सभाएं समाप्त कर दी गईं और विवेक पर आधारित एक नया धर्म (रेलिजन आफ रीजन) शुरू हुआ। इसे ही बाद में रोब्सपियर ने 'सर्वोच्च सत्ता' की प्रतिष्ठा के रूप में स्थापित किया। ये सारे कार्य अस्थाई सिद्ध हुए। लेकिन इनकी उपलब्धि यह हुई कि धर्म को एक व्यक्तिगत चीज मान लिया गया जिसमें राज्य या किसी अन्य संस्था का हस्तक्षेप नहीं होना चाहिए। इस प्रकार फ्रांस धर्मनिरपेक्ष राज्य बनने की ओर अग्रसर हुआ।

आर्थिक मामलों में वामपंथी निर्णय किए गए। फ्रांस से भागे लोगों की संपत्ति जब्त कर ली गई। धनिक वर्ग को अपराधी माना गया। जब्त की गई संपत्ति पर राज्य का कब्जा हो गया, उसे खुले बाजार में लोगों के हाथ बेचा गया। बड़ी जायदादों का बंटवारा किया गया। किसी तरह के मुआवजे की नीति समाप्त कर दी गई। जैकोबें लोगों का मत था कि धनिकों ने सदियों से शोषण किया है और अब उनके भुगतने के दिन आ गए हैं। राज्य की वित्तीय समस्याओं के हल के लिए संपन्न लोगों से अनिवार्य ऋण लिया गया। वस्तुओं के मूल्य की अधिकतम सीमा निर्धारित कर दी गई। रोटी का दाम राज्य द्वारा नियंत्रित कर दिया गया। तब से सदियों तक यह नियंत्रण बना रहा है फ्रांस का शासक राष्ट्रपति करे या सम्राट। अगस्त 1978 में पहली बार फ्रांस के प्रधान मंत्री रेमोंबारे ने नियंत्रण समाप्त करने की घोषणा की है।

सामाजिक समानता के लिए आचार व्यवहार और वस्त्राभूषण के संबंध में भी नियम बनाए गए। भड़कीले लिबास पर रोक लगा दी गई और सादे वस्त्रों का चलन शुरू हुआ। देश के सभी लोगों को 'नागरिक' कहकर संबोधित किया जाने लगा। धर्म के संबंध में कन्वेंशन ने स्पष्ट घोषणा कर दी कि धर्म के मामलों में राज्य हस्तक्षेप नहीं करेगा और किसी भी धर्म की मदद नहीं करेगा। आम स्थानों पर धार्मिक प्रदर्शन नहीं होंगे। पादरी वर्ग को कोई मान्यता नहीं दी जाएगी और उनकी वेशभूषा भी असाधारण नहीं हो सकेगी। इतनी जटिल परिस्थितियों के बीच कन्वेंशन ने अपना प्राथमिक कार्य—संविधान का निर्माण भी संपन्न किया।

नए संविधान के अनुसार फ्रांस एक गणतंत्र घोषित किया गया। संविधान में व्यवस्थापिका के दो सदनों का प्रावधान हुआ 'पांच सौ सदस्यों की परिषद' और 'वरिष्ठ परिषद'। पहली सभा के सदस्यों की उम्र कम से कम तीस वर्ष होनी चाहिए थी। इसमें दूसरे सदन में ढाई सौ सदस्य होने थे और उनका विवाहित होना अनिवार्य था। इस सदन के सदस्यों की न्यूनतम उम्र चालीस वर्ष रखी गई। प्रस्ताव पहले सदन में रखे जा सकते थे लेकिन उन्हें पारित दूसरा सदन करता। कार्यपालिका का उत्तरदायित्व पांच सदस्यों के निदेशक मंडल को सौंपा गया। मंडल के सभी सदस्यों का महत्व बराबर था। हर

सदस्य बारी बारी से तीन महीने के लिए अध्यक्ष हुआ करता था। हर वर्ष एक सदस्य का कार्यकाल समाप्त होता था और नए सदस्य की नियुक्ति की जाती थी। संविधान में इस बात का भी प्रावधान किया गया कि आगामी व्यवस्थापिका में कन्वेंशन के दो तिहाई सदस्य अवश्य चुने जाएंगे।

इस नए संविधान की कुछ विशेषताएं थीं। इसमें क्रांति की अतिशयता के लिए युवा उत्साह को जिम्मेदार मानकर अनुभव को विशेष महत्व दिया गया। पहले संविधान में संविधान निर्माताओं को व्यवस्थापिका में चुने जाने पर निषेध था। इसी प्रकार रोब्सपियर जैसे लोगों की तानाशाही से बचने के लिए एक सामूहिक नेतृत्व की स्थापना की गई। एक ही व्यक्ति को प्रमुखता न देने के लिए डायरेक्टरी के हर सदस्य को बराबरी का दर्जा दिया गया। संक्षेप में यही कह सकते हैं कि नए संविधान में यह प्रयास किया गया कि पहले की स्थितियों की पुनरावृत्ति न हो और फ्रांस अतिशयवादी परिणामों से बचा रहे।

कन्वेंशन के कार्यों का मूल्यांकन करने पर स्पष्ट हो जाएगा कि जिस तरह प्रथम संविधान ने एक बूर्जुआ राजतंत्र की स्थापना की थी उसी तरह नेशनल कन्वेंशन ने बूर्जुआ गणतंत्र की स्थापना की।

तात्पर्य यह कि मध्यमवर्गीय हितों की प्रधानता बनी रही। कन्वेंशन काल में फैली अराजकता का भी यही कारण था कि सत्ता के संघर्ष ने उग्र रूप ले लिया था। समाज के विभिन्न तत्व अपनी अपनी शक्ति तौल रहे थे। अंततोगत्वा उसी तत्व की विजय हुई जो समाज की स्थितियों में उसी हद तक परिवर्तन चाहता था कि मध्यमवर्गीय हित सुरक्षित रह सकें और पूंजीवादी विकास की संभावना के अनुकूल स्थिति बनी रहे। इसलिए क्रांति के ऐसे परिवर्तन स्वीकार कर लिए गए जिन्होंने सामंती और एकतंत्रीय जकड़ समाप्त कर मध्यमवर्ग को अवसर दिया, सामंतों की संपत्ति उनके हाथों में आने दी, उन्हें सत्ता में सहभागी बनाया और समाज में ऐसे मूल्य स्थापित किए थे जिनसे उनकी प्रतिष्ठा हो सके। वे सब परिवर्तन स्वीकार्य थे जिनसे व्यवसाय से राज्य का नियंत्रण समाप्त हो और उसके निर्बाध विकास का अवसर मिले तथा निर्यात की सुविधाएं मिलें। लेकिन जहां आंदोलन के विस्तार की संभावना थी वहीं अंकुश लगा दिया गया; इससे मजदूरों तथा अन्य श्रमजीवी वर्गों में चेतना का विस्तार होने की संभावना थी। संपत्ति सामंतों के हाथ से निकलकर भी किसानों के हाथ नहीं, बल्कि धनिकों के पास चली गई। अधिकार दिए गए लेकिन मजदूरों को संगठित होने का अधिकार नहीं दिया गया। समानता की घोषणा के बावजूद मत देने का अधिकार उसे ही था जो प्रत्यक्ष कर देता हो और प्रत्यक्ष कर समाज का अपेक्षतया संपन्न वर्ग ही देता है। चुने जाने का अधिकार तो और भी अधिक संपन्न लोगों को ही था। इस प्रकार ऐसी व्यवस्था का सूत्रपात हुआ जो निर्णायकतौर पर पुरातन व्यवस्था की पराजय और नई मध्यवर्गीय व्यवस्था की जीत स्थापित करती थी।

निदेशक मंडल (डायरेक्टरी) 1795-1799 : रोब्सपियर की मृत्यु के बाद का काल प्रति क्रांति का काल कहलाता है। आतंक से ऊबकर और किसी तात्कालिक लाभ के अभाव में लोगों ने क्रांति विरोधी तत्वों का साथ देना शुरू कर दिया था। विशेष उत्साही

लोग पुराणों के यदुवंशियों की तरह आपस में ही लड़ मरे और शंका तथा आतंक के शिकार हो गए थे। बचे हुए लोग साधारण प्रतिभा के थे और हंगामों से दूर शांतिमय जीवन के पक्षपाती थे। नवगठित निदेशक मंडल में कार्नो के अतिरिक्त एक भी ऐसा व्यक्ति नहीं था जिसे प्रतिभाशाली कहा जा सके। इसके विपरीत बार्रा जैसे विलासी और साधारण योग्यता वाले लोगों की प्रमुखता थी। शासन का स्वरूप शिथिल पड़ता गया। पुराने तौर तरीके फिर से कायम होने लगे। भ्रष्टाचार बढ़ने लगा और जैसाकि, जां रोविके ने कहा है, 'फ्रांस में प्रशासन, न्याय और वित्त सब ठप पड़ गया।' ऐसी जड़ स्थिति में एक ऐसा व्यक्ति उभर रहा था जो धीरे धीरे फ्रांस की नियति बनता जा रहा था। उस व्यक्ति का नाम था नेपोलियन जिससे संबंधित घटनाओं का हम अगले अध्याय में विस्तार से अध्ययन करेंगे। यहां उनपर संक्षेप में विचार कर लेना पर्याप्त होगा। इंग्लैंड फ्रांस में अपने हितों के प्रतिद्वंद्वियों का विकास देख रहा था और यूरोप की शक्तियों को फिर से संगठित करने के सफल प्रयास कर रहा था। आस्ट्रिया अभी भी पराजित नहीं हुआ था और फ्रांस की पूर्वी तथा दक्षिणी पूर्वी सीमा आक्रांत थी। मंडल ने इंग्लैंड के विरुद्ध परोक्ष युद्ध शुरू कर दिया। एक अध्यादेश द्वारा फ्रांस से इंग्लैंड में निर्मित सामानों विशेषकर सूती अ।र ऊनी वस्त्र, लोहे के सामान, चीनी मिट्टी के बर्तन और बढ़िया चीनी आदि के आयात पर प्रतिबंध लगा दिया गया। बाद में नेपोलियन ने भी इसी तरह की व्यावसायिक युद्धनीति चलाई।

पेरिस में नेपोलियन का प्रभाव बढ़ रहा था। वह अपनी पत्नी जोसेफिन के जरिये बार्रा के संपर्क में आया। एक दिन उसे यह दायित्व सौंपा गया कि वह फ्रांस की दक्षिण पूर्वी सेना के सेनाध्यक्ष के रूप में आस्ट्रिया से लोहा ले। नेपोलियन ने अपने पहले ही अभियान में उत्तरी इटली में असाधारण प्रतिभा का परिचय दिया। जिस सेना के पास न खाने को था न पहनने को, न लड़ने को, वह विजयवाहिनी की तरह आगे बढ़ती गई और नेपोलियन ने आस्ट्रिया को कैम्पोफोर्मिओ की संधि करने पर मजबूर कर दिया। इस संधि से फ्रांस के हक में वह सीमा आ गई जिसके लिए लूई चौदहवां जीवन भर लड़ता रहा और अंत में असफल हो गया था।

विजेता नेपोलियन पर संपूर्ण फ्रांस की आंख लगी हुई थी। जिनके हाथ में सत्ता थी वे भयभीत थे। नेपोलियन ने भी अपनी योजनाओं के लिए इसे अभी उपयुक्त अवसर नहीं समझा। उसने इंग्लैंड पर परोक्ष रूप से प्रहार करने के लिए मिस्र पर आक्रमण करने का प्रस्ताव रखा। अनुमति मिल जाने पर वह अभूतपूर्व अभियान शुरू हुआ जिसमें प्रारंभिक सफलता के बाद अंत में नेपोलियन को परास्त होना पड़ा। अपनी सेना को मिस्र में ही छोड़कर नेपोलियन फ्रांस लौटा। परंतु स्थिति ऐसी थी कि पराजित नेपोलियन भी सबसे योग्य व्यक्ति समझा जा रहा था। स्थिति को अनुकूल समझकर नेपोलियन ने सत्ता पर अधिकार करने का षड्यंत्र शुरू किया और अंततोगत्वा उसे सफलता मिली। दस वर्षों के बाद क्रांति को दफन करके नेपोलियन अधिनायक बन बैठा।

क्रांति के प्रभाव और परिणाम: क्रांति की प्रारंभिक अवधि में सारे यूरोप के बुद्धिजीवी, युवक तथा अन्य लोग बहुत प्रभावित हुए। जर्मन दार्शनिक कांट ने इसे विवेक की विजय

कहा। क्लावस्टाक ने कहा कि यदि मेरे पास सौ स्वर होते तो मैं सभी स्वरों से स्वतंत्रता देवी का गुणगान करता। बास्तीय के पतन के बाद सेंट पीटर्सबर्ग की सड़कों पर विद्यार्थी हर्षविह्वल होकर नाचे। हेगेल जैसे विचारकों ने क्रांति की याद के पौधे रोपे। इंग्लैंड फ्रांस का पुराना प्रतिद्वंद्वी था। वह भी इस घटना से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सका और वहां के कवियों ने प्रशस्ति गीत लिखे। वर्ड्सवर्थ ने अभिभूत होकर अपने युवा और फ्रांसीसी न होने पर अफसोस प्रकट किया।

स्विटजरलैंड, सवाय, बेल्जियम, पोलैंड, स्वीडेन—जहां कहीं भी लोग असंतुष्ट थे, इस क्रांति को प्रेरणा का स्रोत मानने लगे। स्वतंत्रता और समानता के लिए हर देश में आग सुलगने लगी। मारा जब भी जनता की बात करता, उसका तात्पर्य यह होता कि मेहनतकश लोग—नगरों के मजदूर और गांवों के किसान हैं। उसने मध्यवर्ग की कटु भर्त्सना करनी शुरू कर दी। मारा ने पेरिस की गरीब जनता को आश्वस्त कर दिया था कि गरीब ही वास्तव में देशभक्त हैं। उन्होंने संपन्न मध्यवर्ग से उसी प्रकार घृणा करनी शुरू कर दी थी जिस प्रकार वे सामंतों से करते थे। वे स्वतंत्रता के नाम पर कुछ भी करने के लिए तैयार थे। जब सड़कों पर रहने वाले सर्वहारा लोगों का प्रदर्शन बढ़ने लगा तो मध्यवर्ग का आतंकित होना स्वाभाविक था। उग्रपंथियों के प्रभाव में सामान्य जनता यह समझने लगी थी कि व्यवस्थापिका में उसके प्रतिनिधि केवल संपन्न लोगों के हित में कार्यरत हैं। उन्हें गरीबों से कुछ नहीं लेना देना। जब नेशनल गार्ड का संगठन हुआ तब भी उन्होंने देखा कि उसका नेतृत्व सामंती सेनापति लाफाय्यत के हाथों में है और गार्ड एसेंबली की रक्षा का ही एक उपकरण है। इस प्रकार यह स्पष्ट था कि मध्यवर्ग और सामान्य वर्ग के हितों में भी द्वंद्व पैदा होता जा रहा था। मध्यवर्ग समझने लगा था कि क्रांति उसके हाथों से निकलती जा रही है, क्योंकि वह उनके हितों से दूर जा सकती है। दूसरी ओर सामान्य वर्ग मौजूदा स्थितियों से संतुष्ट नहीं था। यथास्थिति के समर्थकों पर भी प्रहार किया गया। हर देश के सत्ताधारियों ने अपने देश में क्रांति की संभावना पर गौर किया और उसके विरुद्ध प्रयास करने लगे। इसी विरोध ने उन्हें फ्रांस के विरुद्ध संगठित होने की प्रेरणा दी। क्रांति के विरोध में सबसे पहली आवाज उठाई इंग्लैंड के राजनेता और विचारक एडमंड बर्क ने। क्रांति के दो वर्षों के अंदर ही उसने एक पुस्तक लिखी—'फ्रांसीसी क्रांति पर कुछ विचार' (रिफ्लेक्शंस आन दि रिवोल्युशन इन फ्रांस) इस पुस्तक में उसने क्रांतिकारी परिवर्तनों की भर्त्सना और परंपरा की प्रशंसा की। उसने इंग्लैंड में हो रहे क्रमिक विकास को ही आदर्श बताया। राजा-रानी के अपमान की उसने निंदा की और कहा कि यही स्थिति बनी रही तो अराजकता तथा हिंसा बढ़ेगी। उसकी यह बात सच भी सिद्ध हुई। बर्क के विचारों का टामस पेन ने तर्कसंगत उत्तर दिया। यह स्पष्ट था कि सारे यूरोप में क्रांति के समर्थक और विरोधी दोनों थे, लेकिन क्रांति ज्यों ज्यों उग्र होती गई त्यों त्यों कुछ समर्थक भी इसके विरुद्ध होते गए।

धीरे धीरे प्रेरणा के रूप में ही नहीं, वास्तविक अर्थों में भी क्रांति दूसरे देशों में पहुंची। जहां जहां फ्रांसीसी सेनाएं पहुंचतीं वहां वहां वही व्यवस्था लागू कर दी जाती जो फ्रांस में थी। इसी तरह नेपोलियन ने भी क्रांति का संदेश दूर दूर तक प्रत्यक्ष-परोक्ष

रूप से पहुंचाया था। जब उसने अपने देश में उन सिद्धांतों का दमन कर दिया तब भी दूसरे देशों में वे जीवित रह गए।

यह निर्विवाद है कि क्रांति के बाद फ्रांस और परोक्ष रूप से यूरोप अब वह नहीं रह सका जो पहले था। पुरातन व्यवस्था का मूल रूप सामंती था। आर्थिक सामाजिक जीवन का सामंती चरित्र स्पष्ट था। क्रांति ने उसे ध्वस्त कर दिया। औद्योगिक क्रांति की पृष्ठ-भूमि में मध्यमवर्ग की ताकत बढ़ी हुई थी। उत्पादन के साधन बदल रहे थे। विनियम का स्वरूप परिवर्तित हो रहा था। क्रांति ने परिवर्तन की धारा को तेज कर दिया। जीवन का कोई भी क्षेत्र उससे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सका। यद्यपि नेपोलियन ने अपना अधिनायकत्व स्थापित किया पर वह भी क्रांति की सारी उपलब्धियों को नकार नहीं सका। जब फ्रांस आक्रामक हुआ तो फ्रांसीसी क्रांति से ही प्रेरणा लेकर अन्य देशों ने उससे लोहा लिया। यूरोप में क्रांति का एक सिलसिला चल पड़ा और विकास यात्रा की एक मंजिल लगभग पूरी हुई। बाद में 1830, 1848 और 1870 में फ्रांस तथा यूरोप के अन्य देशों में क्रांति की पुनरावृत्ति हुई। 1917 में रूस में और 1949 में चीन में क्रांतियां हुईं। मानव की मुक्तियात्रा अब भी निरंतर जारी है।

2

नेपोलियन : महान : क्रांतिहंता

फ्रांस के दक्षिण में भूमध्य सागर में कार्सिका टापू है। 'कार्सिका' इटली के राज्य जेनोआ के अधिकार में था। क्रांति के कुछ दिन पहले ही इस पर फ्रांस का अधिकार हुआ था। सांस्कृतिक दृष्टि से वह इटालियन क्षेत्र था। राजनीतिक रूप से भी वहां असंतोष था और एक वर्ग ने विद्रोह कर रखा था। उन्हीं विद्रोही लोगों का एक नेता पाओली फ्रांस के विरुद्ध निरंतर संघर्षरत था। पाओली के घर ही नेपोलियन 15 अगस्त 1769 को पैदा हुआ। यद्यपि उसके पालन पोषण की जिम्मेदारी उसकी मां लातीशिया पर थी, तथापि नेपोलियन बोनापार्ट अपने पिता से ही विशेष प्रभावित हुआ। भाई वहनों से भरे पूरे परिवार की आर्थिक स्थिति ठीक नहीं थी। कभी कभी वहुत कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था। नेपोलियन अन्य भाइयों और वहनों से अलग थलग प्राय: एकाकी जीवन व्यतीत करता था। उस समय उसके व्यक्तित्व में कुछ ऐसा नहीं था कि कोई यह कहता—'होनहार विरवान के होत चीकने पात।' वस एक चीज थी जो ध्यान आकर्षित करती थी। दुवला पतला और कमजोर, लड़कियों जैसा दीखने वाला, नेपोलियन अकेले जमीन पर रेखाएं खींचता रहता या किले वनाता-तोड़ता रहता था। पढ़ने में उसकी रुचि शुरू से ही थी। प्राय: वह भूगोल, इतिहास, गणित और महापुरुषों की जीवनियां पढ़ा करता था। वह जूलियस सीजर और सिकंदर से वहुत प्रभावित था।

जव फ्रांस ने कार्सिका के विद्रोहियों को समर्थक वनाने के लिए उन्हें रियायतें देनी शुरू कीं तो उसके जीवन पर भी इसका प्रभाव पड़ा। उसे ब्रियेन्न स्थित फ्रांस के सैनिक विद्यालय में पढ़ने के लिए छात्रवृत्ति मिल गई। उस विद्यालय में प्राय: सामंतों और धनिकों के लड़के पढ़ते थे। नेपोलियन वहां हीनभाव से ग्रस्त रहता था। औरों की अपेक्षा अपने सीमित साधनों को देखकर वह दुखी और निराश होता था। वह अपनी मां को ऐसे खत लिखता जिससे जीवन के प्रति उसकी निराशा दिखाई देती थी। यहां तक कि उसने आत्महत्या करने की भी सोची थी। विद्यालय में पढ़ते समय उसे नौसेना में रुचि हुई, परंतु उसे तोपखाने के लिए चुना गया और दुनिया के इतिहास में सुविख्यात महानतम जनरलों में से एक नेपोलियन स्थल सेना में भरती हो गया।

सेना में उसका प्रारंभिक जीवन साधारण था। क्रांति के प्रारंभिक दिनों में वह जैकोवैं विचारों का समर्थक हो गया। परंतु अराजकता वढ़ने लगी तो व्यवस्था और अनुशासन का हिमायती नेपोलियन क्षुब्ध रहने लगा। एक वार उसने पेरिस में राजमहल पर भीड़ के आक्रमण को स्वयं देखा और क्रोध में कहा—'कितना मूर्ख है लुई। तोप

चलाकर सौ पचास लोगों को भून दे तो सब शांत हो जाएगा।' यह सच भी था। लेकिन लूई में निर्णय लेने की क्षमता नहीं थी। नेपोलियन ने स्वयं समय आने पर यही किया और पेरिस पर नियंत्रण करने में सफल हुआ।

जिस समय राजा के समर्थन में फ्रांस के विभिन्न क्षेत्रों में क्रांतिविरोधी प्रदर्शन हो रहे थे और विदेशी शक्तियां, विशेषकर इंग्लैंड की, प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से विद्रोहियों की मदद कर रही थीं; नेपोलियन को अपनी योग्यता दिखाने का अवसर मिला। फ्रांस के दक्षिण में स्थित 'तूलों' बंदरगाह में भी अशांति थी। राजा के समर्थकों को दबाने की जिम्मेदारी नेपोलियन को सौंपी गई जो वहां कनिष्ठ अधिकारी था। उसने पहली ही बार तोपखाने का अद्भुत प्रयोग करके शीघ्र ही विद्रोह का दमन कर दिया। यह उसकी प्रारंभिक सफलता थी और जीवन भर उसने तोपखाने का अभूतपूर्व इस्तेमाल कर सफलता पाई।

इस सफलता के बाद उसे कार्नो के पास एक पत्र देकर भेजा गया। पत्र में लिखा था : मैं एक योग्य युवक भेज रहा हूं। उसकी उन्नति का ध्यान रखिएगा। यदि ऐसा नहीं भी हुआ तो वह स्वयं अपने को आगे बढ़ाने में समर्थ है। स्पष्ट था कि उसके संपर्क के लोग उसकी योग्यता और संभावनाओं से परिचित और आतंकित होने लगे थे।

कन्वेंशन के दिनों में वह पेरिस में घूमता रहा और भीड़ के व्यवहार से काफी क्षुब्ध था। एक बार जब भीड़ ने कन्वेंशन पर आक्रमण करना चाहा तो उसने वरिष्ठ अधिकारियों से कुछ पूछे बिना ही लोगों को भून डाला और भीड़ तितर बितर हो गई। अब उसकी तरक्की तेजी से होने लगी। उसे बड़े परिवारों और पार्टियों में निमंत्रित किया जाने लगा। इन पार्टियों में वह अपने को व्यवस्थित नहीं कर पाता। यहां के कुलीन और धनिक लोगों तथा फैशनपरस्त और उच्छृंखल औरतों के बीच वह कोने में खड़ा शून्य में निहारा करता। निम्न परिवार में जन्म लेने का संस्कार उसे जीवन भर ग्रस्त किए रहा। बाद में भी इन पार्टियों में सम्मिलित कुछ लोगों को दो चमकती आकर्षक आंखें हमेशा याद रहीं।

जब मंडल की शासन व्यवस्था लागू हुई तो उसे पेरिस के प्रशासन द्वारा लोगों को निरस्त्र कराने का भार सौंपा गया। उसने बड़ी योग्यता और शांतिपूर्वक लोगों से हथियार डलवाना शुरू किया। एक दिन एक दिलचस्प घटना हुई। उसके दफ्तर में एक छोटा सा लड़का भागता हुआ आया। उसके हाथ में एक बंदूक थी और उसके पीछे सिपाही दौड़े आ रहे थे। लड़के ने घुसते ही नेपोलियन से कहा कि वह अपनी पिता की बंदूक किसी को नहीं देगा। नेपोलियन इस साहसी बालक से बहुत प्रभावित हुआ और उसने उसे बंदूक के साथ ही लौट जाने दिया। दूसरे दिन वही बालक अपनी मां के साथ आया। मां ने धन्यवाद दिया और उसे दावत दी। दोनों की मित्रता बढ़ी और एक दिन यह जानकर सारा पेरिस अवाक रह गया कि जोसेफिन और नेपोलियन ने विवाह कर लिया है।

जोसेफिन बोआरनै का पति वेस्टइंडीज में सिल्क कपड़े का व्यापारी था और क्रांतिकाल में ही मारा गया था। विधवा जोसेफिन अपने लड़के इउजैन और लड़की आरतांज के

साथ पेरिस में रहती थी। जोसेफिन रूपवती नहीं थी लेकिन उसकी चाल ढाल और रहन सहन में गरिमा थी। वह जीवन से निराश नहीं हुई थी। सभा-समाजों में उसका आना जाना जारी था। पार्टियों में वह मनचले अधिकारियों और धनिकों के आकर्षण का केंद्र थी। निदेशक मंडल के भ्रष्ट सदस्य बार्रा से उसकी विशेष मित्रता थी। नेपोलियन से उम्र में बड़ी, दो बच्चों की मां, फैशनों की प्रेमी और खर्चीले स्वभाव की जोसेफिन तथा अभिजात्यविहीन गुमसुम रहने वाले नेपोलियन की क्या मित्रता ?

यह सच है कि दोनों में प्रेम था और मरते समय भी नेपोलियन की जबान पर तलाक होने के बावजूद जोसेफिन का ही नाम था, फिर भी यह विवाह सोच-समझकर परस्पर हितों के लिए किया गया था। जोसेफिन की उम्र बढ़ती जा रही थी। उसे पार्टियों में चाहे जितने लोग बुलाते रहे हों, उससे विवाह करने के लिए शायद ही कोई प्रभावशाली व्यक्ति तैयार था। इस महत्वाकांक्षी महिला ने अपने जीवन को समाप्त समझकर विधवा की तरह जीवन बिताना स्वीकार नहीं किया। नेपोलियन के जीवन में उसे अपने जीवन की सफलता दिखाई पड़ रही थी। दूसरी ओर नेपोलियन की उत्कट महत्वाकांक्षाओं को अभिजात्य वर्गों का बल चाहिए था। उसे उच्च लोगों में पहुंचने का कोई साधन चाहिए था। जोसेफिन जैसी प्रभावशाली महिला उसके जीवन में पूरक का कार्य कर सकती थी। अंत में यह सच साबित हो गया, क्योंकि विवाह के कुछ ही दिनों बाद नेपोलियन को इटली अभियान का सेनाध्यक्ष नियुक्त किया गया और उसके जीवन का उभार शुरू हो गया।

प्रथम इटालियन अभियान : जब नेपोलियन अपनी सेना का नेतृत्व करने पहुंचा तो युद्ध-कला में वह अनाड़ी और अनुभवहीन सेनापति था। सेना ने उसे गंभीरता से नहीं लिया। वह सेना किसी भी दृष्टि से संतोष प्रदान करने वाली नहीं थी और इसे विजय अभियान की ओर उन्मुख करना सरल नहीं था। छोटे कद का नेपोलियन एक तिकोनी लंबी टोपी लगाकर प्रायः घोड़े की पीठ से ही सेना को संबोधित करने और उसे अपने प्रभाव में लाने के लिए प्रयास करने लगा। उसने सैनिकों का आह्वान किया : 'सैनिक भूखे और अभाव-ग्रस्त हैं। पहाड़ों के उस पार इटली में दुनिया के सबसे उर्वर मैदान हैं और वहां सब कुछ है—सुख, सुविधा, कला के भंडार। वहां पहुंचने में ही कल्याण है।' युद्ध के दौरान स्वयं जोखिम उठाकर उसने रिवोली और आर्कोला के अविश्वसनीय युद्ध जीते। यह बात किसी कहानी जैसी प्रचलित होने लगी कि नेपोलियन अमर है। उसी समय उसने घोषित किया था कि 'उसके निज के शब्दकोश में असंभव शब्द ही नहीं है।'

इटली के राज्यों को जीतकर उसने वहां फ्रांस जैसा गणतंत्र स्थापित किया। युद्ध का खर्च उसने विजित प्रदेशों से निकालना शुरू किया। फ्रांस की जनता को बिना आर्थिक बोझ बर्दाश्त किए विजय का उपहार मिलने लगा। साथ ही कला प्रेमी फ्रांसीसी जनता के नाम वह इटली में सुरक्षित असाधारण कला संग्रहालयों से चुन चुनकर चित्र, मूर्तियां और अन्य कलात्मक उपहार भेजने लगा। उसकी हर विजय एक योजना के तहत होती और उसका खूब प्रचार किया जाता था। यद्यपि वह अब मनमाने ढंग से कार्य करने लगा

था, परंतु ये सारे कार्य फ्रांसीसी गणतंत्र के नाम ही होते थे। पोप के प्रदेशों को जीतने के बाद उसने उसके प्रति कोई सम्मान प्रदर्शित नहीं किया। उसने वैटिकन के राजप्रासादों से बहुमूल्य चित्र व मूर्तियां हटाकर फ्रांस भेज दीं और नए गणतंत्र से छह करोड़ फ्रांस भी हड़प लिया। धीरे धीरे वह आस्ट्रिया की राजधानी के पास पहुंच गया। वहां के शासक को हार मानकर संधि करनी पड़ी।

कैंपोफोर्मियो की संधि में उसने विलक्षण कूटनीतिक प्रतिभा का परिचय दिया। आस्ट्रिया ने अपने अधीन नीदरलैंड्स (आधुनिक वेल्जियम) फ्रांस को दे दिया। दक्षिण में लोम्बार्डी का प्रदेश भी फ्रांस को मिला। उसके बदले आस्ट्रिया को इटली के उत्तरपूर्व में स्थित वेनिस दे दिया गया। इटली में स्थापित गणतंत्रों (हेलवेटिक गणतंत्र, लिगूरिअन गणतंत्र, सिस अल्पान गणतंत्र, रोमन गणतंत्र और पार्थेनोपियन गणतंत्र) को आस्ट्रिया ने स्वीकार कर लिया। इस प्रकार एक ही अभियान में नेपोलियन ने वह कर दिखाया जो लूई चौदहवां जैसे शासक चार युद्धों या जीवनभर की लगन के बावजूद नहीं कर पाए थे। फ्रांस को राइन नदी के रूप में प्राकृतिक सीमा मिल गई। दूसरे, आस्ट्रिया की मध्य यूरोप में दिलचस्पी के कारण फ्रांस से उसकी प्रतिद्वंद्विता चलती रहती थी। उसे दक्षिण पूर्व में वेनिस की ओर उन्मुख करके उसने आस्ट्रिया को बाल्कन प्रायद्वीप की ओर मोड़ दिया जहां उसकी प्रतिद्वंद्विता रूस और तुर्की से हो सकती थी। उसके दिमाग में अपनी योजनाएं स्पष्ट थीं। वह मिलान में वाकायदा दरबार करता था। उसने वातचीत के दौरान कहा भी था: 'मैं यह सब क्या डायरेक्टरी के वकीलों के लिए कर रहा हूं? डायरेक्टरी एक बार मुझे बरखास्त करके तो देखे, उसे पता लग जाएगा कि वास्तव में शक्तिशाली कौन है। फ्रांसीसियों को स्वतंत्रता से कुछ नहीं लेना देना। उन्हें एक राज्याध्यक्ष चाहिए जो गरिमामंडित हो—उसके दर्शन, लफ्फाजी और आदर्शों को फ्रांस नहीं समझता।' इस तरह सैनिक, राजनीतिक और कूटनीतिक सफलता के बाद जब वह फ्रांस लौटा तो उसकी चर्चा घर-घर होने लगी थी। उसके जैसा प्रभाव किसी भी व्यक्ति का नहीं था। शासक तक आतंकित हो गए थे। उसे बस सही वक्त का इंतजार था।

मिस्र अभियान : नेपोलियन चाहता तो इसी समय सत्ता पर अधिकार करने की कोशिश कर सकता था। लेकिन वह स्थितियों को और पकने देना चाहता था। कैंपोफोर्मियो के समय उसने कहा था : 'फ्रांस के निदेशकों में एक भी नहीं है जो धन पाकर उसके जूते चूमने को तैयार न हो जाए।' पर वह अभी समय का इंतजार करना चाहता था। अब फ्रांस के विरुद्ध युद्ध में केवल इंग्लैंड वच गया था और इंग्लैंड से प्रत्यक्ष लड़ाई के लिए फ्रांस तैयार नहीं था। इंग्लैंड अपने पूर्वी उपनिवेशों, विशेषकर भारत से व्यापार के कारण ही समृद्ध था। इंग्लैंड के व्यापार को क्षति पहुंचाकर और उपनिवेशों से संबंध विच्छेद कराके उसकी पीठ में छुरा भोंका जा सकता था। उसने कहा था कि मिस्र में फ्रांसीसी सत्ता कायम हो जाने से भूमध्य सागर का उपयोग फ्रांसीसी झील जैसा किया जा सकेगा। मिस्र इंग्लैंड और भारत के मार्ग में स्थित है और इसके महत्व को देखते हुए उसने मिस्र के विजय की योजना प्रस्तुत की। वह दूर रहकर देश की आंतरिक स्थितियों को और अधिक बिगड़ने देना चाहता था। वह जानता था कि निकट भविष्य में फ्रांस को

यूरोप की शक्तियों से फिर निवटना पड़ेगा। यदि वह फ्रांसीसी सेना की सर्वोत्तम टुकड़ी के साथ मिस्र चला जाता है और फ्रांस खतरे में पकड़कर उसे वापस बुलाता है तो वह तत्काल देशरक्षक की हैसियत से ख्याति प्राप्त कर लेगा। दूसरी ओर निदेशक मंडल के सदस्य भी उसे दूर ही रखना चाहते थे। इसलिए मिस्र अभियान की योजना शीघ्र ही स्वीकार कर ली गई।

इतिहास में इस अभियान का महत्वपूर्ण स्थान है क्योंकि इसमें केवल 40 हजार सैनिक ही नहीं थे, 120 भूगर्भशास्त्री, पुरातत्ववेता, डाक्टर, इंजीनियर और इसी तरह विभिन्न विषयों के दक्ष और अधिकारी लोग भी शामिल थे। समुद्री क्षेत्र पर इंग्लैंड का एकछत्र राज्य था और उसके पास नेलसन जैसा नौसेना का प्रख्यात और कुशल कमांडर था, फिर भी नेपोलियन को मिस्र पहुंचने में सफलता मिली। वहां उसने विश्व के प्राचीनतम स्मारकों में से एक 'पिरामिडो' की छाया में अवूकर की लड़ाई लड़ी और मिस्र को पराजित किया।

इसके बाद वह महत्वपूर्ण अभियान शुरू हुआ जिसने ज्ञान की एक नई शाखा 'इजिप्टोलाजी' को जन्म दिया है। मिस्र के शिलालेख (ओवेलिस्क), वहां की वनस्पति, इतिहास, हर चीज का अध्ययन शुरू हुआ और एक अत्यंत पुरानी सभ्यता के विभिन्न पहलुओं पर पहली वार प्रकाश पड़ा। नेपोलियन के स्थाई महत्व के कार्यों में इस खोज-बीन की गणना की जाएगी। अभी यह काम पूरा भी नहीं हुआ था कि नेलसन मिस्र आ पहुंचा। उसने नील के युद्ध में फ्रांस के वेड़े को नष्ट कर दिया। इसी समय भारत के गवर्नर जनरल लार्ड वेलेजली ने सेना भेजी। नेपोलियन बुरी तरह घिरकर पराजित हो गया। यूरोप के शासकों में नेपोलियन की हार से खुशी की लहर दौड़ गई। सामंत नारियों के खुशी से आंसू निकल पड़े। लेडी हैमिल्टन ने तो ईश्वर से प्रार्थना की कि वे वहादुर नेलसन की रक्षा करें क्योंकि वही उनका उद्धारक और रक्षक है। पहले नेपोलियन ने सीरिया होते हुए भूमार्ग से यूरोप लौटने का प्रयास किया, लेकिन वीमारी और अंगरेजों द्वारा लगातार पीछा किए जाने के कारण उसकी सेना नष्ट होती रही और वह लाचार होता गया। अब तो यही चारा था कि या तो वह आत्मसमर्पण कर दे या फिर वहीं रेगिस्तान में गिरफ्तार हो अथवा लड़ते हुए मारा जाए। फिर भी वह हताश नहीं था। उसने एक विवादास्पद निर्णय लिया। अपने थोड़े से साथियों के साथ छोटे से जहाज में फ्रांस लौटने का फैसला किया। वचे हुए सैनिकों को उनके अपने भाग्य के भरोसे छोड़कर वह भाग निकला। फिशर ने व्यंग्यपूर्ण शब्दों में कहा है कि नेपोलियन का मिस्री अभियान बड़े धूमधाम के साथ शुरू हुआ था और उसका अंत इस प्रकार हुआ कि नेपोलियन को किसी षड्यंत्री भगोड़े की तरह भागना पड़ा।

नेपोलियन अपने को 'नियतिवान मनुष्य' (मैन आफ डेस्टिनी) कहा करता था। उसका यह दावा कुछ दिनों तक विश्वसनीय इसलिए बना रहा कि संयोग उसके पक्ष में था। इस वक्त भी संयोग से वह बच निकला। जब वह फ्रांस लौटा तो स्थिति बहुत खराब हो चुकी थी और किसी ने यह नहीं पूछा कि मिस्र के अभियान का क्या हुआ ? सब उसी की ओर आंख लगाए बैठे थे। निम्न कोटि के प्रशासकों ने फ्रांस को जड़ वना दिया था।

अव्यवस्था और भ्रष्टाचार अपनी चरम सीमा पर थे। नेपोलियन की विजय पर पानी फिर गया था। इंग्लैंड पुनः यूरोप के राज्यों को संगठित कर रहा था। लोगों को क्रांति से चिढ़ हो चली थी। नेपोलियन ने समझ लिया कि उपयुक्त समय आ गया है। उसने अपने साथ सहानुभूति रखने वालों को संगठित करना शुरू किया। प्रत्यक्ष रूप में उसने अपना विनम्र और शांतिवादी स्वरूप प्रस्तुत किया। विद्वानों की संगति में बैठकर वह मिस्र की खोजों पर बात करता। विभिन्न प्रकार से षड्यंत्रों की योजना बनाते हुए उसने आब्वे सीऐ, तालिरां और फूशे जैसे लोगों को मिला लिया।

नेपोलियन का भाई लूसिआं पांच सौ सदस्यों की परिषद का अध्यक्ष था। पेरिस से थोड़ी दूर सैंवलू के महल में सभा का अधिवेशन बुलाया गया। तीन प्रमुख निदेशकों से जबरदस्ती इस्तीफा ले लिया गया। शेष दो को नजरबंद कर दिया गया। महल के चारों ओर विश्वासपात्र सैनिक लगा दिए गए। जब नेपोलियन वहां भाषण देने पहुंचा तो उसने देखा कि सदस्यों ने उसका खुला स्वागत नहीं क़िया। जब उसने तत्कालीन सरकार की कटु आलोचना शुरू की तो कुछ सदस्यों ने उसका मकसद समझ लिया। वे चिल्लाने लगे कि 'हम तुम्हारा उद्देश्य जानते हैं।' 'तुम तानाशाह बनना चाहते हो।' जीवन में पहली बार नेपोलियन को गश आ गया। उसकी सारी योजना ध्वस्त होती प्रतीत हुई। लूसिआं ने स्थिति संभाली। वह नेपोलियन को पकड़कर पास के कमरे में ले गया। सिपाहियों ने गोलियां चलानी शुरू कर दीं और सदस्य ज़ान बचाने के लिए इधर उधर भाग खड़े हुए। कुछ विश्वस्त लोगों की सभा बुलाई गई। प्रस्ताव पेश हुआ कि संविधान में परिवर्तन आवश्यक है। सीऐ को नया संविधान बनाने का दायित्व सौंपा गया और 7 नवंबर 1799 को क्रांति के दस वर्षों के वाद सत्ता पर जवरदस्ती अधिकार कर लिया गया।

नया संविधान : नया संविधान नेपोलियन की योजना के अनुसार 'नीचे से विश्वास और ऊपर से सत्ता' नीति के क्रम में तैयार हुआ था। दूसरे शब्दों में यह जनता से विश्वास और अनुशासन की अपेक्षा रखता था क्योंकि सत्ता नेपोलियन के हाथों में केंद्रित थी। इस संविधान के अनुसार 30 वर्ष के लोगों को मताधिकार दिया गया। सभी मतदाता अपने क्षेत्र के दस प्रतिशत लोगों का निर्वाचन करते थे। इस प्रकार एक स्थानीय सामूहिक सूची तैयार होती थी जिसके प्रतिनिधि अपने जिले से अपने दस प्रतिशत लोगों को चुनकर डिपार्टमेंट की सूची तैयार करते थे। अंत में ये लोग पूरे देश के लिए अपने दशमांश को चुनकर राष्ट्रीय सूची बनाते थे। इस सूची से राष्ट्रीय पैमाने पर चुनाव होते थे। स्पष्ट था कि चुनाव का यह ढोंग मात्र था।

व्यवस्थापिका के लिए चार सदनों का प्रावधान किया गया : (i) काउंसिल आफ स्टेट, (ii) सिनेट, (iii) ट्रिब्यूनेट और (iv) लेजिसलेटिव वाडी। ये सदन नियुक्तियों और चुनाव की जटिलता से इस प्रकार जकड़े हुए थे कि वास्तव में इनका सदस्य वही हो सकता था जिसको नेपोलियन चाहे।

कार्यपालिका के लिए तीन सदस्यों की एक कोंसुला समिति का प्रावधान किया गया। इनमें एक को प्रथम कोंसुल और समिति का अध्यक्ष बनाया गया। यह पद दस वर्षों के लिए नेपोलियन को दे दिया गया। प्रथम कोंसुल यानी नेपोलियन के ही हाथ में

सारी सत्ता केंद्रित कर दी गई। अब नेपोलियन फ्रांस में सर्वशक्तिमान था। कोई पूछता कि संविधान में क्या है तो उसे उत्तर मिलता, 'नेपोलियन, नेपोलियन, नेपोलियन।' अब प्रजातंत्र का केवल एक मुखौटा बचा रह गया था और नेपोलियन उसे भी शीघ्र ही उतार फेंककर सम्राट बन बैठा।

संविधान घोषित होने के कुछ ही दिनों बाद उसने एक जनमत संग्रह करवाया। फ्रांस की जनता ने भारी बहुमत से (30 लाख पक्ष में और 1562 विपक्ष में) इस संविधान अर्थात नेपोलियन को स्वीकार कर लिया। इसका यह अर्थ नहीं था कि फ्रांस का बहुमत पूरी तरह उसके पक्ष में था। लेकिन समस्या यह थी कि जटिल प्रश्नों का उत्तर 'हां' या 'न' में कैसे दिया जाता। जिस जनता ने क्रांति करके प्रतिष्ठित बूर्बो वंश के लुई को मृत्यु-दंड दिया था उसी ने एक अज्ञात परिवार के तानाशाह को स्वीकार कर लिया।

नेपोलियन की सफलता के कारण : नेपोलियन की सफलता के कारणों को समझना इसलिए नहीं जरूरी है कि उससे किसी व्यक्ति के गुणों का मूल्यांकन हो सकता है। उसे इसलिए जानना चाहिए कि इतिहास धारा में घटनाओं और उनके महत्व का मूल्यांकन हो सके। तदनुपरांत ही यह जाना जा सकेगा कि कैसे एक प्रगतिशील आंदोलन भटककर प्रतिक्रियावादी शक्तियों को मजबूत बना देता है और क्रांति के गर्भ से तानाशाह जन्म ले लेता है। नेपोलियन की सफलता के कारण एक तरफ तत्कालीन स्थितियों में तो दूसरी ओर उसके अपने चरित्र में मिलेंगे।

फ्रांस में क्रांति इसलिए हुई थी कि वहां असंतोष था और परिवर्तन की उत्कट इच्छा थी। वहां एक ऐसा वर्ग था जो अपनी जरूरतों के लिए परिवर्तन करना चाहता था और स्थितियों को अपने अनुकूल पा रहा था। पुरातन व्यवस्था खोखली हो गई थी और आधुनिकता के तत्व उसे ध्वस्त कर एक आधुनिक तंत्र की स्थापना करना चाहते थे ताकि आर्थिक स्थितियों में जो परिवर्तन हुए उनका सही दिशा में विकास हो सके। परिवर्तन के वाहक मध्यवर्ग ने आम जनता की कठिनाइयों को भी सामने रखकर जनता का असंतोष उभारा था। लेकिन वस्तुतः वही परिवर्तन हुए जिनसे आम जनता को कोई लाभ नहीं हुआ। क्रांतिकारियों की चर्चविरोधी नीति ने जनता के धर्म में रूढ़िवादी विश्वास को चोट पहुंचाई थी। संपत्ति सामंतों के हाथ से निकलकर धनिकों के हाथ में चली गई थी। मत देने का अधिकार जनता को नहीं था। रोटी सस्ती नहीं हुई थी। क्रांति के अंतिम दिनों में कानून और व्यवस्था का कोई मतलब नहीं रह गया था। फिर क्रांति किसलिए? निदेशक मंडल के शासनकाल में तो स्थिति यह हो गई थी कि सब कुछ ठप्प पड़ गया था। पुरानी व्यवस्था ध्वस्त हो गई थी और नई निष्क्रिय थी। जां रोविके ने फ्रांस की तुलना एक घड़ी से की है। उसके अनुसार, पुरातन व्यवस्था में घड़ी खराब थी, देर से चलती थी, परंतु चलती तो थी। क्रांति ने तो उस घड़ी को ही तोड़ दिया।

इस तरह क्रांति विरोधी वातावरण में विकल्प का प्रश्न उठा। फ्रांस में स्थिरता, व्यवस्था और सम्मान की स्थापना कौन कर सकता था? लोगों का ध्यान नेपोलियन की

ओर आकर्षित हो रहा था। नेपोलियन कहता था : 'यदि मुझे पुरातन राजतंत्र और जैकोबें अव्यवस्था में से एक को चुनना हो तो मैं पुरातन राजतंत्र को ही चुनूंगा।' उसी की तरह फ्रांस के लोग भी अब अव्यवस्था से घृणा करने लगे थे। उसके चरित्र के इसी पक्ष की जर्मन कवि गेटे ने प्रशंसा की थी। अर्थतंत्र में वांछित विकास के लिए नियंत्रित व्यवस्था जरूरी थी।

नेपोलियन ने क्रांति की परिस्थितियों में भी अपनी योग्यता का परिचय दिया। उसे क्रांति पुत्र भी कहते हैं। प्रारंभिक दिनों में उसने क्रांति को स्वीकारा था और क्रांति के सेनापति के रूप में उसने न केवल फ्रांस के दुश्मनों को पराजित कर फ्रांस का सम्मान बढ़ाया, बल्कि फ्रांस की सीमाओं का विस्तार किया था, उसकी धाक जमाई थी और अपने विभिन्न कार्यों से फ्रांसीसी जनता का अहं तुष्ट किया था। जबसे उसने पेरिस में शांति स्थापित की, वह व्यवस्था और अनुशासन का प्रतीक समझा जाने लगा। जिस प्रकार उसने विभिन्न इटालियन प्रदेशों में एक सुनियोजित प्रशासन स्थापित किया था, उसे एक योग्य प्रशासक समझा जाने लगा था। उसने अपने बारे में स्वयं ही कुछ किंवदंतियों का अथवा रोचक कथाओं का नियोजन तथा प्रसारण किया था जिनके माध्यम से उसके व्यक्तित्व के चमत्कारिक पक्ष को विश्वसनीय ढंग से फैलाया जा रहा था। उसे अमर कहा जा रहा था क्योंकि वह बार बार जोखिम उठाकर भी बच जाता। वह अजेय समझा जा रहा था क्योंकि सीमित साधनों से भी उसने बड़ी बड़ी लड़ाइयां जीती थीं। उसे सभी स्वीकार करते थे, क्योंकि वह क्रांति की अतिशयता का विरोधी था। उसने क्रांति की उपलब्धियों को पूरी तरह नकारा भी नहीं। वह पुरातन व्यवस्था को पुनस्संगठित और क्रांति को सुनियोजित करना चाहता था। फ्रांस का सत्ताधारी मध्यम वर्ग क्रांति के माध्यम से अपने लक्ष्य पर पहुंचकर अब स्थिरता और स्थायित्व चाहता था और नेपोलियन यह दे सकता था। उसे एकमात्र विकल्प समझा जाने लगा था क्योंकि योग्य लोग क्रांतिकाल में ही समाप्त हो चुके थे और जो बचे थे वे भ्रष्ट तथा अयोग्य थे। ऐसे लोग स्थिति संभाल पाने में असमर्थ थे। वाल्टर स्काट के अनुसार धनिक वर्ग अपनी सुरक्षा की आशा में नेपोलियन के साथ हो गए थे। गरीब सहायता चाहते थे। भगोड़े फ्रांस लौटना चाहते थे। क्रांतिकारी इसलिए साथ थे कि उन्हें देश निकाला या अन्य सजा न मिले। साहसी लोग विजय की आशा से साथ थे और कायर स्वयं की रक्षा के लिए। स्वीडेन के राजदूत ने नेपोलियन द्वारा तख्ता पलटे जाने के बाद लिखा था : 'कुछ घृणित अराजकतावादियों को छोड़कर शेष लोग क्रांतिकालीन हिंसात्मक आतंक और मूर्खता से इतना ऊब गए हैं कि उनके लिए कोई भी परिवर्तन बेहतर ही होगा। राजतंत्रवादी नेपोलियन में पुरातन व्यवस्था के लौटने की आशा देखते हैं। तटस्थ लोग केवल इसी में शांति व्यवस्था की संभावना देखते हैं। प्रबुद्ध गणतंत्रवादी यद्यपि गणतंत्र के लिए इसमें खतरा महसूस करते हैं फिर भी वे षड्यंत्रकारियों की जमात की अपेक्षा एक योग्य व्यक्ति की सत्ता को बेहतर समझते हैं।' ऐसी स्थिति में नेपोलियन का प्रादुर्भाव और उत्थान स्थितियों की देन थी।

जिस तेजी से उसने स्थिति पर नियंत्रण किया और कुछ दिनों में फ्रांस कोयूरोप की

शक्ति और महिमा का केंद्र बना दिया, यह फ्रांस में उसकी सत्ता की अनिवार्यता के लिए पर्याप्त प्रमाण था।

बूर्बो परिवार के लोगों, विशेषकर लूई अठारहवें ने नेपोलियन को घूस देकर अपनी ओर कर लेना चाहा था। लेकिन नेपोलियन ने जवाब दिया था, 'आप अपने हितों को अपने देश की खुशी और शांति के लिए कृपया भूल जाएं।' धीरे धीरे नेपोलियन अपनी स्थिति दृढ़ करता गया और फ्रांस भी उसकी उपयोगिता के बारे में आश्वस्त होता गया। जिस समय उसके हाथ में सत्ता आई उस समय उसकी तमाम विजयों पर पानी फिर गया था और फ्रांस की सीमाएं आक्रांत थीं। वह जानता था कि सैनिक सफलता के कारण ही उसे स्वीकार किया गया है। उसने तत्काल ही अपनी योग्यता प्रदर्शित कर इस मान्यता को पुष्ट करना चाहा।

इटली का दूसरा अभियान : पहले से भी अधिक सुनियोजित ढंग से शुरू किया गया। आस्ट्रिया पर दोतरफा हमला हुआ। उत्तर और पश्चिमी दिशा से उसके सेनापतियों ने और दक्षिण पश्चिम से उसने स्वयं हमला किया। मोरेंगो और होहेनलिण्डेन की प्रसिद्ध लड़ाइयों में फ्रांस की सेनाओं को शानदार विजय मिली और आस्ट्रिया को फिर से संधि के लिए मजबूर होना पड़ा। ल्यूनविल की संधि एक प्रकार से कैंपोफोर्मियो की पुनरावृत्ति थी। फ्रांस का राइन की सीमा पर पुनः अधिकार हो गया। इटली के गणतंत्रों का नेपोलियन स्वयं राष्ट्रपति बन गया। रूस का जार फ्रांस के विरुद्ध बने गुट से अलग हो गया। स्वीडेन, डेनमार्क तथा प्रशा ने 'सशस्त्र तटस्थता' की नीति अपना ली। स्पेन ने फ्रांस से मित्रतापूर्ण संबंध शुरू किए। अमेरिका में लूसिआना का प्रदेश फ्रांस ने खरीद लिया। अब इंग्लैंड के अतिरिक्त फ्रांस का कोई शत्रु नहीं था। नेपोलियन ने आस्ट्रिया के सम्राट फ्रांसि से द्वितीय और इंग्लैंड के शासक जार्ज तृतीय को मैत्री की भावना से पत्र लिखा कि, 'दुनिया के प्रबुद्धतम राष्ट्रों में युद्ध का कोई औचित्य नहीं है। झूठी महानता के लिए व्यवसाय, आंतरिक शांति और समृद्धि के वरदान को हम क्यों बलि चढ़ाएं ? क्या यह स्पष्ट नहीं है कि शांति ही हमारी जरूरत और सर्वाधिक महान गरिमा है ?' यह सच है कि यह एक छद्म था फिर भी इसका परिणाम यह हुआ कि कुछ दिनों के लिए युद्ध टल गया। इंग्लैंड ने भी समझौते का रुख अपनाया। इंग्लैंड के कुछ राजनेता नेपोलियन के साथ समझौते की बात करने लगे।

बातचीत के बाद दोनों देशों के बीच आमियां की संधि हो गई। इंग्लैंड ने फ्रांस के गणतंत्र को मान्यता दे दी। क्रांतिकालीन युद्धों में फ्रांस से जीते हुए और सीलोन ट्रिनिडाड उपनिवेशों को इंग्लैंड ने वापस कर दिया। नेपोलियन ने भी इटली में पोप के विजित प्रदेशों को खाली कर दिया। लंदन की सड़कों पर पहली और अंतिम बार 'नेपोलियन जिंदाबाद' के नारे लगे। लेकिन यह स्पष्ट था कि यह संधि न होकर समझौते का भ्रम था। इंग्लैंड और फ्रांस दोनों ही एक दूसरे से निबटने के लिए समय चाहते थे।

नेपोलियन के सुधार

इसी समय नेपोलियन को तीन वर्षों का मौका मिला। वह युद्ध की तैयारी जरूर कर रहा था, परंतु वास्तव में फिलहाल उसकी तोपें खामोश थीं। इस अवधि में उसने विभिन्न सुधारों और स्थाई कार्यों का क्रम शुरू किया जो उसके शासन के अंत तक, युद्धों के दौरान भी चलते रहे।

कोंकोर्दा—नेपोलियन और पोप : फ्रांस की अधिकांश जनता अब भी रूढ़िवादी और कैथोलिक थी। फ्रांस में क्रांतिविरोधी मानसिकता तैयार करने में क्रांतिकारियों के पोप विरोधी विचारों की भी भूमिका थी। नेपोलियन ने स्वयं अपने इटली अभियानों के दौरान न केवल पोप द्वारा शासित प्रदेशों को जीता, बल्कि पोप की अवहेलना भी की थी। लेकिन अपने शासन के प्रारंभ में, जबकि वह सारे फ्रांस को आश्वस्त करना चाहता था, उसने पोप से एक तरह का समझौता करना जरूरी समझा। पोप भी फ्रांस जैसे महत्वपूर्ण देश को अपने प्रभावक्षेत्र से अलग नहीं रखना चाहता था। इस प्रकार यह संबंध सुधारने की पृष्ठभूमि थी। वार्ता शुरू हुई और 1801 में एक धार्मिक समझौता हो गया जिसे कोंकोर्दा कहते हैं।

इस समझौते के अनुसार कैथोलिक धर्म को फ्रांस के बहुमत का धर्म मान लिया गया। पोप ने चाहा था कि फ्रांस का राष्ट्रधर्म 'कैथोलिक' घोषित किया जाए, लेकिन नेपोलियन ने इसे स्वीकार नहीं किया। चर्च के अधिकारियों की नियुक्ति का अधिकार प्रथम कोंसुल को मिला। पोप को मात्र औपचारिक स्वीकृति का अधिकार मिला। चर्च को राज्य से स्वतंत्र नहीं, बल्कि राज्य के नियमों के अंतर्गत माना गया। चर्च के अधिकारी राज्य के कर्मचारी मान लिए गए। पादरियों के 'सिविल कांस्टीट्यूशन' (नागरिक संविधान) को, पोप ने पहले स्वीकार नहीं किया था, परंतु इस बार परोक्ष रूप से ही सही, स्वीकार लिया। क्रांतिकाल में हड़पी गई चर्च की संपत्ति वापस नहीं की गई। इसके बदले राज्य ने चर्च के अधिकारियों को वेतन देना स्वीकार किया। शिक्षा संस्थाओं पर चर्च के प्रभाव के अतिरिक्त उनका अधिकार भी था। अब शिक्षा संस्थाएं राजकीय संस्थाएं हो गईं और चर्च से उनका संबंध नहीं रहा। गिरफ्तार पदारियों को इस शर्त पर छोड़ दिया गया, कि वे नए संविधान का विरोध नहीं करेंगे। नए कैलेंडर में इतवार का, महत्व समाप्त हो गया था यह पूजा का दिन था। अब 14 जुलाई के पर्व को छोड़कर क्रांतिकारी कैलेंडर के स्थान पर वही पुराना कैलेंडर लागू हो गया।

इन शर्तों से यह स्पष्ट था कि नेपोलियन ने बिना कोई रियायत किए ही पोप से वे सारी बातें स्वीकार करा लीं जिन्हें क्रांतिकारी चाहते थे और जिनके कारण पोप ने उग्रविरोध किया था। इस घोषणा का कोई मतलब नहीं था कि फ्रांस के बहुमत का धर्म कैथोलिक है। फ्रांस का बहुमत इससे संतुष्ट नहीं था और उग्र लोग इसलिए नाराज थे कि नेपोलियन ने उनकी आशाओं पर पानी फेर दिया था। कैथोलिक इसलिए नाराज थे कि प्राचीन व्यवस्था के संबंध लागू नहीं किए गए थे। क्रांति ने चर्च की मध्ययुगीन व्यवस्था—जागीरें, सामंती अधिकार, दशमांश, भिक्षु-भिक्षुणियां, धार्मिक न्यायालय,

धार्मिक एकाधिकार, अविश्वास रखने वालों को सजा देने का अधिकार—आदि को ध्वस्त कर दिया। नेपोलियन इन्हें पुनर्स्थापित करने के लिए तैयार नहीं था और उसने ऐसा किया भी नहीं। जां रोविके के अनुसार फ्रांस में कई स्थानों पर इस समझौते की प्रतियां जलाकर विरोध प्रकट किया गया।

लेकिन नेपोलियन धर्म को राज्य के हाथों में एक उपकरण मात्र समझता था जिसका वह राज्य की आवश्यकतानुसार उपयोग करता। इस समझौते से नेपोलियन के इस दृष्टिकोण पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। उसके मन में पोप के प्रति कोई सम्मान नहीं था और कितनी ही बार उसे जानबूझकर अपमानित भी किया था। 1804 में जब नेपोलियन ने गणतंत्र का मुखौटा उतार फेंका और जनमत संग्रह के बाद फ्रांस का सम्राट बन गया तो अपनी शक्ति और गरिमा के प्रदर्शन के लिए उसने फ्रांस के महिमामंडित चर्च नोत्र-दाम में राज्याभिषेक की तैयारी की। पेरिस को दुल्हन की तरह सजाया गया। संपूर्ण यूरोप के शासक और विशिष्ट लोग इसमें हिस्सा लेने पेरिस पहुंचे। पोप स्वयं अपने हाथों नेपोलियन का राज्याभिषेक करने पेरिस आया। नेपोलियन भी विश्व के तमाम ताना-शाहों की भांति अंधविश्वासी था। उसे विश्वास था कि 2 दिसंबर उसके लिए शुभ तिथि है। उसी दिन नोत्रदाम में सर्वाधिक महत्वपूर्ण धार्मिक अनुष्ठानों के बाद जब पोप ने फ्रांस का परंपरागत राजमुकुट नेपोलियन के सिर पर रखना चाहा तो नेपोलियन ने मुकुट पोप के हाथ से लेकर स्वयं अपने हाथों पहन लिया। सारी सभा स्तब्ध रह गई। सबके सामने पोप के इतने बड़े अपमान की कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। कहते हैं कि नेपोलियन ने उस समय बुदबुदाकर कहा था कि 'मैंने फ्रांस का राजमुकुट धूल में पड़ा हुआ पाया है। अपनी तलवार की ताकत से जब मैंने मुकुट उठाया है तो उसे पहनाने का श्रेय दूसरे को क्यों दूं।' यदि उसने यह न भी कहा हो तो भी नेपोलियन का दंभ कुंठाग्रस्त था और सम्मानित लोगों को बेइज्जत करने में उसे तृप्ति होती थी। पोप और धर्मपरायण जनता ने नेपोलियन को इसके लिए कभी माफ नहीं किया।

बाद में जब नेपोलियन ने इंग्लैंड के विरुद्ध व्यावसायिक युद्ध शुरू किया तो पोप ने पूरा सहयोग नहीं किया। पोप के अधीन राज्य जीतकर उसे बंदी तक बना लिया गया। इन सब चीजों का नेपोलियन के पतन में उतना ही महत्व है जितना कि स्वयं नेपोलियन का।

नेपोलियन की कानून संहिता

नागरिक कानूनों का संकलन नेपोलियन का सबसे स्थाई कार्य सिद्ध हुआ है। आज भी फ्रांस में एकमात्र मान्य विवाह पद्धति 'सिविल मैरिज' के समय वर-वधू को नेपोलियन की संहिता की धाराओं के अंतर्गत शपथ लेनी पड़ती है। नेपोलियन ने स्वयं भी कहा था, 'मेरी जो वस्तु कभी विस्मृत नहीं की जा सकेगी वह मेरी चालीस युद्धों में विजय नहीं बल्कि कानून संहिता है' हालांकि नेपोलियन को उसके सिविल कोड के लिए ही याद किया जाता है कुल मिलाकर पांच तरह के कानूनों का संकलन हुआ :

1. सिविल कोड (नागरिक संहिता)

2. कोड आफ सिविल प्रोसीजर (नागरिक प्रक्रिया की संहिता)
3. पेनल कोड (फौजदारी कानून)
4. कोड आफ क्रिमिनल प्रोसीजर (अपराधमूलक प्रक्रिया की संहिता)
5. कार्मशियल कोड (व्यवसाय संबंधी कानून)

इन कानूनों को तीन स्रोतों से ग्रहण किया गया : फ्रांस के परंपरागत कानून, रोमन कानून और क्रांति के अनुभव। यहां हम नागरिक कानून के ही प्रमुख पक्षों का अध्ययन करेंगे।

क्रांति के समय कानून के लिए सबकी समानता के सिद्धांत को कानून का स्वरूप दे दिया गया था। इस तरह विशेषाधिकार और सामंती नियम समाप्त हो गए थे। बड़े पुत्र को संपत्ति का उत्तराधिकारी मानने का कानून समाप्त कर सभी पुत्रों को बराबरी का अधिकार दिया गया। विवाह को एक पवित्र और साधारण स्थितियों में स्थाई संबंध माना गया। धार्मिक सहिष्णुता का सिद्धांत स्वीकार कर चिर प्रताड़ित यहूदियों को भी इतिहास में बराबरी का दर्जा दिया गया।

नागरिक कानूनों पर नेपोलियन के व्यक्तिगत विचारों का ही नहीं, उसकी पारिवारिक स्थितियों का भी प्रभाव था। नेपोलियन के पूर्वाग्रहों से देश का कानून एक व्यक्ति के हितों को ध्यान में रखकर निर्धारित था और पुरुषों को परिवार में अधिक अधिकार दिया गया था। इस संहिता की इसलिए भी आलोचना की जाती है कि ये अत्यंत संक्षिप्त थे और व्याख्या के समय इनके अर्थ का अनर्थ भी हो सकता था। इस कोड के निर्माण में नेपोलियन ने व्यक्तिगत रूप से बहुत रुचि ली थी। वह स्वयं समिति की अधिकांश बैठकों में उपस्थित रहता था और परिश्रम करता था। यह सच है कि यह संहिता एक विशेष हित को ध्यान में रखकर बनाई गई थी, लेकिन इसने देश के कानून को एकरूपता प्रदान की और व्यावहारिक रूप से न्याय व्यवस्था को अपेक्षतया आसान बनाया। जहां जहां नेपोलियन की सेनाएं गईं, यह कोड लागू किया गया और नेपोलियन की पराजय के बाद भी अधिकांश यूरोप में यह क्रियान्वित किया गया। इसकी लोकप्रियता का सबसे बड़ा प्रमाण यही है कि यूरोप के बाहर भी इसे लागू किया गया। यह संहिता आज भी कई देशों के कानून का आधार है। नेपोलियन के विषय में यह कहा जाता है कि उसने प्राचीन व्यवस्था और क्रांति का समन्वय किया। इसका प्रामाणिक परिचय इस संहिता में ही सबसे अधिक परिलक्षित होता है। हां, उसने पुराने कानूनों के साथ साथ क्रांतिकालीन कानूनों और अनुभवों का भी समन्वय किया। इसीलिए अमेरिकी इतिहासकार ब्रून का मत है कि ये कोड क्रांति का सारांश है। जब हम नेपोलियन को दूसरा जस्टीनियन कहते हैं तो इसका तात्पर्य बस इतना है कि जो काम उसके पहले जस्टीनियन ने किया था वही कार्य नेपोलियन ने अपने समय में किया।

प्रशासन : क्रांति के समय प्रशासन का मुख्य आधार था स्थानीय स्वायत्तता और चुनाव। ये दोनों ही बातें नेपोलियन के विचारों के विपरीत थीं। उसने इन्हें समाप्त कर दिया। उसने देश के प्रशासकीय विभाजन को अपने पूर्ववर्ती क्रम में ही रहने दिया, लेकिन सुगठित और केंद्रीकृत शासन के लिए अधिकारियों की नियुक्ति और कार्यविधि

का स्वरूप बदल दिया। अब हर विभाग में राजधानी से नियुक्त और नियंत्रित प्रशासनाधिकारी (प्रिफेक्ट) और उसके नायब नियुक्त होने लगे। नगरों और कम्यून के मेयर भी केंद्र से नियुक्त हुए और प्रशासन पुनः पुरातन व्यवस्था के केंद्रीकरण के आधार पर व्यवस्थित होना शुरू हुआ। इस प्रशासन की आधारशिला वे अधिकारी थे जो ब्रिटिश भारत के आई० सी० एस० अधिकारियों की भांति शासन के लिए इस्पात का ढांचा प्रस्तुत करते थे। प्रशासन का यह स्वरूप थोड़े बहुत परिवर्तनों के साथ आज भी मौजूद है। फ्रांस में द गाल के प्रादुर्भाव के पहले राजनीतिक अनिश्चितता बराबर बनी रही थी लेकिन प्रशासन कुशल नौकरशाही (ब्यूरोक्रेसी) चलाती थी। इस नौकरशाही का सूत्रपात नेपोलियन ने ही किया था।

सारी सत्ता पहले प्रथम कोंसुल और बाद में सम्राट के रूप में उसी के हाथ में थी। वही सारे निर्णय लेता था। मंत्री उसके आज्ञाकारी सेवक होते थे। व्यवस्थापिका के विभिन्न सदनों में उसके आदमी होते थे जो उसकी आज्ञाओं पर स्वीकृति की मुहर लगाने के लिए मजबूर थे।

वह कहा करता था कि 'फ्रांसीसी जनता स्वतंत्रता नहीं समानता चाहती है।' इसी लिए समानता के मार्ग में उसने कोई रुकावट नहीं डाली और समानता के लिए किए गए क्रांतिमूलक कार्यों को प्रायः स्वीकार कर लिया; लेकिन तनिक भी ढील नहीं दी। समाचारपत्रों पर कितना नियंत्रण था यह इसी बात से स्पष्ट हो जाता है कि उसकी ट्रेफेलगर के युद्ध में हुई भयंकर निर्णायक पराजय का पता लोगों को दस वर्ष बाद उसका पतन होने पर ही लगा था। उसने अपना गृहमंत्री षड्यंत्रकारी फूशे को नियुक्त किया था। जब तक वह नेपोलियन का पक्षधर था, उसने जासूसों और नियंत्रणों का जाल बिछाकर नेपोलियन के तंत्र को शक्तिशाली बनाए रखा; लेकिन नेपोलियन का पतन अवश्यंभावी देखकर वह भी उसके विरुद्ध षड्यंत्र करने लगा था।

शिक्षा : प्राचीन काल से ही यूरोप में शिक्षा व्यवस्था चर्च की गुलाम थी। किसी समाज की मानसिकता को अनुकूल बनाए रखने के लिए हर व्यवस्था शिक्षा पद्धति और उसके स्वरूप को अपने अनुकूल बनाए रखती है। पुनर्जागरण के बाद जेसूट नाम के कट्टर कैथोलिक पादरियों ने शिक्षा पर अपनी पकड़ मजबूत कर दी थी। फ्रांस के क्रांतिकारियों ने पुरानी पद्धति बदल कर नई शिक्षा नीति की शुरुआत की थी। लेकिन तत्कालीन अव्यवस्था में समुचित संगठन नहीं हो पाया था। नेपोलियन के लिए इसे बदल देना जरूरी था, क्योंकि उसे ऐसे नागरिक चाहिए थे जो स्वयं नेपोलियन और उसके तंत्र के प्रति विश्वास रखें।

शिक्षा के राष्ट्रीय और धर्म निरपेक्ष स्वरूप को स्वीकार करते हुए उसने शिक्षा को तीन स्तरों—प्राथमिक, माध्यमिक और उच्च, पर संगठित किया। प्राथमिक स्तर से ही अनुशासन और सैनिक शिक्षा को विशेष महत्व दिया गया। सूत्रों और प्रश्नोत्तरों के आधार पर नेपोलियन के प्रति आस्था और भक्ति कूट कूट कर भरने की कोशिश की जाने लगी। शाही प्रश्नोत्तर में कहा गया था : 'ईसाइयों का कर्तव्य है कि अपने शासकों, विशेषकर नेपोलियन के प्रति वे साम्राज्य और नेपोलियन के सिंहासन की सुरक्षा के लिए

प्यार, सम्मान, आज्ञाकारिता, विश्वास, सैनिक सेवा आदि सब कुछ प्रस्तुत करने के लिए तत्पर रहें। माध्यमिक स्तर पर सैनिक शिक्षा और अधिक महत्वपूर्ण थी। उसने लीसे नामक स्कूल का संगठन किया जो आज भी फ्रांस की माध्यमिक शिक्षा का आधार है। नारी शिक्षा में उसकी कोई रुचि नहीं थी। उनके लिए प्राथमिक स्तर पर ही प्रवंध था। उच्च शिक्षा के लिए विश्वविद्यालय पर सरकार का कठोर नियंत्रण लागू किया गया और उसे स्वायत्त संस्था न मानकर शिक्षा विभाग का एक अंग बना दिया गया। नेपोलियन को संदेह था कि पहले बुद्धिजीवियों में ही विरोध मुखर हो सकता है इसलिए वहां सबसे कठोर नियंत्रण लागू किया जाना चाहिए।

उसने शिक्षकों की शिक्षा का भी महत्व समझा। उनके लिए नार्मल स्कूल खोले गए जो आज भी फ्रांस की शिक्षा व्यवस्था में सबसे प्रतिष्ठित संस्थाएं मानी जाती हैं और मेधावी विद्यार्थी इनमें प्रवेश पाने के लिए होड़ लगाते रहते हैं। इन संस्थाओं के संचालन के कुछ आधार निश्चित कर दिए गए थे। ईसाई धर्म की मूलभूत नैतिकता, राज्याध्यक्ष के प्रति समर्पण और विश्वविद्यालय के मूल नियमों का पालन इस नई शिक्षा का आधार बन गया। नेपोलियन पुस्तकालयों के महत्व से पूरी तरह अवगत था। उसने स्वयं सारा अध्ययन पुस्तकालयों के माध्यम से ही किया था। अन्य तानाशाहों की अपेक्षा वह अधिक प्रबुद्ध था। उसने सामान्य रूप से अध्ययन पर नहीं विरोधी साहित्य पर ही प्रतिबंध लगाया।

अर्थव्यवस्था : नेपोलियन एक साम्राज्यवादी विजेता था। आधुनिक अर्थ में ऐसा हम नहीं कह सकते। उसमें सिकंदर और सीजर का प्रभाव देखा जा सकता है। वह सैन्य शक्ति के बल पर सफल हुआ था और निरंतर सैनिक तंत्र को सुगठित और कार्यरत रखना चाहता था। उसकी सारी अर्थव्यवस्था इसी बात को ध्यान में रखकर नियोजित थी। यथासंभव वह सेना के खर्च का बोझ विजित प्रदेशों पर डालता और फ्रांस की जनता को इस भार से मुक्त रखना चाहता था। इससे साधारण जनता में वह कुछ हद तक लोकप्रिय भी हो चला था। एक किसान ने कभी कहा था : वूर्बो लोग फ्रांस के राजा थे। नेपोलियन हमारा राजा है। परंतु यह भी सच है कि उसने कृषि और उद्योग को आधुनिक ढंग से नियोजित कर समय के साथ चलने की कोशिश नहीं की। फिर भी बंजर और रेतीले इलाके को उपजाऊ बनाने का प्रयास किया गया। नहरों की व्यवस्था ठीक की गई और किसानों के प्रति उदारतापूर्ण व्यवहार रखा गया। लेकिन भूमि सुधार और उत्पादन संबंधी कोई मौलिक सुधार नहीं हुए। सबसे बड़ा आश्चर्य तो यह देखकर होता है कि नेपोलियन ने औद्योगिक क्रांति का महत्व नहीं समझा। इंग्लैंड में तेजी से मशीनी-करण हो रहा था और यही मशीनीकरण इंग्लैंड की शक्ति और नेपोलियन के पतन का प्रमुख कारण भी बना। परंतु वह अपनी मध्ययुगीन मानसिकता से उबर नहीं पाया। भाप से चलने वाले जहाजों के बारे में फुल्टन ने विचार विमर्श किया था, लेकिन नेपोलियन ने ध्यान नहीं दिया। फ्रांस के कारखानों में पुराने ढंग से उत्पादन होता रहा। फ्रांस में अपनी आवश्यकता की सारी चीजें भी नहीं बन पाती थीं और इंग्लैंड से युद्ध के समय भी नेपोलियन को कुछ चीजों के लिए इंग्लैंड पर निर्भर रहना पड़ता था।

मुद्रा को संगठित करने के लिए एक वैंक (वैंक आफ फ्रांस) की स्थापना की गई थी। इसे नोट छापने और मुद्रा के आदान-प्रदान तथा नियोजन की केंद्रीय संस्था बनाया गया था। लेकिन सफलता के मार्ग की ओर यह संस्था बढ़ी नहीं। वैंक में नेपोलियन के परिवार के सदस्यों का हस्तक्षेप बना रहता था। मुद्रा को वैज्ञानिक ढंग से संचालित नहीं किया जाता था। फिर भी नेपोलियन के पारिवारिक सदस्यों के जुड़े होने से बैंक का सम्मान बढ़ा भी था। विजित देशों से प्रचुर धन मिलने से स्थिति ठीक थी। साधारणत: मुद्रा का सीधा संबंध आयात निर्यात से है और उसकी स्थिति व्यापार में वृद्धि के आधार पर ही बेहतर हो सकती है। फ्रांस में ऐसा नहीं हो रहा था। लेकिन इस संस्था ने समयानुसार परिवर्तन किया और फ्रांस की मुद्रा स्थिति को दृढ़ बनाए रखने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। अपने अर्थ मंत्री गोदें की मदद से वह देश में ऐसा वातावरण बनाए रखना चाहता था कि लोगों को पहले से अधिक सुख की अनुभूति हो। इस कार्य में उसे शुरू में सफलता भी मिली क्योंकि युद्धों का बढ़ता खर्च प्राय: बाहर से वसूल किया जाता था और कर परोक्ष रूप से लगाए जाते थे। लेकिन वास्तव में फ्रांस की अर्थव्यवस्था जर्जर होती जा रही थी। उसने पुरानी राज सुरक्षा की नीति को फिर से लागू किया जिसे स्लोन ने 'वोनापार्टिस्ट कोल्बर्टिज्म' की संज्ञा दी है। इसकी वजह से उस समय पूंजीवादी विकास के लिए जिस उन्मुक्त वातावरण की आवश्यकता थी वह फ्रांस को नहीं मिल सका। फलत: फ्रांस पूंजीवादी विकास की दौड़ में इंग्लैंड से पिछड़ गया और यह कमी पूरी नहीं हो पाई।

सांस्कृतिक और सामान्य हित के कार्य

सारे फ्रांस में नहरों और सड़कों का जाल बिछता गया। पेरिस को प्रांतीय नहरों से जोड़ने वाली तीस सड़कें बनाई गईं। आल्प्स पर्वत को चीरती हुई सड़कों ने पेरिस को रोम, मिलान और नेपल्स जैसे इटली के नगरों से जोड़ दिया। नदियों पर पुल बने। तूलों और शेरबुर्ग के बंदरगाहों का विकास किया गया। पेरिस का जैसे पुनर्निर्माण शुरू हुआ। सेन नदी पर सुंदर और मजबूत पुल बने। पुराने राजप्रासादों, विशेषकर तुइलरी और फौंतेंब्लो के महलों को फिर से सजाया गया और नए नगरों का निर्माण हुआ। जोसेफिन के लिए पेरिस से थोड़ी दूर पर मालमेजों नामक छोटा-सा खूबसूरत महल बना। पेरिस में भव्य ला मादलैन का गिरजाघर बना। थिएटर, म्यूजियम और आवास-गृहों का निर्माण हुआ। बेघर लोगों के लिए जाड़ों में रहने का प्रबंध किया गया। जनता पुस्तकालय खोले गए।

अपनी हर विजय के बाद नेपोलियन चित्रों, मूर्तियों और अन्य कला वस्तुओं का भंडार लेकर लौटता था। उसके समय में फ्रांस के संग्रहालय इतने समृद्ध हुए कि आज भी वे श्रेष्ठ माने जाते हैं। लूव्र के संग्रहालय को बाहर से लाई गई वस्तुओं से समृद्ध किया गया। आज भी यहां का 'मिस्र कला कक्ष' अपने ढंग का सर्वोत्तम है। उसकी गरिमा को ध्यान में रखकर भवनों और फर्नीचर आदि के निर्माण में भी एक विशिष्ट शैली का विकास हुआ जिसे 'साम्राज्य की शैली' कहा जाता है। फ्रांस में पहली बार

एक साम्राज्य स्थापित हुआ था और साम्राज्य की भव्यता के अनुकूल ही निर्माण होने थे। इसलिए इस शैली में भड़कीलापन और आडंबर है, सुरुचिपूर्ण सौंदर्यबोध नहीं।

उस समय के दो प्रमुख चित्रकार दावी और ऐंग्र नेपोलियन के प्रचार कार्यों में विशेष सहायक सिद्ध हुए थे। जैसे नेपोलियन ने बर्नार्ड का दर्रा एक खच्चर पर बैठकर पार किया था। लेकिन उसका प्रसिद्ध चित्र उपलब्ध है जिसमें वह एक तूफानी घोड़े पर बैठकर सेना का आह्वान करता आल्प्स पर्वत को मानो रौंदता हुआ दर्रा पार कर रहा है। साहित्य के क्षेत्र में शातोब्रिआं और मादाम द स्ताएल के अतिरिक्त कोई उल्लेखनीय रचनाकार नहीं मिलते। और वे भी उसके विरोधी थे। वह कहता था 'साहित्य की जिम्मेदारी गृह मंत्री पर है।' इससे स्पष्ट है कि वह साहित्य का विकास नियंत्रित रखना चाहता था जो वास्तव में एक अवरोध था। पश्चिमी संगीत के आधार स्तंभों में से एक बीथोवेन भी नेपोलियन से प्रभावित हुआ था और उसने अपनी एक रचना का नाम 'हीरोइक सिम्फनी' रखकर उसे समर्पित किया था, लेकिन जब नेपोलियन ने यूरोप का दमन शुरू किया तो बीथोवेन ने वह रचना नष्ट कर दी। जर्मन भाषा का शेक्सपीयर कहा जाने वाला गेटे भी नेपोलियन का आलोचक बना रहा।

यह सच है कि नेपोलियन की साहित्य और कला में भी थोड़ी रुचि थी। अपने रूस अभियान के समय मास्को की कठिन स्थितियों में भी उसने पेरिस के 'आपेरा हाउस' को सजाकर उसे अगले मौसम के लिए तैयार करने का आदेश दिया था। समय मिलने पर वह लेखकों और कलाकारों के बीच बैठना पसंद करता था। लेकिन यह सब वह किसी वास्तविक रुचि के नाते नहीं, अपनी निम्नमध्यवर्गीय कुंठा तृप्त करने के लिए करता था।

एक बार उसके वित्त मंत्री ने अपने भाषण में कहा : 'यदि कोई मृत फ्रांसीसी जीवित हो जाए तो चारों ओर का दृश्य देखकर अवाक रह जाएगा : आश्चर्य से वह पूछेगा—'इतना सारा निर्माण कितनी शताब्दियों में कितने शासकों ने किया है?' उसने स्वयं जवाब दिया था : 'लेकिन आप जानते हैं कि यह निर्माण शताब्दियों में नहीं वर्षों में हुआ है और इसे केवल नेपोलियन ने किया है।' उसके इस कथन में अतिशयोक्ति है लेकिन यह सच है कि नेपोलियन ने बहुत कुछ रचनात्मक कार्य किया, भले ही यह अहं की तुष्टि के लिए ही क्यों न हुआ हो। राज्य को प्रजा की नजरों में सजाने वाले लोगों में उसे महान कहा जाता है। इसी सजावट को मूर्त रूप देने के लिए वेर्साई के सामंतों की परंपरा को एक नया रूप देकर राष्ट्रीय सम्मान 'लेजिओ दानर' की स्थापना की गई और विभिन्न क्षेत्रों में उपलब्धियों के लिए लोगों को सम्मान देकर एक नया विशिष्ट वर्ग पैदा किया गया। आज भी फ्रांस का यही राष्ट्रीय सम्मान माना जाता है।

इस तरह स्पष्ट है कि नेपोलियन की व्यवस्था में वास्तविक सांस्कृतिक विकास संभव नहीं था। आडंबरपूर्ण और सैनिक तंत्र के लिए आवश्यक निर्माण भले ही हुआ हो, उन्हें एक निम्नमध्यवर्गीय कुंठित व्यक्ति का अपने संतोष के लिए किया गया कार्य समझना चाहिए।

नेपोलियन की विजय यात्रा : आस्ट्रिया के चांसलर (प्रधानमंत्री) मेटरनिख ने एक बार नेपोलियन से पूछा था कि जब सारा यूरोप उसके कदमों के नीचे था, उसे लगातार

युद्धरत रहने की क्या जरूरत थी। नेपोलियन ने संक्षिप्त किंतु महत्वपूर्ण उत्तर दिया था जो उसके अस्तित्व पर प्रकाश डालता है। उसने कहा था 'यूरोप के अन्य शासक राजघरानों में ही पैदा हुए है। वे जन्मजात राजा हैं। वे हारें या जीतें उनके राजकीय अस्तित्व पर फर्क नहीं पड़ता। लेकिन मैं तो युद्ध स्थलों में पनपा हूं—वहीं मुझे सत्ता मिली है। मैं एक बार हार जाऊं तो फ्रांस की जनता मुझे अस्वीकार कर देगी।'

यह सच भी था। जब तक वह विजयी होता रहा 'सम्राट जिंदाबाद' के नारे सारे देश में गूंजते रहे। पहली पराजय के बाद विद्रोह तथा षड्यंत्र सिर उठाने लगे। दूसरी पराजय के बाद साम्राज्य ध्वस्त हो गया। जनता ने अपने सम्राट के पतन पर आंसू नहीं बहाया। इसीलिए यह कहना संगत है कि नेपोलियन के लिए लड़ते जाना एक अनिवार्यता थी। वैसे भी साम्राज्यवाद का चक्र रुका नहीं रह सकता—या तो आगे जाता है या पीछे।

इटली के दोनों अभियानों में उसने लूई चौदहवें के युग से विकसित सैन्य विज्ञान की खोजों और सैन्य संचालन की विधियों को अपनी सूझबूझ के साथ समन्वित कर फ्रांस की सेना को एक नया आयाम दिया था। उसकी सेना अभूतपूर्व थी। नक्शों एवं टोपोग्राफी के अध्ययन तथा गतिशीलता और आक्रामकता के सहारे उसने फ्रांस की सेना को सारे यूरोप की विजयवाहिनी बना दिया।

आमियां की संधि के बाद उसने इंग्लैंड विजय की तैयारी शुरू कर दी। उसने फ्रांस के बंदरगाहों को उन्नत किया। उन्हें सारे देश से सड़कों द्वारा जोड़ दिया गया। भारी पैमाने पर जहाजों का निर्माण शुरू हुआ। फ्रांस को इंग्लैंड से अलग करने वाले इंग्लिश चैनेल को पार कर लेने पर इंग्लैंड पर शीघ्र विजय हो सकती है—यह सोचकर एक बड़ी सेना तैयार की जाने लगी। समझौता खोखला साबित हो चुका था। इंग्लैंड भी अपने योग्य प्रधानमंत्री पिट के नेतृत्व में तैयारियां कर रहा था।

वर्ष 1804 के आरंभ तक यह स्पष्ट हो गया कि युद्ध अनिवार्य है। नेपोलियन एक महान सेनापति था, लेकिन सामुद्रिक युद्ध लड़ने के लिए उसे एक दूसरे सेनाध्यक्ष की जरूरत थी। उसने यह जिम्मेदारी विलनव को सौंपी। दूसरी ओर इंग्लैंड के पास नेलसन के रूप में एक महान नौसेनाध्यक्ष था नेलसन ने अपने देश का आह्वान किया था—'देश हर व्यक्ति से आशा करता है कि वह अपने कर्तव्य का निर्वाह करेगा।' सारा देश अपने अस्तित्व की लड़ाई के लिए सन्नद्ध था।

विलनव की रणनीति यह थी कि फ्रांस की नौसेना की एक टुकड़ी इंग्लैंड के अमेरिकी उपनिवेशों की ओर जाएगी। नेलसन उसका पीछा करेगा। बीच में ही फ्रांसीसी नौसेना लौट पड़ेगी और इंग्लैंड को अरक्षित पाकर अपनी सेना वहीं उतार देगी। उसके बाद तो जैसा नेपोलियन कहा करता था: 'एक बार मैं चैनेल पार कर लूं, बस! फिर तो इंग्लैंड का नामोनिशान मिटा दूंगा।'

लेकिन यह कार्य ही कठिन था। विलनव उन लोगों में था जो अकेले शतरंज खेल कर बाजी जीत लेने का दंभ पालते हैं। उसके जहाज पीछे आ रहे ब्रिटिश बेड़ों को चकमा देकर जब इंग्लैंड की ओर बढ़े तो वहां नेलसन अपने अधिकांश बेड़े के साथ उसका स्वागत करने के लिए तैयार था। ट्रैफेलगर का ऐतिहासिक युद्ध हुआ। इतिहासकार एलिसन

ने कहा है कि इंग्लैंड ने वाटर लू में विजय के लिए युद्ध किया और ट्रैफेलगर में अस्तित्व के लिए (ऐट वाटरलू इंग्लैंड फाट फार विक्ट्री, ऐट ट्रैफेलगर फार एक्जिस्टेंस)। इस युद्ध में नेलसन स्वयं मारा गया, परंतु फ्रांस को भारी पराजय मिली। इंग्लैंड का समुद्रों पर प्रभुत्व अक्षुण्ण रहा। नेपोलियन के मंसूबे चकनाचूर हो गए। उसने फिर इंग्लैंड पर आक्रमण करने का साहस नहीं किया। अब नेपोलियन अप्रत्यक्ष रूप से ही युद्ध लड़ सकता और इसी क्रम में, उसने इंग्लैंड की नाकेबंदी की, उसे उसमें भी सफलता नहीं मिली।

ट्रैफेगलर में हुई भयानक पराजय को संतुलित करने के लिए नेपोलियन ने आस्टर-लित्स के युद्ध में प्रशा और आस्ट्रिया की मिली जुली सेना को गहरी शिकस्त दी। नेपो-लियन कहा करता था कि उसकी आस्टरलित्स की विजय सबसे महत्वपूर्ण है। नेपोलियन की सेना ज्वार की तरह मध्य यूरोप की ओर बढ़ती जा रही थी। इयेना की लड़ाई में प्रशा को उसने रौंद डाला। एक हजार वर्ष प्राचीन पवित्र रोमन साम्राज्य का उन्मूलन कर दिया गया। इसी असम्मान की आग में तपकर प्रशा का पुनर्जन्म हुआ था। उसने इयालू में रूस को भी परास्त किया और सारे यूरोप में मास्को में मैड्रिड तक के शासक उसके कृपापात्र बनने के लिए होड़ करने लगे। जर्मन क्षेत्र के एरफुर्ट नगर में उसने एक दरबार किया जिसमें यूरोप के राजघरानों ने नेपोलियन के समर्थन में अपने परिवार और संपत्ति को न्यौछावर कर देने की प्रतिज्ञा की।

इसी समय रूस के सम्राट अलेक्जेंडर ने नेपोलियन की ओर दोस्ती का हाथ बढ़ाया। दोनों सम्राट एक दूसरे से मिले। अलेक्जेंडर एक भावुक शासक था। वह नेपोलियन से अभिभूत हो गया। दोनों में टिलसिट की संधि हो गई। दोनों देशों ने यूरोप को अपने प्रभाव क्षेत्रों में बांट लिया और अलेक्जेंडर ने इंग्लैंड के विरुद्ध व्यावसायिक युद्ध में फ्रांस का साथ देने का वादा किया। उस समय के एक अविस्मरणीय कार्टून में अक्लेजेंडर और नेपोलियन को एक खाने की मेज पर एक मुर्गे को आधा बांटकर खाते दिखाया गया था। कहा जाता है कि टिलसिट संधि के समय नेपोलियन अपनी सत्ता के चरमोत्कर्ष पर था। यह तथ्य कुछ हद तक सच भी है। संपूर्ण यूरोपीय महाद्वीप में उसका कोई प्रतिद्वंद्वी नहीं था। यूरोप के एक हिस्से पर फ्रांस का कब्जा था। कालांतर में स्पेन में उसका शासन लड़खड़ाने लगा और उसका विरोध नए सिरे से संगठित होने लगा जिसने अंततोगत्वा उसकी पराजय की पृष्ठभूमि बना डाली। टिलसिट तक उसका सित।रा बुलंदी पर रहा। इसके बाद उसके गर्दिश के दिनों की शुरुआत हो गई।

स्पेन में आने वाले दिनों का आभास मिलने लगा था। स्पेन की फ्रांस से निकटता और नेपोलियन के समर्थन के बावजूद साम्राज्यवादी लिप्सा ने स्पेन में एक नई परि-स्थिति पैदा कर दी थी। धूर्तता और निर्मूल तर्कों के सहारे नेपोलियन ने वहां के राजवंश को पदच्युत करके अपने भाई जोसेफ को वहां का शासक बना दिया था। पहली बार सारा राष्ट्र विद्रोह में उठ खड़ा हुआ। नेपोलियन के सेनापति को मुंह की खानी पड़ी। नेपोलियन ने स्वयं आकर विद्रोहियों को पराजित किया लेकिन उसके वहां से हटते ही विद्रोही जोसेफ को परेशान करने लगे। शासन करना असंभव हो गया। इंग्लैंड अब

तबाह हुई थी। मतलब यह कि नेपोलियन को स्पेन ने किसी भी तरह नाराज नहीं किया, लेकिन झरने के ऊपर बैठा शेर नीचे पानी पीते मेमन को मारने का बहाना ढूंढ़ना चाहे तो कह देता है कि मेमना उसका पानी क्यों जूठा कर रहा है। साम्राज्यवादी तानाशाह किसी भी विजय के लिए कोई कारण ढूंढ़ सकता है।

इंग्लैंड के मित्र राष्ट्र पुर्तगाल पर हमला करने के लिए नेपोलियन की सेनाएं स्पेन की सीमाओं का अतिक्रमण करती ही रहती थीं। स्पेन में इसे राष्ट्रीय अपमान समझा जाता था। तत्कालीन स्पेन के राजपरिवार के षड्यंत्र से भरे वातावरण ने उसे और उत्साहित किया। स्पेन की सक्रिय रानी देश के मंत्री गोदोय के चंगुल में थी। निष्क्रिय राजा चार्ल्स के विरुद्ध बढ़ रहे जनमत का साथ राजकुमार फर्डिनेंड ने भी दिया। अब मजबूरन चार्ल्स ने पदत्याग कर दिया और फर्डिनेंड स्पेन का शासक हो गया। तभी नेपोलियन ने पूरे राज परिवार को सीमावर्ती नगर वायोन्न में निमंत्रित किया और फर्डिनेंड ने अपनी इच्छा से अपना राज्य नेपोलियन के हक में छोड़ दिया। जाहिर है, यह इच्छा फर्डिनेंड की नहीं, नेपोलियन की थी जिसे दबाव में मजबूरन फर्डिनेंड ने स्वीकार किया था। उसे फ्रांस में एक तरह से नजरबंद किया गया और चार्ल्स रोम भेज दिया गया जहां उसे पेंशन मिलने लगी।

नेपोलियन का बड़ा भाई जोसेफ स्पेन का राजा बनाया गया। जोसेफ ने स्पेन में फ्रांस जैसा शासन लागू किया। लोगों को समानता का अधिकार दिया गया। उसने सोचा था कि स्पेन का सामंती समाज फ्रांस में किए गए सुधारों से प्रसन्न होकर उसका समर्थन करेगा, लेकिन उसने या नेपोलियन ने उस दुर्दम्य शक्ति को नजरअंदाज कर दिया था फ्रांस ने ही जिसकी प्रेरणा दी थी। राष्ट्रप्रेम से कोई समझौता नहीं हुआ। सारा राष्ट्र मानो सशस्त्र हो गया।

नेपोलियन बड़ी बड़ी सेना से निपट सकता था, लेकिन उस सेना से कैसे लड़ता जो सारे देश में घर-घर फैली हुई थी। स्पेनी गुरिल्ला छापामार लड़ाई लड़ रहे थे। जोसेफ ने नेपोलियन को लिखा कि उस देश पर कैसे शासन किया जाए जिसमें एक भी विभीषण न मिल रहा हो। स्पेन का भूगोल भी नेपोलियन के प्रतिकूल था। सारा देश पठारी, पहाड़ी और अनुपजाऊ था। नेपोलियन की सेनाएं विजित प्रदेश से ही अपना खर्च निलकाती थीं। स्पेन में यह संभव नहीं था फ्रांस और स्पेन के बीच पिरेनीज के पहाड़ दुर्गम थे। नेपोलियन ने चारों तरफ दुश्मन बना रखे थे इसलिए वह अपनी सारी ताकत निर्बाध रूप से स्पेन में नहीं लगा सकता था। और फिर इंग्लैंड ने घोषणा कर दी थी कि 'नेपोलियन का हर विरोधी इंग्लैंड का मित्र है।' इस नीति के अंतर्गत भारत में मराठों के विरुद्ध युद्ध में सफल अनुभवी सेनापति आर्थर वेलेजली अपनी सेना के साथ पुर्तगाल पहुंच चुका था और स्पेन की भरपूर मदद कर रहा था।

जोसेफ के लिए रहना भी मुश्किल हो गया। उसे मैड्रिड से भागना पड़ा। नेपोलियन ने समय निकालकर एक बार फिर स्पेन पर स्वयं हमला किया। और अपनी क्षमता का प्रदर्शन किया। विद्रोहों का दमन किया गया। अंगरेज पुर्तगाल से खदेड़ दिए गए। जोसेफ पुनः मैड्रिड में प्रतिष्ठित हुआ लेकिन जोसेफ नेपोलियन नहीं था। नेपोलियन न तो फ्रांस से

बहुत दिनों तक बाहर रह सकता था न एकचित्त होकर स्पेन को ही सारा समय दे सकता था। उसे तो सीमा के हर ओर दुश्मन नजर आ रहे थे। नेपोलियन के हटते ही एक बार फिर स्पेनी राष्ट्रवादी सक्रिय हो गए और जोसेफ का शासन लड़खड़ाने लगा। नेपोलियन अब पुनः स्पेन नहीं लौट सका। अंगरेजों की सेना लौट आई। नेपोलियन उधर आस्ट्रिया और रूस के विरुद्ध व्यस्त था और इधर स्पेन में फ्रांसीसी तबाह हो रहे थे। राष्ट्रमुक्ति के संग्राम के समय तक विद्रोह चलता रहा। अंगरेज सेना स्पेन में घुसकर फ्रांसीसियों को कमजोर बनाती रही और अंततोगत्वा स्पेन ने फ्रांस का जुआ उतार फेंका और अपनी पुरानी व्यवस्था स्थापित कर ली।

मादाम स्ताएल ने कहा था कि यह युद्ध नेपोलियन का पतन की ओर पहला कदम है। इस युद्ध ने यह भी स्पष्ट कर दिया, जैसा कि टामसन कहता है, यह नेपोलियन का भ्रम था कि वह एक सामुद्रिक शक्ति को स्थल पर पराजित कर सकता है। स्पेन का युद्ध इतिहास में एक विशेष महत्व रखता है। इसने सिद्ध कर दिया कि बड़े से बड़ा तानाशाह भी राष्ट्रीय अहं का दमन नहीं कर सकता, बड़ी से बड़ी सेनाएं भी जांबाज और समर्पित छापामारों के आगे लाचार हो जाती हैं। साम्राज्यवाद भरपूर सामर्थ्य के बावजूद अपनी कब्र आप खोदता है।

व्यावसायिक युद्ध (कान्टिनेंटल सिस्टम): नेपोलियन शुरू से इंग्लैंड की शक्ति जानता था। वह अंगरेजों से घृणा करता था और इंग्लैंड को बनियों का देश कहता था। लेकिन उसकी घृणा उसकी लाचारी की ही अभिव्यक्ति थी। उसने पहले भी मिस्र पर कब्जा करके परोक्ष रूप से इंग्लैंड को क्षति पहुंचाना चाहा था। वह भारत में अंगरेजों के विरोधियों को उकसाता रहता था। लेकिन आमने सामने लड़ाई होने पर ट्रैफेलगर में उसे अपनी औकात का पता चल गया। यह कहा जाता है कि स्थल पर नेपोलियन और जल पर इंग्लैंड सर्वोच्च थे। लेकिन जल-थल की विभाजक रेखा राजनीति या अंतर्राष्ट्रीय प्रतिस्पर्धा की राजनीति में काम नहीं करती। सर्वोच्च तो एक ही हो सकता था—फ्रांस या इंग्लैंड। दोनों को ही अनिवार्यतः एक दूसरे के विरुद्ध सतत प्रयास करना था।

नेपोलियन ने ट्रैफेलगर के बाद एक बार फिर परोक्ष प्रहार की नीति अपनाई। समय-समय पर अध्यादेश जैसी घोषणाएं कर उसने इंग्लैंड के व्यापार पर प्रतिबंध लगाने की नीति अपनाई। क्रांति काल में भी इंग्लैंड के विरुद्ध प्रतिबंध की नीति अपनाई गई थी। लेकिन 1806 की बर्लिन घोषणा में पहली बार स्पष्ट शब्दों में पूरे ब्रिटिश द्वीप समूह की नाकेबंदी करके फ्रांस और मित्र देशों के सारे बंदरगाह इंग्लैंड और उसके औपनिवेशिक जहाजों के लिए बंद कर दिए गए। 1807 में मिलान से नेपोलियन ने ब्रिटिश बंदरगाहों से आने वाले या तटस्थ देशों के जहाजों पर भी, प्रतिबंध लगा दिया। उन जहाजों पर कब्जा भी किया जा सकता था। 1808 में फोंतैब्लो घोषणा द्वारा उसने इंग्लैंड में बने जहाजों को जब्त करने और जला देने तक की आज्ञा दे दी। इंग्लैंड जाने वाले या किसी अंगरेज को लिखे गए खतों पर भी उसके राज्य में प्रतिबंध लगा दिया गया। इन आदेशों से नेपोलियन की यह मंशा स्पष्ट होती है कि वह इंग्लैंड के आयात

निर्यात को पंगु बना देना चाहता था। ज्यों ज्यों इंग्लैंड उसकी नीतियों का जवाब देता गया वह सख्त घोषणा करता गया। लेकिन सख्त शब्दों के पीछे सब कुछ पोपला था। इंग्लैंड का प्रधानमंत्री पिट भी इंग्लैंड में विकासशील पूंजीवाद और उद्योगों का जुझारू प्रतिनिधि था। उसने ईंट का जवाब पत्थर से दिया। 1807 में कई घोषणाएं (आर्डर्स-इन-काउन्सिल) प्रकाशित की गईं। फ्रांस और उसके मित्रों से व्यापार पर प्रतिबंध लगा दिया गया। तटस्थ देशों के जहाजों को भी यूरोप के बंदरगाहों तक जाने से पहले इंग्लैंड के बंदरगाहों तक जाना अनिवार्य कर दिया गया। इंग्लैंड और फ्रांस की प्रतिद्वंद्विता का उन देशों पर तो प्रभाव पड़ ही रहा था, बेकसूर तटस्थ देश भी मारे जा रहे थे। डेन-मार्क ने जब अपनी तटस्थता बनाए रखने की जिद की तो ब्रिटिश बेड़े ने हमला करके डेनमार्क के जहाज नष्ट कर दिए।

इन प्रतिबंधों से यूरोप के देशों का आयात-निर्यात रुक सा गया। इससे कठिनाइयां बढ़ीं। लेकिन सबसे बड़ी मुश्किल तो यह थी कि यूरोप का जनजीवन इंग्लैंड में बनी दैनंदिन जीवन के इस्तेमाल की चीजों पर निर्भर करता था। इन चीजों का अभाव यूरोप के हर व्यक्ति, यहां तक कि फ्रांसीसियों को भी खलने लगा। दूसरे, यूरोप के बाहर अमेरिका, अफ्रीका और एशिया से भी यूरोप का व्यापार अवरुद्ध हो गया।

नाकेबंदी करना आसान नहीं था। इतने बड़े समुद्र तट की पहरेदारी के लिए जितने बड़े और शक्तिशाली बेड़े की जरूरत थी वह फ्रांस के पास नहीं था। नतीजा यह हुआ कि तस्कर व्यापार तेजी से बढ़ा। बंदरगाहों पर भ्रष्टाचार बढ़ने लगा। स्मलिंग इतने संगठित ढंग से होने लगी कि सामानों का बीमा किया जाने लगा। मजबूरन नेपोलियन स्वयं चुपके से कुछ सामानों को अपवाद मानकर उनका आयात करने की छूट दे दिया करता था। उसकी अपनी सेना के लिए बूट और ओवरकोट इंग्लैंड से मंगाने पड़ते थे। इतनी निर्भरता के साथ नाकेबंदी कैसे सफल होती? कुछ विकल्पों की तलाश शुरू हुई; जैसे बाद में हिटलर ने द्वितीय महायुद्ध के समय बहुत से अप्राप्य सामानों का विकल्प तैयार करवाया था। अमेरिका तटस्थ बनकर लाभ उठाने की कोशिश में इंग्लैंड का कोपभाजन बन चुका था। रोज नाश्ते के लिए ब्राजील से काफी मंगाना कम या बंद हो गया तो चिकोरी का प्रयोग शुरू हुआ। आज भी वह याद ताजी रखने के लिए काफी की कुछ किस्मों में चिकोरी मिलाई जाती है। फ्रांस का जीवन दूभर होता जा रहा था। इंग्लैंड में भी स्थिति अच्छी नहीं थी। केवल व्यवसाय पर ही निर्भर रहने से इंग्लैंड की अर्थव्यवस्था लड़खड़ा रही थी। पौंड की कीमत पच्चीस फ्रांक से सत्रह फ्रांक तक गिर गई थी। कुछ व्यापारी तो पार्लमेंट पर दबाव डाल रहे थे कि फ्रांस से किसी प्रकार समझौता हो जाए। उसी नीति के कारण इंग्लैंड से भी बहुत देश असंतुष्ट हुए और 1812 में संयुक्त राष्ट्र अमेरिका से युद्ध तक की नौबत आ गई। फिर भी इंग्लैंड में अपेक्षतया कम कठिनाइयां थीं। वहां जनता का हौसला बुलंद था।

नेपोलियन ने धीरे धीरे यूरोप के देशों से संबंध का आधार ही इंग्लैंड के विरुद्ध अपनाई गई नीति बना दी थी। इतिहासकार स्लोन के अनुसार अस्थाई और तात्कालिक राजनीति को व्यापक व्यवस्था का एक स्थाई आधार बनाना मूर्खता थी। लेकिन इंग्लैंड

का बहिष्कार इतना आसान नहीं था। ज्यों ज्यों लोग असमर्थ होकर यह नीति छोड़ने लगे नेपोलियन कुढ़ता गया। पोप पिअस सातवां ने जब बहिष्कार नहीं किया तो उसे गिरफ्तार कर उसका राज्य हड़प लिया गया। जार अलेक्जेंडर ने साथ नहीं दिया तो रूस पर आत्मघाती हमला कर दिया गया। यहां तक कि उसके अपने भाई हालैंड के राजा लूई ने जब अपनी प्रजा की कठिनाइयां देखकर इंग्लैंड से आयात व्यापार चालू रहने दिया तो उसे गद्दी से हटाकर हालैंड फ्रांस में मिला लिया गया। इस प्रकार एक तरह से निराश होकर नेपोलियन किसी भी कीमत पर बहिष्कार की नीति लागू करना चाहता था।

लेकिन इस नीति की सफलता के लिए कुछ अनिवार्य शर्तें थीं। इतनी विस्तृत नाकेबंदी करने के लिए जितनी बड़ी नौसेना चाहिए थी वह फ्रांस के पास होती तो यह नौबत ही नहीं आती। फिर जिस देश की नाकेबंदी करनी थी उसका स्वयं समुद्री क्षेत्र पर एकछत्र राज्य था। दूसरे यूरोप में इंग्लैंड सबसे उन्नत देश था। औद्योगिक क्रांति का प्रारंभ वहीं हुआ था। उपभोग की चीजें ज्यादातर वहीं बनती थीं। आयात के लिए और कच्चा माल या अनाज के निर्यात के लिए यूरोप के सारे देश उस पर निर्भर थे। फ्रांस द्वारा बिना विकल्प प्रस्तुत किए अर्थात उन देशों की जरूरतें पूरी करने की सामर्थ्य नहीं रखे बगैर उन्हें अपने साथ बहुत दिनों तक रख पाना असंभव था। फ्रांस स्वयं इंग्लैंड पर अत्यधिक निर्भर था। इसके अतिरिक्त नेपोलियन इस नीति की सफलता के लिए चाहे जितना समर्पित रहा हो वह अकेले इसे कार्यान्वित नहीं कर सकता था। उसके अन्य कर्मचारी तटस्थ ही नहीं बल्कि इस नीति के विरोधी भी थे। फलतः व्यावसायिक जीवन में भ्रष्टता की भरमार थी। यूरोप के अन्य शासकों से उसने यह नीति जबरदस्ती स्वीकार कराई थी। वे नेपोलियन के मित्र नहीं थे कि कठिनाइयां बर्दाश्त कर लें। वे हर तरह से नेपोलियन के विरोधी थे। दूसरे शब्दों में, नेपोलियन केवल एक ही लड़ाई नहीं लड़ रहा था, अलग अलग स्तरों पर अनेक लड़ाइयों में वह व्यस्त था। बहुत से मोर्चों पर एक साथ लड़ना कभी उपयुक्त नहीं होता।

इस तरह इंग्लैंड की फ्रांस द्वारा नाकेबंदी फ्रांस की अपनी ही नाकेबंदी सिद्ध होने लगी। असंतोष और विरोध बढ़ने लगा और नेपोलियन का पूरा तंत्र लड़खड़ा गया।

अंत में यह प्रश्न उठता है कि नेपोलियन या तो मूर्ख था या दुस्साहसी कि उसने एक ऐसी नीति अपनाई जिसकी असफलता सुनिश्चित थी। वास्तव में न तो नेपोलियन मूर्ख था न दुस्साहसी। वह जिन नीतियों के प्रभाव में था उसमें समझौता संभव ही नहीं था। प्रवाह के बीच में खड़ा व्यक्ति इस पार जाए या उस पार, मार्ग उसे समान ही तय करना पड़ता है। साम्राज्यवादी नेपोलियन की यही अनिवार्य परिणति थी।

रूस पर आत्मघाती आक्रमण : रूस पर विजय करना आसान नहीं है। हिटलर जैसे शक्तिशाली तानाशाह ने वहीं अपनी कब्र खोदी थी। वहां यह कहावत भी मशहूर है कि सभी जनरल हार जाए तो भी जनरल दिसंबर और जनरल जनवरी तो अजेय हैं। यह भी सच है कि रूसी जाड़ा गैर रूसियों के लिए असह्य होता है। जलवायु के अलावा उस देश का विस्तार तथा वहां के लोगों की जुझारू प्रवृत्ति उन्हें घुटने नहीं टेकने देती।

नेपोलियन और रूस के जार अलेक्जेंडर ने अपनी अपनी महत्वाकांक्षाओं के बीच

टिलसिट में समझौता कर लिया था। पीटर और कैथरिन की विस्तारवादी नीति का वाहक अलेक्जेंडर पूर्वी यूरोप और मध्य एशिया में अपना प्रभाव क्षेत्र चाहता था। नेपोलियन के ज्वार में कुछ भी वह सकता था इसलिए उसने उससे समझौते का बांध बनाया था। नेपोलियन भी इंग्लैंड को नीचा दिखाने के लिए रूस से सहयोग चाहता था। रूस इंग्लैंड के भारतीय उपनिवेशों के लिए एक खतरा बन सकता था। लेकिन टिलसिट की संधि का आधार स्थाई नहीं था। रूस जैसे पिछड़े देश के लिए बिना ब्रिटिश सामानों का आयात किए जीवन दूभर था। ऐसे में वहिष्कार की नीति चलाए रखना असंभव था। दूसरे, नेपोलियन का साम्राज्यवादी चरित्र यूरोप के तमाम राष्ट्रों के सामने एक खतरा बनता जा रहा था। जब से नेपोलियन ने पौलैंड की विजय के बाद अपने प्रभुत्व में वारसा की ग्रैंड डची स्थापित की थी, यह वात स्पष्ट हो गई थी। भावुक अलेक्जेंडर का मोह भंग होता जा रहा था। इस काम में प्रशा के दमन के बाद वहां के राष्ट्रभक्त प्रशासक बैरन फान स्टाइन का महत्वपूर्ण योगदान था। वह रूस की राजधानी में निर्वासित व्यक्ति का जीवन व्यतीत करते हुए अलेक्जेंडर को नेपोलियन के विरुद्ध बराबर भड़काता रहता था। ऐसे विगड़ते संवंधों के बीच नेपोलियन को व्यक्तिगत रूप से ठेस पहुंची। उसे जोसेफिन से कोई संतान नहीं थी। अव उसके सामने उत्तराधिकारी न होने की वात मंडराने लगी थी। दूसरा विवाह वह किसी प्रसिद्ध राजघराने में करके अपनी मध्यमवर्गीय कुंठा को तृप्त करना चाहता था। उसने रूसी राजघराने में अप्रत्यक्ष रूप से प्रस्ताव भेजा। लेकिन समाज में आभिजात्य प्रभुत्व इतना शक्तिशाली था कि यूरोप के सबसे शक्तिशाली सम्राट का प्रस्ताव ठुकरा दिया गया। नेपोलियन के लिए यह अपमान असह्य रहा होगा।

इस तरह नेपोलियन कई कारणों से रुष्ट था और उसने रूस को रूस में परास्त कर सवक सिखाना चाहा। जहां भी अवसर मिला सैनिक भरती किए गए और सात लाख से अधिक की मिली-जुली सेना लेकर वह रूस में दाखिल हुआ। अलेक्जेंडर ने भी इंग्लैंड और स्वीडेन से संधि कर ली थी और पूरी तरह तैयार भी था। लेकिन नेपोलियन लड़ता किससे ? रूसी सेना तो अदृश्य थी। वह पीछे हटती जाती थी और आसपास के खेत खलिहान फूंकती जाती थी ताकि दुश्मनों को रसद या घोड़ों के लिए चारा तक न मिले। नेपोलियन की सेना अपनी रसद का प्रबंध विजित हुए प्रदेशों से करती थी। पर यहां ऐसा संभव नहीं था। इसके अतिरिक्त रात को आराम करती हुई सेना पर रूसी सैनिक हमला करते और भारी नुकसान पहुंचाकर भाग जाते। एक ही बड़ा युद्ध बोरोदिनों में हुआ जिसमें दोनों ही पक्षों को नुकसान पहुंचा लेकिन रूसी सेनापति कुतुसोव से नेपोलियन भारी पड़ा। अंत में नेपोलियन मास्को पहुंचने में सफल हो गया। परंतु वहां नेपोलियन को सूनी सड़कें, सूने घर, सांय सांय करता वातावरण दिखाई पड़ा। जार ने साइवेरिया चले जाने का निश्चय किया था, लेकिन आत्मसमर्पण करने का नहीं। जाड़ा शुरू हो रहा था और मास्को की लूटपाट में व्यस्त फ्रांसीसी सेना और क्षुब्ध नेपोलियन इस इंतजार में थे कि शायद संधि प्रस्ताव आ जाए। लेकिन उसने रूस को ठीक से समझा नहीं था। रूस पर स्वीडेन के शासक चार्ल्स द्वादश की विजय के वारे में लिखे वोल्तेयर के इतिहास का मर्म उसने नहीं समझा था। अंत में नेपोलियन को लौटने का निर्णय करना पड़ा। घुटने तक

गहरे बर्फ और कीचड़ में भूखी फ्रांसीसी सेना तूफानी हवा और रूसियों के आकस्मिक हमले झेलती हुई हताश और असम्मानित चेहरे लेकर लौट रही थी। भूख और बीमारी से आदमी हैवान हो गया था। जब सेना ने रूस की सीमा छोड़ी तो पांच लाख सैनिक नेपोलियन के दंभ का शिकार हो चुके थे। नेपोलियन को इसी समय सूचना मिली कि पेरिस में विद्रोह हो गया है और वह अपनी ही गद्दी बचाने के लिए अपनी राजधानी की ओर भागा। तलिरां ने कहा कि नेपोलिन का जुवा उतार फेंकने का यही समय है।

इस भयानक अभियान की तस्वीर इतिहास पुस्तकों से भी अधिक सजीव रूप में रूसी लेखक ताल्स्ताय के उपन्यास 'युद्ध और शांति' में मिलती है। इस अभियान ने नेपोलियन को बहुत कमजोर बनाया, लेकिन रूस की यूरोपीय राजनीति में महत्वपूर्ण भूमिका अवश्य शुरू हुई।

यूरोप में बढ़ती हुई राष्ट्रीय चेतना : नेपोलियन ने पहले तो क्रांति के लाभों को विजित देशों तक पहुंचाया, इसके बाद भ्रातृत्व के सिद्धांत के स्थान पर फ्रांस की सर्वोच्चता का सिद्धांत क्रियान्वित करने लगा। पहले सारे यूरोप के शासक मात्र नेपोलियन के विरोधी थे; फिर उसके आतताई चरित्र के विरोध को राष्ट्रीय स्वर प्राप्त हुआ। इस तरह धीरे धीरे नेपोलियन के विरोध का स्वरूप राजनीतिक मात्र नहीं रह गया। भावनात्मक स्तर पर जुड़े राष्ट्र भर के लोग अपने शासकों का समर्थन करने लगे।

प्रशा का पुनरुत्थान : नेपोलियन की विजय से जर्मन क्षेत्र सर्वाधिक प्रभावित हुए थे। अपनी प्रथम विजय के बाद ही उसने फ्रांस की सीमा राइन नदी तक पहुंचा दी थी। इस क्षेत्र के शासकों को पुनर्स्थापित करने के लिए और जर्मन क्षेत्र का पुनर्गठन करने के लिए एक शाही आयोग ने फ्रांस की मदद से इस क्षेत्र का पुनर्गठन किया। एक सौ बारह शासकों की रियासतें प्रशा, आस्ट्रिया और बवेरिया जैसे राज्यों में मिला दी गईं और सैकड़ों रियासतें फ्रांस में विलीन हो गईं। बाद में राइन नदी के आसपास राइन का महासंघ और वेस्टफेलिया के राज्य का निर्माण हुआ। प्रशा अधिकृत पौलैंड को केंद्र बनाकर वारसा की रियासत बनाई गई। यह सच है कि यह सारे कार्य बाद में जर्मनी के एकीकरण के लिए सहायक सिद्ध हुए। लेकिन तत्काल तो इसने पूरे जर्मन क्षेत्र में विशेषकर प्रशा में क्षोभ का वातावरण भर दिया।

जब आस्टरलित्स और इयेना के युद्धों में प्रशा का दमन हो गया तो वहां पुनरुत्थान की एक लहर उठी जिसे प्रशा का पुनर्जागरण कहते हैं। बैरन फान स्टाइन और हार्डेन बर्ग ने आंतरिक प्रशासन को एकदम बदल डाला। अर्द्धगुलामी (सर्फडम) की प्रथा का अंत कर दिया गया। इंग्लैंड के तरह की स्थानीय संस्थाओं का संगठन किया गया और प्रशा को एक संवैधानिक राजतंत्र के रूप में ढालने का प्रयास शुरू हुआ। लेकिन यह प्रयास सफल नहीं हुआ, क्योंकि फ्रेडरिक विलियम अपनी शक्ति में किसी तरह की कमी स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं था। नौकरियों पर कुलीन लोगों का एकाधिकार समाप्त कर उन्हें सबके लिए प्राप्य बना दिया गया। प्रशासन के ढंग में मौलिक परिवर्तन किए गए। कुल मिलाकर प्रजा को संतुष्ट करने का प्रयास किया गया।

दूसरी ओर सेना का पुनर्गठन शुरू हुआ। प्रशा की सेना सारे यूरोप में प्रसिद्ध थी।

मिराबो युद्ध को प्रशा का राष्ट्रीय उद्योग कहा करता था। फ्रेडरिक की मृत्यु के बाद स्थिति प्रतिकूल हो गई और नेपोलियन के सामने प्रशा को असम्मानित होना पड़ा था। शानहर्स्ट और ग्लाइजनाउ ने प्रशा को मुक्ति युद्ध के लिए तैयार किया।

यह सब पर्याप्त नहीं था। देश भक्तों ने 'सद्गुण संघ' नाम की संस्था गठित की। फिक्टे और आंड्ट ने अपनी रचनाओं से जर्मनी में राष्ट्रीय सम्मान की भावना भर दी। हम्बोल्ड्ट ने राष्ट्रीय शिक्षा और बर्लिन विश्वविद्यालय को नई पीढ़ी का आधार बनाया। इस प्रकार प्रशा एक नए राष्ट्रवाद के लिए सन्नद्ध होने लगा। इस राष्ट्रीय चेतना ने ही मुक्ति युद्ध की पृष्ठभूमि बनाई थी। अंत में फ्रेडरिक विलियम ने प्रजा के नाम एक घोषणा की : 'हमें स्पेन के लोगों का अनुकरण करना चाहिए और देश को एक निर्मम तथा आस्थाहीन तानाशाह से मुक्त करा लेना चाहिए।'

स्वतंत्रता राष्ट्रीयता का पर्यायवाची बन गई थी। आस्ट्रिया में भी राष्ट्रीय तत्व संगठित होने लगे थे। इंग्लैंड में नेलसन और बाद में ड्यूक आफ वेलिंगटन की विजयों के पीछे पूरे राष्ट्र में देशभक्ति की परंपरा थी जिसका सबसे पहले एलिजाबेथ ने उस समय आह्वान किया जब फिलिप द्वितीय के हमले के कारण पहली बार इंग्लैंड का अस्तित्व खतरे में पड़ गया। दो शताब्दियों के बाद एक बार फिर उसी राष्ट्रीय जागरूकता के सहारे पिट आश्वस्त होकर नेपोलियन के विनाश के लिए प्रयत्नशील हो गया था।

अनेक राज्यों में विभाजित इटली के दो राज्यों—इटली और नेपल्स में संगठित होने के कारण वहां भी राष्ट्रीय जागरण की पृष्ठभूमि तैयार हो गई। कारबोनारी नामक संगठन ने पहली बार इटली की मुक्ति के लिए गुप्त रूप से कार्य करना शुरू किया। पोलैंड का तीन बार विभाजन हुआ था। अब रूस प्रशा और आस्ट्रिया ने पूरी तरह उसे हड़प लिया। यूरोप के नक्शे से उसका निशान ही मिट चुका था जो नेपोलियन के कारण पुनः स्थापित हुआ। लेकिन वहां भी राष्ट्रीयता की उग्र भावना से मुक्ति को बल मिला, नेपोलियन को नहीं।

फिनलैंड, एस्टोनिया, लटविया जैसे सुदूर उत्तरी प्रदेशों में भी राष्ट्रीय चेतना फैलने लगी। नार्वे, स्वीडेन और दक्षिण पूर्व के बाल्कन प्रायद्वीप में तुर्क साम्राज्य के क्षेत्रों में भी मुक्ति की आकांक्षा उभरने लगी।

सारे यूरोप में यह भावना पैठ गई थी कि नेपोलियन व्यक्ति और राष्ट्र दोनों की स्वतंत्रता का विरोधी है, इसलिए इंग्लैंड को नेपोलियन विरोधी संघ को कार्यरत रखने और उसे सारे यूरोप में बदनाम कर एक शैतान की तरह चित्रित करने में सफलता मिली। यह एक विडंबना ही थी कि जैसे जैसे नेपोलियन के विरोध में राष्ट्रीयता की भावना उभर रही थी वैसे वैसे स्वयं फ्रांस में नेपोलियन को पहले जैसा समर्थन मिलना कम होता जा रहा था। यह विसंगति भी उसके पतन के लिए जिम्मेदार थी।

पतन के लिए नेपोलियन की अपनी जिम्मेदारी : हालांकि संक्रमण काल में अनुकूल परिस्थितियों से ही नेपोलियन आगे बढ़ा था, परंतु उसके पास अपने गुण भी थे जिन्होंने उसकी सफलता का मार्ग प्रशस्त किया था। इसी तरह उसका पतन भी स्थितियों के

संयोग से हुआ। फिर भी उसने भूलें कीं और उसके चारित्रिक तथा अन्य दोषों ने उसके पतन की गति और अधिक तेज करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

निदेशक मंडल के शासनकाल में उसने स्थितियों का ठीक ठीक आकलन करके जान लिया था कि जनता वास्तव में क्या चाहती है। उसे व्यवस्थित जीवन और सम्मान चाहिए था। नेपोलियन ने यह सब उसे दिया और उसे सफलता मिली। बाद में वह कहने लगा कि जनता स्वतंत्रता नहीं समानता चाहती है। उस अवधि में यह हालांकि सच था लेकिन सत्तारूढ़ हो जाने के बाद उसने जनता की इच्छा की परवाह करना छोड़ दिया। समय की मांग को नजरअंदाज करते हुए उसने इतिहास की धारा के प्रतिकूल बहना शुरू कर दिया। वह तनिक भी आलोचना बर्दाश्त नहीं कर पाता था। पैंतीस सौ लोग महज इसलिए गिरफ्तार थे कि वे नेपोलियन को पसंद नहीं करते थे और अपनी यह भावना उन्होंने किसी न किसी तरह व्यक्त कर दी थी। वास्तव में अन्य तानाशाहों की तरह वह भी अंतर्मुखी और आत्मकेंद्रित था। वह अपने राज्य, यूरोप या दुनिया की तस्वीर को अपने को केंद्र बनाकर देखता था। वह स्वार्थी ही नहीं दंभी भी था। वह अपनी निम्न मध्यवर्गीय कुंठाओं से कभी मुक्त नहीं हो पाया।

अपने परिवार से वह जुड़ा रहना चाहता था और उसके लिए उसने बहुत कुछ किया। मां लातीशिआ और भाई लूसिआं के अतिरिक्त सभी भाई बहन और रिश्तेदार, यहां तक कि सौतेली संतानें भी उसकी स्थिति से लाभ उठाते थे। इतिहास में शायद ही कोई ऐसा परिवार हो जिसका प्रायः हर सदस्य कहीं न कहीं का शासक रहा हो। उसके परिवार को राजाओं का परिवार (फैमिली आफ मोनार्क्स) कहा जा सकता है।

जेम्स केम्बल के अनुसार वह अपने परिवार के लोगों के लिए शासन स्थलों का इस तरह वितरण करता था मानो क्रिसमस के दिन उपहार बांट रहा हो। लेकिन बाद में उसका यह परिवार उसके लिए बोझ बन गया। उनसे उसे उचित सहयोग नहीं मिला। वस्तुतः परिवार में उसके और लूसिआं के अतिरिक्त सभी लोग साधारण प्रतिभा के लोग थे। उसकी बहनें न केवल शाहखर्च थीं बल्कि प्रायः उसकी बदनामी का कारण भी बन जाती थीं। केवल उसकी मां इन सब चीजों से दूर रहती थी। वह उस दिन भी पेरिस में मौजूद नहीं थी जिस दिन नेपोलियन का राज्याभिषेक हुआ था। अपना परिवार नियंत्रित रखकर नेपोलियन अपनी मुसीबतें कम भी कर सकता था।

व्यावहारिक स्तर पर भी उसमें कई कमजोरियां थीं। वह जीवन भर सही व्यक्तियों का चुनाव नहीं कर सका। लोग उससे या तो प्रभावित होते या भयभीत। वह किसी में मित्र भाव नहीं जगा पाता था। उसका निकट का सहयोगी बर्नेदात जब स्वीडेन का राजा चुन लिया गया तो वह भी नपोलियन का सक्रिय विरोध करने लगा। इसी प्रकार उसके गृहमंत्री फूशे और विदेशमंत्री तालिरां ने भी विश्वासघात किया। अंतिम दिनों में उसका कोई भी भाई-बंधु उसके किसी काम नहीं आया। जिस प्रकार सही व्यक्तियों का सहयोग किसी की सफलता में काम आ सकता है उसी तरह गलत व्यक्ति आस्तीन के सांप भी बन सकते हैं।

नेपोलियन ने कुछ ऐसे नृशंस काम किए जो अक्षम्य थे, जैसे आंघें के ड्यूक की हत्या। नेपोलियन की भी हत्या के षड्यंत्र होते रहते थे। आर्तुआ का ड्यूक ने लंदन में रहकर एक योजना बनाई थी जिसमें नेपोलियन से रुष्ट कई प्रसिद्ध लोग शामिल थे। इस योजना का भंडाफोड़ हो गया और वे लोग पकड़े गए। उन्हें बुरी तरह मार पीटा गया लेकिन आर्तुआ हाथ नहीं आ सका। नेपोलियन ने बूर्बो वंश के एक मासूम व्यक्ति ड्यूक आंघें को पकड़ कर मंगवाया और उसकी निर्मम हत्या करवा दी। इस हत्या से संपूर्ण यूरोप स्तब्ध रह गया। नेपोलियन ने स्वयं इसे एक गलती मानी थी।

नेपोलियन की ऐसी अनेक गलतियों का, जैसे स्पेन में हस्तक्षेप, इंग्लैंड से व्यावसायिक युद्ध मोल लेना और रूस पर हमला, पिछले पृष्ठों में विश्लेषण हो चुका है। इसी तरह उसने सैनिक तंत्र संगठित करते समय अपनी शक्ति को देश की आर्थिक प्रगति से नहीं जोड़ा। कृषि और उद्योग की उन्नति के बारे में न तो स्वयं उसे पता था और न ही इस विषय में उसके पास उपयुक्त सलाहकार थे। सारा नियोजन तात्कालिक स्थितियों को ध्यान में रखकर होता था। वह मध्ययुगीन स्थितियों से उबर नहीं पाता था और कभी भी आधुनिकता का वाहक बनकर समाज में मौलिक परिवर्तनों के लिए सचेष्ट नहीं हुआ। उसे यह अवश्य मालूम रहा होगा कि भाप की शक्ति से इंग्लैंड के उद्योगों का कायाकल्प ही कर दिया है, परंतु फुल्टन जब उसके पास वाष्पचालित जहाजों की योजना लेकर आया तो उसने उसे एक जिज्ञासु की तरह उस योजना को क्रियान्वित नहीं किया। क्रांति काल में मध्यमवर्ग ने सामंतों को नीचा दिखाया था। युग मध्यमवर्ग के साथ था। लेकिन नेपोलियन ने सामंती, मध्यमवर्गीय तथा बुर्जुआ मान्यताओं का समन्वय करना चाहा। यह वक्त के खिलाफ इच्छा थी और किसी भांति भी इसका पूरा होना असंभव था।

अंत में कुछ तात्कालिक स्थितियों पर विचार कर लेना उपयुक्त होगा। यदि नेपोलियन को जोसेफिन से एक पुत्र की प्राप्ति हो गई होती तो संभव था कि वह नियंत्रित होकर अपने उत्तराधिकारी के हित की बात सोचता और निर्बाध रूप से केवल हमलावर बनने की ओर अपने को नहीं मोड़ता। वह स्वयं कहा करता था कि यदि उसे जोसेफिन से अपने साम्राज्य का उत्तराधिकारी मिल गया होता तो उसकी बहुत सी समस्याएं हल हो गई होतीं। दूसरी पत्नी की तलाश में उसने संबंध भी बिगाड़ दिए। आस्ट्रिया की राजकुमारी मारी लुइजा ने उसे एक संतान अवश्य दिया लेकिन अब उसके साथ किसी प्रकार का समझौता करने के लिए विरोधी तैयार नहीं थे। एक बार यह बात चली भी कि यह अपने पुत्र के हक में गद्दी छोड़ दे। लेकिन नेपोलियन ने इसे तत्काल नहीं स्वीकार किया। और जब स्वीकार किया तब तक देर हो चुकी थी।

उसने क्रांति की ऐसी उपलब्धियों को नकार दिया था जिनपर फ्रांस का प्रबुद्ध वर्ग गर्व करता था। देश में किसी भी तरह की आजादी नहीं थी। सेंसर इतना सख्त था कि नेपोलियन के विपरीत जाने वाली कोई भी खबर प्रकाश में नहीं आ पाती थी। ट्रैफेग ।र की हार दस वर्षों बाद अच्छी तरह प्रकाशित हो पाई थी। फूशे ने जासूसी की ऐसी साजिश की थी कि देश में आतंक का ही वातावरण रहने लगा। क्रांति को

नकारना, उसे नष्ट करना या उस पर पर्दा डाल देना अपने पतन के बीज बोने जैसा था। नेपोलियन ने यही किया। उसकी नीतियों से हर तरह के लोगों में असंतोष बढ़ रहा था। बाद में फूशे ने उसके विरुद्ध षड्यंत्र में शामिल होकर नेपोलियन को पदच्युत करने में मदद पहुंचाई। तालिरां नेपोलियन का विदेश मंत्री और महान कूटनीतिज्ञ था। आमिआं की संधि के समय से ही वह नेपोलियन की विदेश नीति से जुड़ा हुआ था। बाद में उसने नेपोलियन को फ्रांस के हितों के लिए घातक समझकर उसके विरोधियों को भड़काना शुरू कर दिया था। इस संबंध में जार अलेक्जेंडर से हुई बातचीत महत्वपूर्ण है। उसने जार से कहा था : 'फ्रांस की जनता सभ्य है लेकिन उसका शासक नहीं। रूस का शासक सभ्य है उसकी प्रजा नहीं। इसलिए एक सभ्य शासक को एक सभ्य जनता की मदद करनी चाहिए।' इस प्रकार वह न केवल नेपोलियन को बदनाम करता था फ्रांस की जनता और शासक में अंतर रखने की चाल चलकर अन्य शासकों को फ्रांस नहीं, नेपोलियन का विरोध करने की सलाह देता था इससे स्पष्ट था कि नेपोलियन की लंका में विभीषण की कमी नहीं थी।

1813 में उसकी हार शुरू हो गई थी। उस समय भी आस्ट्रिया ने अपने मित्र देशों को नेपोलियन के साथ समझौते के लिए तैयार कर लिया था। उस समय नेपोलियन के राज्य की सीमाएं इतनी विस्तृत हो जातीं जितनी लूई चतुर्दश ने भी नहीं सोची होगी। लेकिन नेपोलियन उस समय भी युद्ध की नीति छोड़ने के लिए तैयार नहीं था। नेपोलियन ने 1802 में ही कहा था : 'फ्रांस को गरिमा की, इसीलिए युद्ध की आवश्यकता है···मुझे लगता है कि मेरी किस्मत में अपने कार्यकाल में लड़ते रहना ही लिखा है।' इस संदर्भ में अंतिम दिनों में मेटरनिख से हुई उसकी बात भी ध्यान देने योग्य है! मेटरनिख द्वारा यह पूछे जाने पर कि वह शांति की कोशिश क्यों नहीं करता, उसने कहा था कि वह यूरोप के अन्य शासकों की तरह राजघराने में नहीं पैदा हुआ था। उसने युद्धों के माध्यम से राज्य पाया था। अन्य शासकों की तरह वह भी युद्ध में हारकर राज्य करते रहने के विषय में आश्वस्त नहीं रह सकता था। एक बार हारते ही फ्रांस की जनता उसे अस्वीकार कर देगी! और ऐसा ही हुआ। उसका ख्याल था कि जब तक सारा यूरोप एक शासक के अधीन नहीं हो जाता, शांति स्थापित नहीं हो सकती।

इतिहासकार काब्बन ने ठीक ही कहा है कि नेपोलियन का साम्राज्य युद्ध में पनपा था, युद्ध ही उसके अस्तित्व का आधार बना रहा और युद्ध में ही उसका अंत होना था। 1814 में फ्रांस पर पांच तरफ से हमले हो रहे थे। वेलिंगटन, ब्लूशर और बर्नेदात जैसे सेनापति मित्र देशों की सेनाओं का नेतृत्व कर रहे थे। तब भी यदि वह समझौता कर लेता तो फ्रांस की वही सीमा रह जाती जो 1792 में थी। लेकिन वह असाधारण प्रतिभा का परिचय दे रहा था। एक एक कर दुश्मनों को स्तब्ध कर रहा था। इस समय शोमों में इंग्लैंड, रूस, आस्ट्रिया और प्रशा ने बीस साल की संधि कर ली और हर देश ने डेढ़ डेढ़ लाख की फौज जुटाने का वादा किया। इंग्लैंड ने पचास लाख पौंड की आर्थिक सहायता दी।

नेपोलियन के विरुद्ध युद्ध का अंतिम दौर शुरू हुआ। नेपोलियन का हर दाव अस-

फल हुआ। उसके समस्त सहयोगी देश एक एक कर अलग हो रहे थे। फ्रांस में आंतरिक समर्थन समाप्तप्राय था। साधन भी नहीं बचे थे। पेरिस पर मित्र राष्ट्रों का कब्जा हो गया। नेपोलियन ने फोंतैंब्लो की संधि में पद त्याग कर दिया और उसे ढ़ाई करोड़ फ्रांक की पेंशन तथा सम्राट के पद के साथ एल्बा नामक टापू दे दिया गया।

उसने अपने छोटे से साम्राज्य को सुगठित प्रशासन दिया और फ्रांस की स्थितियों का आकलन करता रहा। तालिरां ने वैधता के सिद्धांत के माध्यम से हारे हुए फ्रांस को अपमानित होने से बचा लिया था। वियेना में यूरोप को पुनर्गठित करने के लिए सम्मेलन हो रहा था। उसी समय एक अप्रत्याशित घटना हुई।

फ्रांसीसी जनता यह नहीं भूल पाई कि कुछ दिनों पहले फ्रांस की सेना मास्को से मैड्रिड तक रौंदती थी और अब विदेशी सेनाएं फ्रांस में एक भगोड़े परिवार को पुनर्स्थापित कर रही थीं। प्रशासन ढीला और अनिश्चित था। उधर नेपोलियन को नियमित रूप से पेंशन नहीं दी जा रही थी। उसकी पत्नी को एल्बा नहीं जाने दिया जा रहा था और वह हर तरह से असम्मानित हो रही थी। उसने लक्ष्य किया कि विरोधी देशों में फूट पड़ रही है। नेपोलियन ने दुस्साहस किया और वह फ्रांस लौट आया। हर जगह उसका स्वागत हुआ। मार्शल ने नेपोलियन को पिंजड़े में बंद कर पेरिस लाने का वादा किया था वह भी उसके साथ हो गया और लूई अठारहवां भाग चला। नेपोलियन ने घोषणा की कि वह एक संवैधानिक शासक की तरह राज्य करेगा और अपने पुत्र के हक में राज का त्याग कर देगा। लेकिन उस पर विश्वास करना असंभव था। मित्र देश फिर एक होकर फ्रांस पर हमलावर हो गए।

नेपोलियन ने सोचा कि वह एक एक कर सबसे निबट लेगा। उसने एक लाख अस्सी हजार की सेना जुटाई और बेल्जियम की ओर बढ़ा जहां इंग्लैंड की फौज वेलिंगटन के नेतृत्व में इकट्ठा हो रही थी। अपने जीवन के अंतिम युद्ध में निर्णय लेने की वह प्रतिभा नहीं दिखा सका जिसके लिए वह प्रसिद्ध था। कुछ घंटों की देर ही घातक सिद्ध हुई।

वाटरलू के ऐतिहासिक युद्ध में वेलिंगटन ने नेपोलियन की सेना को भून डाला। शाम तक ब्लूशर भी आ पहुंचा था। नेपोलियन से भागते ही बना। इधर लाफाय्यत और फूशे ने सरकार को उसके विरोध में खड़ा कर दिया था। उसने पुनः अपने लड़के के हक में पद त्याग किया। एक बार अमेरिका भागने की भी बात सोची, लेकिन वह शीघ्र निर्णय नहीं कर सका। अंततोगत्वा उसे एक ब्रिटिश जहाज पर आत्मसमर्पण कर देना पड़ा।

बर्ट्रेंड रसेल के अनुसार नेपोलियन के पतन में अलेक्जेंडर ने ईश्वर की अनुकंपा देखी, प्रशा ने भ्रष्टाचार और नास्तिकता पर नैतिक मूल्यों की विजय देखी, आस्ट्रिया ने इसमें पारंपरिक अधिकारों की जीत देखी, अंग्रेजों ने सामुद्रिक शक्ति और अपनी उत्पादन क्षमता की विजय देखी और सारे विश्व को नेपोलियन के पतन में शांति की संभावना दीखी। उसे सुदूर अटलांटिक में स्थित सेंट हेलेना भेज दिया गया ताकि वह फिर दुस्साहस न कर सके। वहां के अंगरेज प्रशासक सर हडसन लो की नीचता का शिकार नेपोलियन किसी तरह अपने कुछ प्रशंसकों के बीच अपनी जीवन गाथा लिखाता

हुआ बड़े ही आत्मसम्मान के साथ करीब छः वर्षों तक जीवित रहा और 5 मई 1821 को उसकी वहीं मृत्यु हो गई।

इस तरह नेपोलियन यूरोप की राजनीति से लुप्त हो गया लेकिन फ्रांस की जनता उसे भुला नहीं सकी। ज्यों ज्यों स्थिति खराब होती गई उसकी स्मृतियां ताजी होती गईं और अंत में लूई फिलिप को सेंट हेलेना से उसके अवशेष मंगाकर पेरिस में दफन करने पड़े। मृत नेपोलियन अंत में फिर एक बार जीत गया।

नेपोलियन का पतन अवश्यंभावी था। वाटरलू में विजय हासिल करने पर भी प्रशा, आस्ट्रिया, रूस और स्वीडेन की सेनाओं से उसे जूझना पड़ता। उसने जिस दिन सारे यूरोप पर प्रभुत्व जमाने की बात सोची थी उसी दिन इंग्लैंड को अपना प्रतिद्वंद्वी बना लिया। इंग्लैंड केवल यूरोप ही नहीं संपूर्ण विश्व में उस समय सबसे शक्तिशाली देश था और इसके पहले कि कोई उसका प्रतिद्वंद्वी खड़ा होता, वह अपनी सारी शक्ति लगाकर उसे कुचल देने को तैयार था। उसकी नौसेना तो वेमिसाल थी ही। ट्वायनबी ने लिखा है कि इंग्लैंड का द्वीपों जैसा एकाकीपन बार बार उसके काम आया है। फिलिप द्वितीय से उसकी रक्षा हुई, नेपोलियन से उसने बचाया और बाद के दो महायुद्धों में भी लाभ हुआ। नेपोलियन इंग्लैंड पर हमला करने में असमर्थ था, परंतु इंग्लैंड तो लड़ ही सकता था, नेपोलियन के विरोधियों को धन और कुमक पहुंचाकर विरोधी मोर्चे को जीवित भी रख सकता था। न तो इंग्लैंड की भूमि पर आंच आई और न ही उसके व्यापार पर। संपूर्ण विश्व में फैले उसके उपनिवेश उसके लिए पूर्ति के सतत स्रोत थे। जब नेपोलियन ने औपनिवेशक साम्राज्य बनाना चाहा तो उसे असफलता ही मिली। उसने स्पेन से अमेरिका स्थित लूसिआना प्रदेश ले लिया था लेकिन अंत में अमेरिका के हाथों बेचना पड़ा। हाइती द्वीप पर आधिपत्य जमाने के लिए उसे पच्चीस हजार सैनिक और अपने बहनोई जनरल लक्लर्क को भेजा। वहां के बहादुर और प्रतिभाशाली नेता तर्फ़ लूवरत्यूर को धोखा देकर बंदी बनाया गया। लेकिन ब्रिटिश नौसेना के आने पर इस द्वीप को छोड़ देना पड़ा। इस प्रकार उपनिवेश बनाने में भी नेपोलियन असफल रहा।

प्रश्न केवल नौसेना का ही नहीं था। संघर्ष दो मूल्यों और दो पद्धतियों के बीच था। नेपोलियन पूंजीवादी ज्वार के मार्ग में अवरोध बन रहा था। आधुनिक तत्वों के मुकाबले में वह पिछड़ा हुआ एक रूढ़िवादी था। इतिहास की धारा रोक पाना उसके लिए असंभव था। परिणामतः वह तिनके की तरह बह गया।

मूल्यांकन : इतिहास की व्यक्तिवादी व्याख्या के अनेक दोषों में सबसे प्रधान दोष यह है कि वह स्थितियों से अधिक व्यक्ति को महत्व देती है और इस प्रकार महान या युग निर्माता जैसे विशेषणों से विभूषित व्यक्ति ही इतिहास का निर्णायक तत्त्व लगने लगता है। जबकि ऐसा होता नहीं है। समाज की आर्थिक स्थितियों में निहित संघर्ष के कारण समयानुकूल व्यक्ति का आचरण निर्धारित होता रहता है। समाज के द्वंद्वात्मक संघर्ष में कुछ व्यक्तियों को बड़ी भूमिका निभानी पड़ती है और उनके आचार व्यवहार तथा कार्यकलाप स्थितिजन्य एक विशेष प्रवृत्ति की चरम अभिव्यक्ति बन जाते हैं। इसका अर्थ यह नहीं कि इतिहास को नियतिवादी की तरह देखा जाए और यह मान लिया जाए

कि सब कुछ पूर्व निश्चित है और मनुष्य कठपुतली मात्र है। मनुष्य का श्रम ही इतिहास का निर्णायक तत्व रहा है। इसे समझने के लिए व्यक्तिवादी नहीं समष्टिवादी दृष्टिकोण वैज्ञानिक समझ पैदा करता है। इतिहास की आदर्शवादी व्याख्या व्यक्ति को न राह दिखाती है, न आश्वस्त करती है जबकि भौतिकवादी व्याख्या से मनुष्य अपने उज्ज्वल भविष्य के लिए संघर्षरत रहने की प्रेरणा पाता है।

इस दृष्टि से देखने पर पता चलता है कि नेपोलियन का मूल्यांकन करते समय इतिहासकार प्रायः उसकी प्रतिभा से चमत्कृत होते रहे हैं। वह स्वयं अपने को परम भाग्यशाली कहा करता था। उसकी अंगूठी पर 'डी' अक्षर खुदा होता था। विडंबना यह है कि अपने को भाग्यशाली कहने वाला व्यक्ति यह नहीं समझता कि वह भाग्यशाली कहकर अपनी योग्यता और श्रम को नकार रहा है। यदि नेपोलियन वास्तव में भाग्यशाली था तब उसकी प्रशंसा या उपलब्धियों का क्या अर्थ होगा ? फिर तो भाग्य ने उसे कठपुतली या उपकरण बनाकर जो चाहा उससे करवाया।

इतिहास का शायद ही कोई ऐसा चरित्र हो जो नेपोलियन की तरह आकर्षक हो। इसीलिए जितनी पुस्तकें उस पर उपलब्ध हैं अन्य किसी व्यक्ति के इतिहास पर नहीं हैं। 1969 में जब उसकी दूसरी जन्मशती मनाई गई तो उससे संबंधित प्रकाशनों की बाढ़ आ गई। हर युग और हर इतिहासकार अपने अनुसार नेपोलियन को समझता रहा है। डच इतिहासकार पीटरजिल ने नेपोलियन के मूल्यांकनों की व्याख्या एक अत्यंत महत्वपूर्ण पुस्तक 'नेपोलियन : पक्ष और विपक्ष' में प्रस्तुत की है। इससे पता चलता है कि नेपोलियन को देवतुल्य और युगनिर्माता से दुष्ट और शैतान तक सिद्ध किया गया है।

यह सच है कि नेपोलियन में असाधारण प्रतिभा थी। वह स्वयं शिक्षित व्यक्ति था और इतिहास का उसने विशद अध्ययन किया था। वह कहता था कि सबसे बड़ा दर्शन इतिहास ही है। यह दूसरी बात है कि उसने, जैसाकि हेगेल कहता है, इतिहास से कोई शिक्षा नहीं ली। वह सम्राट न भी होता तो एक असाधारण सेनापति के रूप में निश्चय ही जाना जाता। अपने सैन्य संचालन में नेपोलियन ने उनका भरपूर उपयोग किया। लेकिन उसने नई गतिशीलता और दूरदर्शिता का परिचय दिया। वह कहा करता था 'युद्ध में बुद्धि ही निर्णायक होती है।' उसका यह भी मत था कि विजय के लिए तीव्रता बहुत आवश्यक है। युद्ध में स्थितियों और युद्धक्षेत्र का सूक्ष्म अध्ययन करना उसकी आदत थी। वह इस अध्ययन के बाद रणनीति निश्चित करके अपने सेनापतियों को आदेश दे देता था और निश्चित हो जाता था। प्रायः आदेशों में परिवर्तन की आवश्यकता नहीं पड़ती थी और युद्ध में विजय हासिल हो जाती थी। व्यक्तिगत रूप से जोखिम उठाने से वह कतराता नहीं था। युद्ध में वह बड़ी नृशंसता से हिस्सा लेता था। युद्ध की लागत को वह धन और शस्त्रास्त्र ही नहीं सैनिकों की मृत्यु संख्या पर भी ध्यान रखकर निर्धारित करता था। अक्सर वह पूछता था कि अमुक युद्ध में कितने सैनिकों से काम चल जाएगा। लेकिन नए आविष्कारों में उसने दिलचस्पी नहीं ली और नौसेना के संगठन में उसने वह प्रतिभा नहीं दिखाई जो स्थल सेना के क्षेत्र में दिखाई।

एक सफल सैनिक और सेनापति होने के साथ ही वह एक बहुत अच्छा संवाददाता

(रिपोर्टर) भी था। उसके भेजे हुए डिस्पैच युद्ध की बेमिसाल रपटों में गिने जाते हैं और चर्चिल के डिस्पैचों की याद दिलाते हैं। कूटनीति की समझदारी का उसने सुंदर परिचय दिया था। कैंपोफार्मियों की संधि उसकी व्यक्तिगत उपलब्धि थी। बाद में आमियों से टिलसिट की संधि तक उसने बातचीत के माध्यम से ही विजय यात्रा जारी रखी थी।

एक प्रशासक के रूप में भी वह असाधारण था। नेपोलियन जहां-जहां गया, कुछ ही दिनों में उसने वहां का प्रशासन व्यवस्थित और पुनर्गठित कर दिया। उसके जीते हुए प्रदेशों से उसकी सेनाओं को हटना पड़ा लेकिन उसके सुधार कायम रह गए। यहां तक कि कुछ ही दिनों में एल्बा को उसने नया स्वरूप दे दिया था। यद्यपि वह आत्मकेंद्रित और दंभी प्रकृति का व्यक्ति था, उसे निम्न मध्यवर्गीय और साधारण लोगों के हित के बारे में एक प्रबुद्ध तानाशाह की तरह सोचने की आदत थी। कभी कभी वह उनकी भलाई के काम भी कर देता था। उसके द्वारा निर्मित कानून, शिक्षा और प्रशासन की व्यवस्था आज भी बिना बहुत बड़े परिवर्तन के फ्रांस ही नहीं अन्य देशों में भी वर्तमान है।

इतने सारे गुणों के साथ ही उसे पठन-पाठन में भी रुचि थी। कुछ विषयों के अध्ययन में वह विशेष रुचि लेता था। मिस्र से लौटने के बाद पेरिस की प्रतिष्ठित संस्था 'इंस्टीच्यूट' में उसने मिस्र के पुरातत्व पर एक निबंध पढ़ा था। उसने और भी लेख लिखे-लिखवाए थे। अपनी जीवनगाथा लिखवाने में उसने एक विशिष्ट शैली का प्रयोग किया था। विद्वानों की संगति करने की उसे अक्सर इच्छा होती थी। लेकिन उसे सुसंस्कृत व्यक्ति नहीं कहा जा सकता। तालिरां तो उसे गंवार मानता था। विद्वानों के साथ उसका व्यवहार ठीक नहीं था क्योंकि वह उन्हें नीचा दिखाने और अपने अनुकूल बनाने की कोशिश करता था। प्रसिद्ध जर्मन साहित्यकार गेटे ने उसे खरी खोटी सुनाई थी और मादामद स्ताएल ने नेपोलियन की चाटुकारिता करने से इंकार कर दिया था। साहित्य और कला में भी वह केवल अपना पक्ष पुष्ट करना चाहता था।

नेपोलियन के बारे में कहा जाता है कि वह केवल जीतने के लिए खेलता था। सीधे नहीं जीतता तो बेइमानी करता था। उसका यही दृष्टिकोण जीवन भर रहा। उसने फ्रांस और यूरोप की जैसी भी कल्पना की उसके केंद्र में स्वयं को ही रखा। रिशलिउ ने अपने राजा लूई तेरहवें से कहा था कि वह फ्रांस को यूरोप में और लूई को फ्रांस में सर्वोच्च बनाना चाहता है। नेपोलियन भी फ्रांस को सबसे शक्तिशाली बनाना चाहता था, लेकिन अपने व्यक्तित्व के ही विस्तार में या स्वयं सर्वशक्तिमान की तरह प्रतिष्ठित रहकर। उसकी तरह प्रतिष्ठित रहकर। उसकी विजयों ने नए यूरोप की पृष्ठभूमि बनाई—परोक्ष रूप से जर्मनी और इटली के एकीकरण का मार्ग भी प्रशस्त किया लेकिन वह विजित प्रदेशों को नए उपनिवेशों की तरह नहीं ढाल सका।

उसने क्रांति की उपलब्धियों को सारे यूरोप में विस्तृत किया। फ्रांस की क्रांति को यूरोप की क्रांति बनाने में उसके विस्तार और प्रशासन से महत्वपूर्ण योगदान मिला। जहां उसने प्रत्यक्ष रूप से कुछ नहीं किया वहां उसके आतंक या उसके विरोध में राष्ट्रीय संगठन के लिए सुधार किए गए।

नेपोलियन की महत्वाकांक्षा की कोई सीमा नहीं थी। शक्ति के चरमोत्कर्ष पर पहुंचकर भी वह कहता था कि मैं सिकंदर की तरह 'जुपिटर का पुत्र' जैसी कोई स्थापना अपने लिए नहीं पा सकता। वह अपने ही समय से क्षुब्ध था और कहा करता कि : 'अब कोई महान कार्य करना संभव नहीं है।' जाहिर है कि वह अपने ऊपर देवत्व भी आरोपित करना चाहता था जो उन्नीसवीं शताब्दी में किसी भांति भी स्वीकार्य नहीं होता। यह एक विडंबना ही है कि इतना शक्तिशाली व्यक्ति भी अंधविश्वासी था उसे लगता कि वह इतिहास पुरुष है और नियति ने उसे विशेष तरह का कार्य सौंपा है। उसे लगता था कि महानता पूरब में मिलती है—सिकंदर और सीजर पूरब की जीत से ही आगे बढ़े थे। मिस्र अभियान के पीछे एक यह भी कारण था। अक्सर वह अपने साम्राज्य के अद्भुत सपने देखता था। इसलिए हम कह सकते हैं कि वह यथार्थवादी और कभी कभी तो व्यावहारिक भी, नहीं था।

नेपोलियन का मूल्यांकन करने में कठिनाई यह है कि उसने स्वयं जो कुछ अपने बारे में लिखा वह इतिहास में अपने को श्रेष्ठ और सही साबित करने के लिए लिखा और दूसरों ने जो कुछ लिखा है वह प्रशंसा या घृणा से प्रेरित है। इतिहासकार स्लोन ने उसका मूल्यांकन करते हुए लिखा है कि वह क्रांति का दमन करने वाला, मध्यमवर्गीय शासक, साम्राज्यवादी जनतांत्रिक, सर्वोच्च नेता, नागरिक सुधार करने वाला और परिस्थितियों का शिकार था। उसकी प्रतिभा के आयाम निस्सीम थे पर उसे शैतान की किस्मत मिली थी। वह आधुनिक इतिहास का सबसे दुखद चरित्र है। इस तरह स्लोन उसके चरित्र के विरोधी तत्वों पर प्रकाश डालते हुए भी उसके प्रति सहानुभूति प्रदर्शित करता है। लूई मादलें नेपोलियन को समझौता और समन्वय का समर्थक कहता है और नेपोलियन को फ्रांस के घावों पर मरहम लगाने वाला बताता है। निश्चित ही मादलें नेपोलियन से प्रभावित है और सहानुभूति रखता है। स्पेंगलर के अनुसार नेपोलियन के जीवन की 'ट्रेजेडी' (त्रासदी) एक कवि ही महसूस कर सकता है। यह त्रासदी ही तो है कि नेपोलियन से मानवीय स्तर पर बहुत कम ही संबंध स्थापित हो पाए। जोसेफिन से वह अवश्य लड़-झगड़ लेता था। उसको लिखे पत्रों में एक प्रेमी और ईर्ष्यालु पति की झलक मिलती है। अपनी सौतेली लड़की आरतांज से भी उसके संबंध मृदु थे। उसके खानपान और वेशभूषा में कुछ भी असामान्य नहीं था। उसके निकट के परिचर कोंस्तां ने लिखा है कि एक बार नेपोलियन बीमार था, परंतु किसी का साहस नहीं हो रहा था कि उसकी बीमारी के बारे में पूछे। 'भला सम्राट साधारण व्यक्तियों की तरह बीमार कैसे पड़ सकता है?' ऐसी स्थिति में उसका व्यक्तिगत जीवन, मित्रता और आत्मीयता से कितना शून्य रहा होगा इसकी सहज ही कल्पना की जा सकती है।

जेम्स केंबल ने नेपोलियन की शारीरिक हालत और उसके स्वास्थ्य के संबंध में तथ्य जुटाकर एक दिलचस्प पुस्तक लिखी है 'अमर नेपोलियन'। उसके अनुसार नेपोलियन एक उदास, गैर मिलनसार, चुप्पा और आत्मकेंद्रित व्यक्ति था। शायद उसे खंडित व्यक्तित्व वाला कहना अनुपयुक्त नहीं होगा। केंबल का यह मत नेपोलियन के दोहरे व्यक्तित्व की ओर इशारा करता है। नैतिक दृष्टि से यह भी कहा जाता है कि वह

उतना महान था जितना कोई व्यक्ति बिना सद्‌गुणों के हो सकता है।

नेपोलियन ने प्रयत्क्ष या परोक्ष रूप से सारे यूरोप में सुधारों का दौर शुरू किया था। उसने राष्ट्रीयता के आधुनिक मूल्यों को जगाया और ये ही तत्व जो उन्नीसवीं शताब्दी को अठारहवीं शताब्दी से भिन्न सिद्ध करता है। नेपोलियन की सारी शक्ति मध्ययुगीन या कभी कभी तो प्राचीन साम्राज्यवाद के पोषण में ही लगी। मार्क्स उसमें जूलियस सीजर की छाया देखता है। नेपोलियन ने असाधारण रूप से एक असाधारण कार्य करना चाहा था। इसलिए वह इतिहास का चरित्र तो है परंतु साथ ही साथ वह यह भी स्पष्ट कर देता है कि असाधारण होना अपने में कोई बहुत बड़ी बात नहीं होती यदि वह प्रगति का मार्ग न प्रशस्त करे। और यह निर्विवाद है कि नेपोलियन प्रगति नहीं प्रतिक्रियावादिता का प्रतीक है।

नेपोलियन उन शक्तियों का प्रतिनिधि था जो इतिहास क्रम की विरोधी होती हैं। ऐसी शक्तियों का समस्त प्रभाव चमत्कारी हो सकता है और नेपोलियन ने वास्तव में चमत्कारी कार्य किए थे और आज भी लोगों को चमत्कृत करता है; लेकिन जैसे चमत्कारों का कोई आधार नहीं होता और वैज्ञानिक यथार्थ के सामने उनका भंडाफोड़ हो जाता है; वैसे ही नेपोलियन और उसकी व्यवस्था को इतिहास के यथार्थ और उसकी शक्तियों के आगे घुटने टेकनें पड़े थे और आज भी ऐतिहासिक मूल्यांकन के समय कालक्रम में उसे महत्वपूर्ण किंतु अस्थाई प्रभाव के रूप में देखा जाता है।

3

कांग्रेस व्यवस्था का युग

नेपोलियन की पराजय के बाद यूरोप में कई तरह के तनावों और अन्तर्द्वंद्वों ने निर्णायक भूमिका अदा की, निरंतरता और परिवर्तन की शक्तियों में खींचतान मची हुई थी। राजतंत्र, चर्च, सामंत और पच्चीस वर्षों की उथल-पुथल के बाद शांति और स्थिरता की आकांक्षा यथास्थिति की पोषक शक्तियां थीं। बढ़ती जनसंख्या, औद्योगिक विकास, नगरों का विकास और वृद्धि, राष्ट्रवाद और क्रांति के कारण जन्में तथा विकसित और प्रसारित विचार परिवर्तन के वाहक तत्व थे। इन दो शक्तियों के संघर्ष में प्रारंभ में पहली को सफलता मिली फिर भी इन्हीं के द्वंद्व ने नेपोलियन के बाद के यूरोप का निर्णय किया।

नेपोलियन को पराजित करने में जिस समवेत प्रयास को सफलता मिली थी उसे आगे भी जारी रखना उचित और उपयोगी समझा गया। यूरोप की पुनर्व्यवस्था और उस व्यवस्था की सुरक्षा के लिए मिल-जुलकर एक संगठन बनाए रखने की दिशा में कांग्रेस का जो क्रम वियेना में शुरू हुआ वह वेरोना तक चला। इस बीच हुए सम्मेलनों में प्रमुख रूप से आस्ट्रिया और रूस सक्रिय रहे। कभी कभी फ्रांस और प्रशा जैसे अन्य देशों का भी योगदान महत्वपूर्ण होता था। कांग्रेसों का यह क्रम अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था की शुरुआत करने में अपनी असफलताओं के बावजूद ऐतिहासिक समझा जाता है।

वियेना कांग्रेस

नेपोलियन कहा करता था कि फ्रांस की जनता स्वतंत्रता की नहीं समानता की इच्छुक है। मेटरनिख कहता था कि यूरोप को स्वतंत्रता नहीं शांति चाहिए। यूरोप ने नेपोलियन युग से मेटरनिख युग में वियेना की कांग्रेस के माध्यम से ही प्रवेश किया था। यदि उन्नीसवीं शती के प्रारंभिक पंद्रह वर्षों पर नेपोलियन की अमिट छाप थी तो उसके बाद के तैंतीस वर्षों पर आस्ट्रिया के चांसलर (प्रधानमंत्री) मेटरनिख का व्यक्तित्व छाया रहा और उसकी नीतियों को प्रधानता मिलती रही। वियेना कांग्रेस में नेपोलियन और क्रांति को दफन करके जहां तक संभव था पुरातन व्यवस्था के मूल्यों की पुनर्स्थापना करने का प्रयास किया गया।

नेपोलियन के विरुद्ध इंग्लैंड, आस्ट्रिया, प्रशा और रूस ने मार्च 1814 में शोमों की संधि की थी। इसके अनुसार नेपोलियन की पराजय के बाद भी बीस वर्षों तक क्षेत्रीय और राजनैतिक निर्णयों को लागू करने के लिए सहयोग करना था। नेपोलियन की

पराजय के बाद मई 1814 में फ्रांस के साथ एक अत्यंत उदार संधि के द्वारा उसे 1792 की सीमा प्रदान की गई थी। तभी नेपोलियन की एल्वा से वापसी ने स्थिति को एकदम बदल दिया था। उसकी वाटरलू में अंतिम पराजय के बाद नवंबर 1915 में हुई दूसरी संधि अधिक कठोर थी। फ्रांस मुश्किल से अल्सास और लोरेन बचा पाया था और फ्रांस की भूमि पर विजेताओं की सेनाएं तब तक के लिए छोड़ दी गई थीं जब तक फ्रांस युद्ध का हर्जाना न चुका देता।

नेपोलियन के प्रथम पदत्याग के बाद ही यूरोप के भविष्य की रूपरेखा मिल-जुलकर बनाने की योजना शुरू हुई थी। पेरिस की प्रथम संधि के द्वारा विजेताओं ने बूर्बो वंश को फ्रांस में पुनर्स्थापित तो कर दिया था, लेकिन अन्य प्रश्नों पर विचार होना बाकी था। इसलिए मेटरनिख के बढ़ते प्रभाव के कारण आस्ट्रिया की राजधानी वियेना में एक सम्मेलन बुलाया गया। यह एक ऐतिहासिक सम्मेलन था। दुनिया के इतिहास में पहली बार इतने राजप्रमुख और राजनेता एक साथ इकट्ठा हुए थे। नेपोलियन की उपस्थिति में तो इन देशों में एकता बनी रही लेकिन मुख्य विरोधी का पतन होते ही विजेताओं के अपने अंतर्विरोध बढ़ने लगे। लेकिन तभी नेपोलियन एल्वा से लौट आया और पेरिस की संधि पर पानी फिर गया। शांति की बात करने आए लोग जल्दी जल्दी युद्ध की तैयारी के लिए भागे। वाटरलू की पराजय के बाद नेपोलियन को अंतिम रूप से ठिकाने लगा कर ही वियेना कांग्रेस का कार्य फिर से शुरू हो सका।

इस समय वियेना दुल्हन की तरह सजी थी। रूस, प्रशा और आस्ट्रिया के राजा, इंग्लैंड के ड्यूक आफ वेलिंगटन और विदेश मंत्री कासलरिआ तथा फ्रांस का चालाक कूटनीतिज्ञ तालिरां वहां उपस्थित थे। इनकी चकाचौंध में यूरोप के अन्य राज्यों के प्रतिनिधियों का स्थान गौण था। ऐसा लगता था सामंती और पुरातन यूरोप अपनी सारी शक्ति जुटा कर क्रांति के बाद के यूरोप को अभिभूत और पराजित कर देना चाहता था। नाच-तमाशों और गहमागहमी का सूत्रधार मेटरनिख था। वियेना के मध्ययुगीन आडंबर से सज्जित कक्षों में हजारों लोगों के बीच मेटरनिख इस सहजता से कार्यरत था जैसे कोई मछली पानी में हो। वियेना में तत्कालीन सभी प्रभावशाली व्यक्तियों का जमघट था।

मेटरनिख : वियेना में उपस्थित लोगों में सर्वाधिक महत्व मेटरनिख का था। उसका प्रतिक्रियावादी प्रभाव नेपोलियन के पतन के बाद के यूरोप पर इतना हावी था कि उसके अपने पतन तक के तैंतीस वर्षों को मेटरनिख काल कहते हैं। निश्चय ही वियेना कांग्रेस के दौरान उसकी भूमिका सबसे अधिक प्रभावशाली थी। मेटरनिख के परिवार ने पवित्र रोमन साम्राज्य की कूटनीतिक सेवा में अपना स्थान बना लिया था। स्त्रासबुर्ग में एक छात्र की हैसियत से उसने फ्रांस की क्रांति का प्रभाव देखा था और तभी से उसका विरोधी हो गया था। जब नेपोलियन ने उसकी पारिवारिक संपत्ति हड़प ली तो वह नेपोलियन का भी विरोधी हो गया। प्रसिद्ध कूटनीतिज्ञ और आस्ट्रियन चांसलर कोनित्स के संपर्क में आने और उसके परिवार में ही विवाह करने के बाद मेटरनिख की प्रगति तेजी से हुई और अंततोगत्वा उसे स्वयं चांसलर का पद मिल गया। वह आस्ट्रिया के लिए जितना खतरनाक नेपोलियन को समझता था उतना ही अलेक्जेंडर को भी। इसलिए उसने दोनों को

आपस में टकरा देने की नीति अपनाई और स्वयं आस्ट्रिया को भावी युद्ध के लिए तैयार करता रहा। जब राष्ट्रों का युद्ध शुरू हुआ तो आस्ट्रिया की सेना ने निर्णायक भूमिका अदा की और मेटरनिख का सम्मान तेजी से बढ़ने लगा। यूरोप क्रांति के समर्थकों और विरोधियों में बंटा हुआ था। मेटरनिख ने क्रांति विरोधी प्रतिक्रियावादियों काने तृत्व किया और आस्ट्रिया तथा यथासंभव यूरोप में यथास्थिति बनाए रखने का प्रयास किया। सम्राट उस पर पूरा विश्वास करता था। इसलिए मेटरनिख अपने ही विचारों को क्रियान्वित कर सकता था। उसे जर्मनी में बढ़ती हुई राष्ट्रवादिता से आस्ट्रिया के लिए बहुत बड़ा खतरा दिखाई दे रहा था। उसने हर कीमत पर उसका दमन करने का निश्चय किया। वियेना में उसका सारा प्रयास आस्ट्रिया का सम्मान और शक्ति बनाए रखने में लगा और उसे इस कार्य में सफलता भी मिली।

अलेक्जेंडर : वियेना कांग्रेस में जार अलेक्जेंडर की भूमिका सबसे महत्वपूर्ण थी। कासलरिआ ने वियेना से अपने प्रधानमंत्री को लिखा था कि 'सबसे बड़ा खतरा तो जार से है जिसे पेरिस से बहुत लगाव है। अपने देश के निरंकुश शासन के विपरीत यहां उदारता और सहिष्णुता की नीति बरतकर वह अपने को तुष्ट और दूसरों को प्रभावित करना चाहता है।' वास्तविकता यह थी कि अलेक्जेंडर विरोधाभासों का पुतला था। वह पूरी तरह निरंकुश और क्रांति विरोधी शासक था। लेकिन रूस की सीमाओं के बाहर उदारता का मुखौटा लगाने में उसे लाभ प्रतीत हुआ था। वह रूस अधिकृत पोलेंड और रूस की पश्चिमी सीमाओं पर कोई परिवर्तन नहीं चाहता था। इस सीमा के बाहर उसने संधि की शर्तें नरम करने की कोशिश की। वियेना में संधि से भी अधिक एक अन्य कार्य में वह व्यस्त था। ईसाई सिद्धांतों को आधार बनाकर वह यूरोपीय राज्यों का एक पवित्र संगठन बनाना चाहता था। इस कार्य में उसे सफलता भी मिली। पवित्र संगठन उसकी कल्पनाशीलता, रहस्यवादिता, पाखंड और चालाकी का प्रमाण था। कुछ भी हो वियेना में उसका प्रभाव था और शायद उसका व्यक्तित्व सबसे रंगीला और आकर्षक था।

उसके जीवन को रहस्यमय ढंग से प्रभावित करने वालों में मादाम क्रूडेनर का स्थान प्रमुख था जो उसे उसी तरह वश में रखती थी जैसे सौ साल बाद निकोलास को 'रासपुतीन'। क्रूडेनर और आरकाजेव उसकी कुंठाओं का इस्तेमाल करते थे। गौलिल्जिन और कौशलेव ने जब उसे धर्मांधता से रोकना चाहा तो उन्हें सफलता नहीं मिली। वह कहा करता था, 'ईश्वर ने मुझे आठ लाख की फौज इसलिए नहीं दी है कि मैं अपनी महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति करूं।' जबकि वास्तविकता इसके विपरीत थी। गेंट्ज ने कहा था कि वह वियेना तो केवल प्रशंसा प्राप्त करने गया था।

तालिरां : इनके अलावा निर्णायक भूमिका अदा करने वालों में तालिरां प्रमुख था। तालिरां का इतिहास और चरित्र अनोखा था। उसने अपना जीवन एक पादरी के रूप शुरू में किया था। क्रांतिकाल में वह चर्च का पद छोड़कर क्रांतिकारी हो गया था। नेपोलियन का उदय होने पर वह क्रांतिविरोधी हो गया और नेपोलियन का विदेश मंत्री बन गया। बाद में वह नेपोलियन का भी विरोधी बन गया था और वियेना में बूर्बो वंश एवं फ्रांस के प्रतिनिधि के रूप में उपस्थित था। तालिरां किसी भी तरह मेटरनिख से कम

योग्य कूटनीतिज्ञ नहीं था, लेकिन वह अपने देश के हितों के प्रति अधिक जागरूक था और किसी वृहत्तर क्षेत्र में क्रियाशील होने की स्थिति में नहीं था। उसने अत्यंत कुशलता के साथ वैधता का सिद्धांत स्वीकृत कर लिया। इससे उसे सम्मान भी मिला जो उसकी योग्यता का प्रमाण था।

इंग्लैंड का प्रतिनिधित्व किया कासलरिआ और ड्यूक आफ वेलिंगटन ने। नेपोलियन को पराजित करने का श्रेय ड्यूक आफ वेलिंगटन के साथ जुड़ा हुआ था और नेपोलियन के पतन के बाद उसे ही सर्वश्रेष्ठ सेनापति समझा जाने लगा था। लेकिन कूटनीति की जिम्मेदारियां कासलरिआ पर थीं। कासलरिआ योग्य होने के बावजूद अंतर्मुखी व्यक्ति था। वह अपनी ही समस्याओं में उलझा रहने वाला व्यक्ति था। अपनी शंकालु प्रवृत्ति के कारण वह अपना रसोइया तक साथ लाया था और कम बातचीत पसंद करता था। उसे अन्य प्रतिनिधियों का आक्रामक रवैया पसंद नहीं था। वह दूसरों को मेटरनिख की तरह धोखा नहीं देता था, लेकिन उसे भी धोखा देना मुश्किल था। उसे विश्वास था कि यूरोप के देश जितने ही गरीब रहेंगे, शांति की भावना उतनी ही अधिक बनी रहेगी। उसे इंग्लैंड के औपनिवेशिक हित्तों की विशेष चिंता थी और उनकी सुरक्षा में वह सफल भी हुआ। आस्ट्रिया का शासक फ्रांसिस, प्रशा का शासक फ्रेडरिक विलियम और उसके साथ हार्डेन वर्ग तथा हुमबोल्ड्ट, प्रशा का नेपोलियन विरोधी सुधारक स्टाइन और अनेक राजा, राजकुमार तथा कूटनीतिज्ञ भी वियेना में उपस्थित थे।

कांग्रेस का लक्ष्य : वियेना में एकत्र हुए लोगों में व्यक्तिगत और देशगत मतभेद थे लेकिन सभी इस बात पर एकमत थे कि 1789 से 1815 तक की घटनाओं की पुनरावृत्ति न हो। क्रांति और नेपोलियन दोनों से सभी आतंकित थे। इसलिए वे ऐसी व्यवस्था चाहते थे कि फ्रांस की शक्ति न इतनी कमजोर हो जाए कि क्रांतिकारी स्थितियों को बढ़ावा मिले और न इतनी बढ़ जाए कि यूरोप को नेपोलियन जैसे विजेता से निबटना पड़े। नेपोलियन ने यूरोप का प्रारंभिक नक्शा ही मिटा दिया था। विशेष रूप से यूरोप के मध्यभाग का पूरा राजनीतिक ढांचा ही बदल गया। पवित्र रोमन साम्राज्य भंग हो गया। जर्मनी के सैकड़ों छोटे बड़े राज्यों के आपसी संबंध बदल गए। राइन का महासंघ बनकर भी मिट चुका था 'वेस्टफेलिया' और 'वारसा' में नए राज्य बनकर बिगड़ चुके थे। आस्ट्रिया के दक्षिण में पहले गणतंत्र फिर फ्रांस के अधीन तंत्रों का विकास होकर भी समाप्त हो चुका था। इटली के छोटे बड़े राज्य इटली और नेपल्स के राज्यों में संगठित होने के बाद भी बिखर गए थे। इस तरह यह निश्चित करना था कि मध्य यूरोप का राजनीतिक स्वरूप क्या हो ? और नेपोलियन के विरुद्ध लड़े गए युद्धों में विभिन्न देशों की भूमिका का मूल्यांकन करने के बाद उनकी स्थिति क्या हो। इस कार्य के लिए कुछ सिद्धांत जरूरी थे। इस समय 'तालिरां' ने असाधारण कूटनीतिक प्रतिभा का परिचय दिया और पराजित फ्रांस का सम्मान बचाने में सफल हो गया। इसके लिए उसने वैधता की वकालत की और विजेताओं ने उसे स्वीकार कर लिया। कुल मिलाकर निम्नलिखित सिद्धांत प्रतिपादित हुए :

वैधता : यह स्वीकार किया गया कि 1789 के बाद जिन वैध शासनों का उन्मूलन हो गया था, उन्हें पुनर्स्थापित किया जाए। इसे न्यायसंगत सिद्धांत की तरह पेश किया गया, लेकिन वास्तव में इसने इतिहास क्रम की विरोधी धारा का प्रतिपादन किया और इतिहास की उपलब्धियों को नकारने की कोशिश की। साथ ही इस सिद्धांत को वहां नहीं माना गया जहां यह विजेताओं के हित में नहीं था।

शक्ति का संतुलन : यह बात सर्वमान्य थी कि यूरोप में किसी एक देश की शक्ति बढ़ते ही दूसरों के लिए खतरा पैदा हो जाता। इसलिए विशेषकर फ्रांस के चारों ओर के छोटे देशों जैसे, हालैंड और बेल्जियम को मिलाकर एक कर दिया जाए ताकि फ्रांस पर अंकुश बना रहे। यह सिद्धांत केवल यूरोप और विशेषकर फ्रांस को दृष्टि में रखकर बनाया गया था क्योंकि इंग्लैंड विश्व के संदर्भ में यह सिद्धांत कभी स्वीकार नहीं करता।

मुआवजा और पुरस्कार : इस सिद्धांत के अनुसार जिन देशों को नेपोलियन ने नष्ट किया था और जिन्होंने उसके विरुद्ध संघर्ष में हिस्सा लिया था, उनका नुकसान पूरा करना और उन्हें पुरस्कृत करना स्वीकार किया गया।

सजा : जिन देशों ने नेपोलियन का साथ दिया था, उन्हें सजा मिलनी चाहिए, यह मानकर सैक्सनी जैसे देशों के शासकों को पदच्युत कर दिया गया।

यहां यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि इन सिद्धांतों का पालन करने में किसी नैतिक मानदंड का सहारा नहीं लिया गया और जहां आवश्यक हुआ वहीं उनकी अवहेलना की गई।

वास्तव में निर्णायक समिति स्वयं निर्मित आठ व्यक्तियों की समिति थी जिनमें इंग्लैंड, रूस, आस्ट्रिया और प्रशा के प्रतिनिधि थे। शुरू में ऐसा लगता था कि मेटरनिख और अन्य विजेताओं के प्रतिनिधि मिलकर सारे निर्णय कर लेंगे, लेकिन तालिरां ने यह नहीं होने दिया। उसने स्पष्ट कर दिया कि यदि निर्णयों में फ्रांस का प्रतिनिधित्व नहीं हुआ तो वह खुली कांग्रेस की वकालत करेगा और निर्णय सबकी राय से करना अनिवार्य हो जाएगा। विजेताओं में आपसी मतभेद थे। आस्ट्रिया रूस और प्रशा से आतंकित था। तालिरां ने इस आतंक को बढ़ावा दिया और एक स्थिति ऐसी भी आ गई कि फ्रांस, इंग्लैंड और आस्ट्रिया, रूस और प्रशा के विरुद्ध सैनिक कार्यवाही के लिए भी तत्पर हो गए। ऐसी नौबत नहीं आई लेकिन इसका लाभ उठाकर तालिरां ने अपनी बात मनवा ली और अंत में निर्णय चार नहीं पांच देशों—आस्ट्रिया, इंग्लैड, प्रशा, रूस तथा फ्रांस के प्रतिनिधियों ने मिलकर किया। अन्य प्रतिनिधियों स्पेन, पुर्तगाल और स्वीडेन से औपचारिक स्वीकृति प्राप्त कर ली गई। जून में तैयार संधि में वाटरलू के बाद हुई दूसरी पेरिस संधि की शर्तों को शामिल कर लिया गया और 121 धाराओं के समझौते को अंतिम रूप से 9 जून 1815 को औपचारिक मान्यता मिल गई।

वियेना कांग्रेस के निर्णय : उपर्युक्त लक्ष्यों को ध्यान में रखकर निम्नलिखित निर्णय किए गए :

—फ्रांस पर बूर्बो वंश का अधिकार स्वीकार कर लिया गया। लूई सोलहवां और उसके पुत्र की मृत्यु हो चुकी थी इसलिए उसके भाई लूई अठारहवें को फ्रांस के

शासक के रूप में प्रतिष्ठित किया गया।

—फ्रांस के उत्तर में हालैंड को वेल्जियम का प्रदेश देकर उसकी शक्ति वढ़ा दी गई। आरेंज परिवार की सर्वोच्चता स्वीकार कर ली गई।

—स्वीडेन के शासक वर्नदात ने नेपोलियन की मदद की थी। उसे नार्वे दे दिया गया।

—फ्रांस के दक्षिण पूर्व में सार्डीनिया के राज्य को पीडमांट, नीस और सवाय लौटा दिए गए और जेनोआ का गणतंत्र भी उसमें मिला दिया गया।

—पोप को चर्च का राज्य वापस कर दिया गया।

—पवित्र रोमन साम्राज्य को पुनर्जीवित करना कठिन था, इसलिए जर्मन राज्यों का एक संघ वनाया गया जिसमें आस्ट्रिया के नेतृत्व का प्रावधान किया गया। मेटर-निख ने जर्मन राज्यों की परस्पर निकटता की संभावना का विरोध किया।

—आस्ट्रिया को लोंवार्डी और वेनिशिया के प्रांत वापस कर दिए गए। इलीरिया उसे पहले ही मिल चुका था।

—नेपोलियन की पत्नी मारी लुइजा को पारमा की रियासत दी गई।

—प्रशा को रेमिश का प्रांत वापस मिल गया। साथ ही उसे कोलोन, त्रैव तथा स्वीडेन का पामेरेनिया क्षेत्र भी दे दिया गया। सैक्सनी का एक भाग प्रशा को दिया गया। इस प्रकार सैक्सनी को सजा मिल गई और प्रशा को पुरस्कार। प्रशा के हिस्से का पोलैंड रूस के ही कब्जे में छोड़ दिया गया।

—रूस को फिनलैंड और अपने हिस्से का पोलैंड वापस मिल गया।

—पहले स्विटजरलैंड पर फ्रांस का आधिपत्य हो गया था। अव इसे स्वतंत्र गणतंत्र मान लिया और उसमें तीन और कैंटन जोड़ दिए गए।

—स्पेन में वूर्वो वंश की स्थापना हो गई।

—नेपल्स में भी पुराना राजवंश वापस आ गया।

—इंग्लैंड ने अपनी औपनिवेशिक विजय वरकरार रखी। हेलिगोडलैं, मारीशस, माल्टा, ट्रिनिड़ाड, टोवैगो तथा लंका और अफ्रीका के दक्षिण स्थित उत्तमाशा अंतरीप पर इंग्लैंड का प्रमुत्व स्वीकार कर लिया गया। वदले में इंग्लैंड ने हालैंड को साठ लाख पाउंड मुआवजे के रूप में अदा किया।

—हैनोवर को एक स्वतंत्र राज्य मान लिया गया।

—नेपोलियन के 'सौ दिन के राज्य' ने फ्रांस की स्थिति और कमजोर कर दी थी। इसलिए पेरिस की दूसरी संधि में उसकी 1791 की सीमाएं ही स्वीकार की गईं। उसे 70 करोड़ फ्रांक हरजाना देना पड़ा और पांच वर्ष के लिए फ्रांस में विजेताओं की सेनाओं के रहने का प्रावधान हुआ।

इन क्षेत्रीय प्रावधानों के अतिरिक्त कुछ अन्य महत्वपूर्ण निर्णय भी लिए गए जिनका राजनीतिक ही नहीं, सामाजिक और आर्थिक महत्व था और ये ऐतिहासिक सिद्ध हुए।

—इंग्लैंड ने पहले ही गुलामी प्रथा का अंत कर दिया था। वियेना में हालैंड, फ्रांस और स्पेन ने भी इसका उन्मूलन करना स्वीकार किया।

—भूमध्य सागर में बारबेरी कोरसैर्स नामक समुद्री लुटेरों ने आतंक मचा रखा था जिसके कारण यातायात और व्यापार का बहुत नुकसान होता था। उनके विरुद्ध अभियान चलाने का निर्णय किया गया। ब्रिटिश नौसेना ने संगठित रूप से उन पर प्रहार किया और उनका अंत करके न केवल भूमध्य सागर का मार्ग सुरक्षित किया बल्कि उनकी कैद से हजारों ईसाई बंदियों को भी छुटकारा दिलाया।

—यूरोप की अंतर्राष्ट्रीय नदियों में जहाजरानी के नियम बनाए गए।

—पहली बार राज्यों के परस्पर संबंधों पर भी विचार हुआ और अंतर्राष्ट्रीय कानून के क्रियान्वयन का सूत्रपात हुआ।

वियेना कांग्रेस के कार्यों का मूल्यांकन

कांग्रेस का न तो कभी उद्घाटन हुआ था न उसमें कभी बाकायदा समस्याओं पर विचार ही हुआ था। वास्तव में वहां इकट्ठा विजेताओं के प्रतिनिधियों ने किसी स्टाक एक्सचेंज के दलालों की तरह सौदेबाजी की थी। बाइस वर्षों तक यूरोप के हर शासक ने फ्रांस से घृणा की थी, फिर भी वियेना में फ्रांस के प्रति उदार दृष्टिकोण अपनाया गया। इसका श्रेय तालिरां की कूटनीति और अलेक्जेंडर के फ्रांस के प्रति लगाव को है। वियेना कांग्रेस के बाद यूरोप में चालीस वर्षों तक कोई बड़ा युद्ध नहीं हुआ। इसके बाद युद्ध हुआ भी तो सुदूर क्रीमिया में। इसके भी कई वर्षों बाद ही बिस्मार्क ने युद्धों की राजनीति शुरू की। युद्धों के बीच इतना बड़ा अंतराल यूरोप के इतिहास में शायद ही कभी आया हो। सत्रहवीं शताब्दी के प्रारंभ में शुरू हुए तीस वर्षीय युद्धों से नेपोलियन के युद्धों तक दो सौ वर्षों का इतिहास निरंतर युद्धों का इतिहास था। इसके बाद शांति का और भी महत्व बढ़ गया था। इसीलिए वियेना कांग्रेस को इसका श्रेय मिला और वह युद्ध और शांति के बीच सीमा रेखा सी प्रतीत हुई। लेकिन वास्तविकता कुछ और ही थी।

वियेना कांग्रेस प्रतिक्रियावादी शक्तियों की विजय थी। वहां एकत्र लोगों का दृढ़ निश्चय था कि क्रांति और राष्ट्रीयतावादी शक्तियों को सर नहीं उठाने देंगे। तालिरां ने अपनी कुशाग्र बुद्धि से वैधता के सिद्धांत का प्रतिपादन किया था और उसके माध्यम से पुरातन व्यवस्था को पुनर्जीवित करना चाहा था। लेकिन वहां भी राजवंशों के हित के लिए राष्ट्रीयता के सिद्धांत की अवहेलना की गई। नार्वे स्वीडेन के साथ मिलने के लिए तैयार नहीं था और बाद में वहां स्वतंत्र राज्य की स्थापना हुई। इसी तरह बेल्जियम में भी हालैंड में विलय का विरोध बना रहा और उसने अपनी स्वतंत्रता हासिल कर ली। जर्मन लोग निकट आकर अपने राष्ट्रीय राज्य की कल्पना करने लगे थे लेकिन उनकी इच्छाओं के विरुद्ध आस्ट्रिया का हस्तक्षेप बना रहा। इसका भी विरोध होता रहा और अंत में एक जर्मन राज्य का निर्माण हो ही गया। इसी तरह वैधता का आधार मानने के बावजूद क्रांति के पहले के गणराज्यों को फिर से स्थापित नहीं होने दिया गया और उनका बड़े राज्यों में विलय स्वीकार कर लिया गया। इस तरह स्पष्ट था कि वैधता का सिद्धांत ही धूर्ततापूर्ण, और केवल कुछ परिवारों के पक्ष में था। जनता की इच्छाओं, उसके संघर्षों और उपलब्धियों की या तो अवहेलना की गई या उन्हें एकदम नकार दिया

गया। यह सिद्धांत भी पूरी तरह हर जगह लागू नहीं किया गया और उसकी व्याख्या मनमाने ढंग से की गई।

पुरस्कार, मुआवजे या सजा की नीति भी गलत थी। कहीं इनके लिए देश चुने गए तो कहीं राजा। जैसे फ्रांस में केवल नेपोलियन और उसके परिवार को दोषी ठहरा कर फ्रांस और उसके पुराने राजवंश को हर प्रकार का सम्मान दिया गया। इसी मापदंड के आधार पर सैक्सनी के राजा को हटाकर उस राज्य की अखंडता को स्वीकार किया जा सकता था। लेकिन ऐसा नहीं किया गया। पोलैंड का भी क्रांतिकाल में दो बार विभाजन हुआ था, लेकिन वहां राष्ट्रीय अखंडता को कौन कहे, पुराने राजवंश की दुहाई भी नहीं सुनी गई। पुरस्कार और सजा का कोई एक मापदंड नहीं रखे जाने से कांग्रेस के मंत्री गेंत्ज ने कहा है कि, 'वास्तव में कांग्रेस का लक्ष्य विजित प्रदेशों के लूट के माल का बंटवारा करना मात्र था।'

शक्ति संतुलन का सिद्धांत भी कारगर नहीं हो सकता था और न ही फ्रांस के अलावा किसी अन्य देश पर यह लागू हो पाया। वास्तविकता यह थी कि यूरोप में सबसे शक्तिशाली देश इंग्लैंड था और क्रांतिकालीन तथा नेपोलियन के युद्धों में उसकी शक्ति न केवल अक्षुण्ण रही बल्कि उसका विस्तार भी हुआ। लेकिन किसी भी सिद्धांत के नाते वहां अंकुश लगाना संभव नहीं था। बड़े देशों ने जब आवश्यक समझा तो शक्ति संतुलन के सिद्धांत की अवहेलना कर दी। प्रशा ने विस्तार किया। रूस ने प्रभाव बढ़ाया। फ्रांस ने भी उपनिवेश बढ़ाए। वियेना कांग्रेस का स्वर अठारहवीं शताब्दी का था इसलिए इतिहास के विकासक्रम को उसने अवरुद्ध ही करने का प्रयास किया।

वैसे ऐसा लगता है कि वियेना कांग्रेस को असफलता ही मिली। लेकिन दो बातें यहां रेखांकित की जानी चाहिए। एक तो पराजित फ्रांस के प्रति अपनाई गई उदार नीति, दूसरे अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था के लिए किए गए प्रयास। वियेना व्यवस्था की इसलिए आलोचना की जाती है कि उसके बाद के सौ साल निरंतर इस व्यवस्था को समाप्त करने में बीते। वहां उपस्थित राजनेताओं में परस्पर विद्वेषों और टकराव की भी आलोचना हो सकती थी। राजनेताओं की सीमाओं को भी ध्यान में रखना चाहिए और उन्हें पैगंबर नहीं समझना चाहिए।

किसी भी अंतर्राष्ट्रीय समझौते और संधि की तरह वियेना की संधि भी मोल-तोल और आपसी समझौतों का परिणाम थी। सामान्यतया पुराने राजतंत्रों की वापसी का लक्ष्य इसने पूरा किया और शक्ति के संतुलन के लिए पूर्वी यूरोप में अलेक्जेंडर की विस्तारवादी महत्वाकांक्षा को ब्रिटेन ने नियंत्रित किया। जर्मन क्षेत्र की पुनर्व्यवस्था में आस्ट्रिया और प्रशा को शामिल रखकर संतुलन बनाए रखने का प्रयास किया गया।

डेविड टामसन के अनुसार इस संधि पर राजनैतिक सूझ-बूझ और तर्कसंगतता की छाप थी। इसका मुख्य दोष यही था कि इसने राष्ट्रवाद की शक्ति और गति का उचित मूल्यांकन नहीं किया (इट वाज आन द होल ए रीजनेबुल ऐंड स्टेट्समैनलाइक अरेंजमेंट आफ ह्विच द चीफ डिफेक्ट वाज दैट इट अंडरएस्टिमेटेड द डाइनेमिज्म आफ नेशनलिज्म)। टामसन संधिकर्ताओं की सीमाओं को रेखांकित करते हुए इस अपेक्षा को

अनुचित बताता है कि उन्होंने राष्ट्रवाद और उदारवाद की शक्ति को नहीं पहचाना। उसके अनुसार तत्कालीन यूरोप को सबसे अधिक शांति की आवश्यकता थी और वियेना की संधि ने यूरोप को करीब आधी शताब्दी की शांति प्रदान की। यह एक उदार मूल्यांकन है। यह सच है कि संधिकर्ता अपने ही हित की बात करते और उन्होंने वही किया भी। उन्हें अपने लक्ष्य में तात्कालिक सफलता भी मिली लेकिन उनके प्रतिक्रियावादी चरित्र और निर्णयों को कैसे नजरअंदाज किया जा सकता है?

यह निर्विवाद है कि वियेना कांग्रेस का एक ही लक्ष्य और एक ही सिद्धांत था— पिछले पचीस वर्षों की घटनाओं की पुनरावृत्ति रोकना और यथास्थिति बनाए रखना। वियेना के बाद अधिवेशन बुलाने का जो सिलसिला चला और वहां जो निर्णय लिए गए वे भी यही प्रमाणित करते हैं कि यूरोप की प्रतिक्रियावादी शक्तियां पूरी तरह संगठित होकर प्रगति का मार्ग अवरुद्ध करने पर उतारू थीं।

होली एलायंस (पवित्र संगठन)

वियेना में लिए गए निर्णयों को स्थायित्व देने और यूरोप में हो रहे राजनैतिक परिवर्तनों की बराबर निगरानी करने तथा समय समय पर सलाह मशविरे के लिए इसी तरह के अधिवेशन बुलाने की बात पर सहमति हुई थी। अलेक्जेंडर इससे पूरी तरह संतुष्ट और आश्वस्त नहीं हुआ था। उसके कुंठाग्रस्त और रहस्यवादी मस्तिष्क में कुछ और ही खिचड़ी पक रही थी। वह एक भावुक और धर्म में आस्था रखने वाला व्यक्ति था। उसके पिता की मृत्यु रहस्यमय स्थितियों में हुई थी और उसके लिए वह स्वयं को पूरी तरह निरपराध नहीं मान पाता था। अपराध बोध से ग्रस्त होने के कारण वह कुछ उदार और धार्मिक कार्यों में रुचि प्रदर्शित करता था। उसने ईसाई धर्म के सिद्धांतों के प्रतिपादन और प्रसार द्वारा एक प्रकार का प्रायश्चित करना चाहा था। इसी बीच उसकी मुलाकात बैरोनेस क्रूडेनर और आर्काजिब से हुई और ईसाई धर्म के प्रति उसका लगाव रहस्यमय ढंग से बढ़ने लगा। होली एलायंस की रूपरेखा उसके मस्तिष्क में आकार लेने लगी। वियेना में उसने विभिन्न देशों के प्रमुख प्रतिनिधियों से ईसाई धर्म के सिद्धांतों के आधार पर यूरोप में न्याय और धर्म पर आधारित समाज की स्थापना के संबंध में बात की।

इस प्रकार अलेक्जेंडर की पहल और प्रेरणा ने होली एलायंस को जन्म दिया। इस समझौते के अनुसार रूस, प्रशा और आस्ट्रिया के शासकों ने अपने को 'दया, शांति और प्रेम' के ईसाई बंधन में बांध लिया। उन्होंने अपने को एक ही ईसाई राष्ट्र का सदस्य माना। अपने तीन राजवंशों को उन्होंने ईश्वर द्वारा निर्धारित एक ही परिवार की तीन शाखाएं माना। उनके अनुसार शक्ति का एकमात्र स्रोत होने के कारण संपूर्ण ईसाई जगत का सार्वभौम नियंता केवल ईश्वर है। (दे अंडरटुक टु कन्सीडर देमसेल्वज आल ऐज मेंबर्स आफ वन ऐंड द सेम क्रिश्चियन नेशन, द थ्री प्रिंसेज लुकिंग आन देमसेल्वज ऐज मेअरली डेलेगेटेड बाई प्राविडेंस टु गवर्न थ्री ब्रांचेज आफ वन फैमिली, नेमली आस्ट्रिया, प्रशा, ऐंड रशा, दस कन्फेसिंग दैट द क्रिश्चियन वर्ल्ड, आफ

ह्विच दे ऐंड देयर पीपुल फार्म ए पार्ट, हैज इन रियलिटी नो अदर सावरेन वट हिम टु हूम पावर एलोन रियली विलांग्स)।

प्रबुद्धता के काल में यूरोप में बढ़ रहे बुद्धिवाद और संशयवाद की प्रतिक्रिया में यूरोपीय सभ्यता के ईसाई आधारों को रेखांकित करने का प्रयास स्वाभाविक था। जार के मन में इन सिद्धांतों के प्रति लगाव होना स्थितियों की सहज परिणति थी।

होली एलायंस को तत्काल सफलता मिली। उसकी सफलता का सबसे बड़ा प्रमाण यही था कि उसे विभिन्न कारणों से केवल पोप और इंग्लैंड के शासक ने अस्वीकार किया। इनके अतिरिक्त स्विटजरलैंड के राष्ट्रपति सहित यूरोप के सभी शासकों ने स्वीकार कर लिया। यूरोपीय परिवार में केवल तुर्की का सुल्तान धार्मिक कारणों से इसके बाहर रखा गया। उस समय यूरोप के शासकों में अलेक्जेंडर सबसे अधिक प्रतिष्ठित था। सीधे उसका विरोध करना आसान नहीं था। इसीलिए ऊपर ऊपर बहुत से देशों ने इसे मान लिया और यह तय हुआ कि शासन और राजनीतिक संबंधों में 'पवित्रधर्म, न्याय के सिद्धांत, उदारता और शांति' को आधार बनाया जाएगा।

यह स्वीकृति और सफलता सतही थी। मौन समर्थन के बावजूद मेटरनिख इसे ऊंची दूकान फीका पकवान (हाई साउंडिंग नथिंग) कहता था। उसने अपनी आत्म-कथा में स्वीकार किया है कि आस्ट्रिया और प्रशा ने होली एलायंस को मुख्य रूप से जार को खुश करने के लिए ही स्वीकार किया था। तालिरां ने इसे हास्यास्पद समझौता (अं कोंत्रा रिदिक्यूलो) कहा था। कासिम रिया ने इसे 'शानदार रहस्यवाद और बकवास' (ए पीस आफ सब्लाइम मिस्टिसिज्म ऐंड नानसेंस) करार दिया। उसने तो अपने प्रधानमंत्री को यहां तक लिखा कि जार का दिमाग पूरी तरह ठीक नहीं लगता। जब इंग्लैंड अपने देश की संवैधानिक व्यवस्था की आड़ लेकर इसमें शामिल नहीं हुआ तो यह मुख्य रूप से रूस, प्रशा और आस्ट्रिया के शासकों की पवित्र घोषणा मात्र बनकर रह गई।

आस्ट्रिया का सम्राट सहमत तो हो गया लेकिन उसने साफ साफ कह दिया था कि उसे इस सिद्धांत के बारे में कुछ भी स्पष्ट नहीं हो रहा है। उसने अलेक्जेंडर से कहा : 'यदि यह राजनीति का प्रश्न है तो मुझे अपने चांसलर (प्रधानमंत्री) से पूछना पड़ेगा और यदि धर्म की बात है तो पादरी से।' उसकी सहमति का स्वरूप इस कथन से स्पष्ट हो जाता है।

यद्यपि प्रत्यक्षतः होली एलायंस का उद्देश्य यूरोप को ईसाई सिद्धांतों के अनुकूल नियमित और व्यवस्थित करना था लेकिन वस्तुतः उसका लक्ष्य एकतंत्र का समर्थन और क्रांतिकारी प्रवृत्तियों का दमन करना था। अलेक्जेंडर ने कहा था : 'सारी दुनिया के उदारपंथी क्रांतिकारी और कार्बोनारी के सदस्य सरकारों के नहीं अपितु धर्म के विरुद्ध षड्यंत्र कर रहे हैं।' वास्तव में उसे यह षड्यंत्र अपने निरंकुश तंत्र के विरुद्ध लगता था। वह स्वभाव से युद्धप्रेमी नहीं था। जहां तक संभव हो वह दमन भी नहीं करना चाहता था। कभी कभी प्रजा के प्रति उदारभाव प्रदर्शित करने से उसके भावुक मन को संतोष मिलता था। लेकिन वह भ्रांतियों और कुंठाओं का शिकार था। अपनी

सत्ता के हित में उसे दमन का भी समर्थन करना पड़ता था। होली एलायंस में दूसरों की रुचि नहीं थी और अलेक्जेंडर स्वयं अकेले कुछ नहीं कर सकता था। इसलिए उसका पवित्र संघ सक्रिय तो कभी नहीं रहा और उसकी मृत्यु के साथ ही दफन हो गया।

प्रारंभ में उसे जो थोड़ी बहुत सफलता मिली थी वह इसलिए कि अधिकांश लोग यह समझते थे कि इससे फायदा हो न हो नुकसान कुछ नहीं होगा। लेकिन जागरूक लोगों ने समझ लिया था कि यूरोप के निरंकुश शासकों द्वारा छोटे देशों के आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप करने का यह एक षड्यंत्रपूर्ण और दूरगामी प्रयास है।

होली एलायंस का व्यावहारिक स्तर पर कभी विशेष महत्व नहीं रहा। वे ही निर्णय क्रियान्वित होते थे जो समय समय पर यूरोपीय संघ द्वारा लिए जाते थे। होली एलायंस ने यह भी सिद्ध कर दिया कि ईसाई मत का बोझ और उसे पुनर्जीवित करने का प्रयास उस प्रतिक्रियावाद की जीत के काल में कितना कमजोर और सतही था।

यूरोपीय व्यवस्था (कन्सर्ट आफ यूरोप)

नेपोलियन से अकेले निवट पाना असंभव देखकर उसके प्रमुख विरोधियों ने समय समय पर सहयोग की संधियां की थीं। इन समवेत प्रयासों का उन्हें लाभ भी मिला था। इसलिए अपने सहयोग को वे स्थाई रूप देना चाहते थे। इसीलिए रूस, प्रशा और आस्ट्रिया ने इंग्लैंड के साथ मिलकर एक चतुर्मुखी संधि कर ली थी। इस संधि का एक लक्ष्य यह था कि अब तक हुई संधियों, जैसे पेरिस और शोमों की संधियां, को स्थाई आधार देना। दूसरा लक्ष्य भविष्य को ध्यान में रखकर निर्धारित किया गया था कि समय समय पर मिलकर यूरोप की स्थिति का सर्वेक्षण किया जाएगा और आवश्यक नीति तथा कार्यवाही का निर्धारण भी मिलकर ही किया जाएगा। इंग्लैंड ने अवश्य यह स्पष्ट कर दिया था कि वह अपनी विशिष्ट स्थिति के कारण निर्णयों के क्रियान्वयन के प्रति हमेशा वाध्य नहीं रहेगा।

इस तरह एक यूरोपीय व्यवस्था का जन्म हुआ जो सर्वथा ही अभिनव प्रयोग था। यद्यपि इस तरह के प्रयास पहले भी हुए थे लेकिन इनका क्रियान्वयन पहली बार ही हुआ था। 1713 में संतिपिऐर ने यूट्रेक्ट की संधि पर आधारित एक अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था की बात की थी। लेकिन तब यूरोप उसके लिए तैयार नहीं था। इस बात के प्रमाण मौजूद हैं कि 1791 में आस्ट्रिया के प्रसिद्ध कूटनीतिज्ञ कोनित्स ने एक प्रपत्र तैयार किया था जिसमें देश में व्यवस्था, देशों के बीच शांति, सीमाओं की अक्षुणता और संधियों में विश्वास के आधार पर प्रशा के शासक से मिल जुलकर प्रयास करने का आग्रह किया गया था। वह वोल्तेयर की तरह ही यह मानता था कि धार्मिक संस्थाओं और संस्कृति के माध्यम से जुड़े होने के नाते यूरोप एक परिवार की तरह है। क्रांति और नेपोलियन के शासन के दौरान इन विचारों को क्रियान्वित नहीं किया जा सका। परंतु नेपोलियन के पतन के बाद जो शुरुआत हुई उसमें कोनित्स के विचारों के ही बीज थे।

सम्मेलनों के क्रम में आखन या ऐक्स-ला-शापेल की कांग्रेस पहली थी। तीन वर्षों की राजनीतिक स्थितियों का आकलन करने के बाद 1818 में यहां यह निर्णय किया

गया कि अब फ्रांस से विजेता देशों की सेनाएं हटा ली जाएं क्योंकि वहां अब अशांति की संभावना नहीं रह गई थी और राजा की सत्ता स्थापित हो गई थी। इंग्लैंड ने प्रस्ताव किया कि अब फ्रांस को भी संधि में शामिल कर लिया जाए। इस प्रस्ताव के मान लिए जाने पर सारी स्थिति ही बदल गई क्योंकि फ्रांस पर कड़ी नजर रखना ही संधि का प्रमुख उद्देश्य था। धीरे धीरे मित्र राष्ट्रों में मतभेद प्रकट होने लगा। जार चाहता था कि समय समय पर इसी तरह के सम्मेलन होते रहें और यूरोप की स्थितियों का अध्ययन तथा तदनुकूल कार्य होता रहे; लेकिन इंग्लैंड यूरोप में हस्तक्षेप की नीति नहीं अपनाना चाहता था। उसे वार बार सम्मेलन आहूत करने में भी रुचि नहीं थी।

दो वर्षों बाद जब ट्राप्पो में दूसरी कांग्रेस हुई तो मतभेद खुलकर सामने आने लगे। स्पेन की समस्या प्रत्यक्ष थी। 1812 में स्पेन की प्रतिनिधि सभा कारतेस ने एक उदार संविधान बनाया था। नेपोलियन के पतन और पुराने राजवंश की पुनर्स्थापना के बाद फिर से कठोर सामंती तथा मध्ययुगीन कानून लागू कर दिए गए थे। 1820 में रीगो नामक एक कर्नल ने विद्रोह कर दिया और पुराने संविधान की घोषणा कर दी। उत्तरी प्रांतों में उसका समर्थन बढ़ने लगा। जब राजधानी मैड्रिड में भी हलचल मची तो फर्डिनेंड ने संविधान स्वीकार कर लिया। नेपल्स में भी इसकी पुनरावृत्ति हुई और वहां भी स्पेन के समान ही संविधान की घोषणा करनी पड़ी। मेटरनिख को चिंता हुई कि इस आग के उत्तर की ओर बढ़ने से तो आस्ट्रिया भी चपेट में आ जाएगा। उसे नेपल्स की जितनी चिंता थी उतनी स्पेन की नहीं। उसने ट्राप्पो में कांग्रेस का अधिवेशन आहूत किया। सम्मेलन में इंग्लैंड भी शामिल हुआ। अन्य तीनों देशों ने किसी भी देश में क्रांति होने पर उसके दमन के लिए हस्तक्षेप करने की नीति का समर्थन किया। अलेक्जेंडर ने तो स्पेन में रूसी सेना भेजने का प्रस्ताव किया, लेकिन इंग्लैंड ने इसका विरोध किया। आस्ट्रिया और प्रशा भी रूस की शक्ति का प्रदर्शन नहीं चाहते थे और इस बात से डर गए कि रूसी फौज के पश्चिमी यूरोप में पहुंच जाने पर उनका प्रभाव कम हो जाएगा। इसलिए सशस्त्र हस्तक्षेप की नीति पारित नहीं हो पाई।

साल भर बाद ही लाइबाख में सम्मेलन हुआ जहां नेपल्स के शासक ने मित्र राष्ट्रों से अनुरोध किया कि उसके अधिकार वापस दिलाने के लिए हस्तक्षेप किया जाए। इंग्लैंड के विरोध के बावजूद आस्ट्रिया को इस कार्य के लिए अधिकृत कर दिया गया। आस्ट्रिया के हस्तक्षेप के बाद नेपल्स में फिर से पुरातन व्यवस्था लागू कर दी गई। इसी समय पीडमांट में भी क्रांतिकारी विद्रोह हुआ और आस्ट्रिया की सेना ने हस्तक्षेप कर इसे कुचल डाला। इटली में क्रांति के समर्थन की गुंजाइश नहीं छोड़ी गई। मेटरनिख ने स्पष्ट कर दिया था कि संधि में शामिल हुए अन्य देश की सहमति पर ध्यान बिना दिए ही वह आस्ट्रिया के हितों और क्रांति के विरोध के लिए आस्ट्रिया के निकटवर्ती देशों में अवश्य हस्तक्षेप करेगा।

स्पेन की समस्या अब भी नहीं सुलझी थी। 1822 में वेरोना में चौथी कांग्रेस हुई। वहां स्पेन में विद्रोह का दमन करने के लिए हस्तक्षेप करने का निर्णय हुआ। स्पेन फ्रांस का पड़ोसी था इसलिए इस बार फ्रांसीसी सेना ने हस्तक्षेप किया और स्पेन के विद्रोहियों

को कुचल डाला गया। यह स्थिति स्पेन के उपनिवेशों में भी थी। अब उनकी बारी थी। वहां के लिए भी अभियान शुरू होता लेकिन इसी बीच दो महत्वपूर्ण बातें हुईं। इंग्लैंड के विदेश मंत्री कासलरिआ की मृत्यु पर उसकी जगह कैनिंग को नियुक्त किया गया। यह मेटरनिख के लिए विरोध की शुरुआत थी। कासलरिआ चतुर्मुखी संधि का विरोध करने में बहुत सावधानी वरतता था। कैनिंग मूक विरोधी नहीं था। उसने हस्तक्षेप की नीति के विरुद्ध स्पष्ट घोषणा कर दी थी कि 'हर राष्ट्र अपने लिए और ईश्वर हम सबके लिए।' (एव्री नेशन फार इटसेल्फ, गाड फार अस आल)। उसने वियेना के विजेताओं के बीच हुआ समझौता भंग होता देखकर भी उसे बचाने की कोशिश नहीं की। उसने स्पष्ट कहा, 'खुदा का शुक्र है कि अब कोई कांग्रेस नहीं होगी।' यूरोप में तो इंग्लैंड के विरोध की अवहेलना हो सकती थी लेकिन समुद्र पार के उपनिवेशों के संबंध में इंग्लैंड के सहयोग के बिना कुछ भी संभव नहीं था। दूसरे अमरीकी राष्ट्रपति मानरो ने अपनी यह प्रसिद्ध नीति (मानरो डाक्ट्रिन) घोषित कर दी थी कि अमरीकी महाद्वीप में उपनिवेशों के लिए अब कोई संभावना नहीं है और यूरोप के देश इस ओर कुदृष्टि न ही डालें तो ठीक है। यह अमरीकी महाद्वीपों में संयुक्त राज्य अमरीका के प्राधान्य की शुरुआत और वहां यूरोपीय उपनिवेशवाद के अंत का प्रारंभ था। ऐसी स्थिति में जोखिम उठाने के लिए कोई तैयार नहीं था। रूस, आस्ट्रिया और प्रशा औप-निवेशिक देश नहीं थे और उन्हें प्रशांत या अटलांटिक महासागरों के उस पार जाकर हस्तक्षेप करने में कोई रुचि नहीं थी। फ्रांस अकेले कुछ करने की स्थिति में नहीं था और इंग्लैंड निश्चय ही इसका विरोध करता। इस प्रकार धीरे धीरे अमरीका के उपनिवेश स्वतंत्र होने लगे और उन्हें अमरीका ही नहीं इंग्लैंड की भी मान्यता मिलने लगी। इस प्रकार इंग्लैंड न केवल यूरोपीय व्यवस्था से अलग हो गया बल्कि उसने इस व्यवस्था की विरोधी नीति भी अपना ली। जब पुर्तगाल में भी स्पेन ने हस्तक्षेप करना चाहा तो कैनिंग ने पुर्तगाल के उदारवादियों की मदद की। उसने कहा : 'हस्तक्षेप करना एक बात है और हस्तक्षेप रोकने के लिए हस्तक्षेप करना दूसरी बात है।' यूरोप के दक्षिण पूर्व स्थित बालकन प्रायद्वीप में तुर्की साम्राज्य लड़खड़ा रहा था और वहां राष्ट्रवादी शक्तियां उभर रही थीं। रूस इसका लाभ उठाकर अपना प्रभाव क्षेत्र बढ़ाना चाहता था। इसलिए उसने सेंट पीटर्सवर्ग में दो सम्मेलन बुलाए। इन सम्मेलनों में इंग्लैंड के सम्मिलित न होने से इनकी महत्ता कम हो गई। दूसरी बात यह कि बालकन प्रायद्वीप में आस्ट्रिया और रूस के हित टकराते थे और आस्ट्रिया रूस के एकतरफा निर्णयों को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं था। रूस का प्रभाव बढ़ने का अर्थ था आस्ट्रिया का महत्व घटना। जाहिर था कि ऐसे सवाल पर कोई सहमति संभव नहीं थी। फ्रांस और इंग्लैंड भी रूस का साथ नहीं देते और संभवतः उसका सक्रिय विरोध करते। फलतः ये सम्मेलन असफल तो हो ही गए, अंतर्राष्ट्रीय सहयोग की पूरी व्यवस्था ही इसके बाद ध्वस्त हो गई।

इस व्यवस्था की असफलता अवश्यंभावी थी। एक शताब्दी के बाद स्थापित राष्ट्र-संघ सारी आदर्शवादिता के बावजूद असफल हो गया। आज भी संयुक्त राष्ट्रसंघ लड़खड़ा रहा है। कारण स्पष्ट है। अंतर्राष्ट्रीय सहयोग के लिए समान आदर्श और

समान हित या विभिन्न हितों के बीच महत्तम समीकरण की आवश्यकता होती है। यह चीज जब आज संभव नहीं है तो उस समय उसकी कल्पना भी करना दुराग्रह होगा। भले ही ऊपर से सभी यही चाहते थे कि कोई क्रांति या तानाशाह सर न उठा सके लेकिन साथ ही यह भी वे चाहते थे कि उनमें से कोई अधिक शक्तिशाली न हो जाए। फ्रांस और प्रशा अपनी ही समस्याओं में उलझे हुए थे, लेकिन आस्ट्रिया तथा रूस नए उत्साह के साथ सीमा या प्रभाव विस्तार में लगे हुए थे। पूर्वी समस्या इनके बीच झगड़े की जड़ थी। साथ ही इंग्लैंड का रवैया शुरू से अन्य विजेताओं से अलग था। ऐसा नहीं था कि इंग्लैंड एक उदारऔर जनवादी देश था। वहां अनुदार पूंजीपतियों और सामंतों के हाथ में सत्ता थी और वे अपने उपनिवेशों, जैसे भारत में निरंतर हस्तक्षेप करते रहते थे, लेकिन यूरोप में वे हस्तक्षेप की नीति का विरोध करते थे। इससे एक तो यूरोप में कोई प्रतिद्वंद्वी नहीं बन पाता था, दूसरे उनके आदर्शवाद और प्रजातंत्र की हिमायत का मुखौटा भी बना रहता था। सबसे बड़ी बात तो यह कि उनके आर्थिक हित सुरक्षित रहते थे।

सैद्धांतिक स्तर पर भी यह व्यवस्था विरोधी थी। यूरोप ने क्रांति का स्वाद चखा था। बाद में थोड़ी कड़ुआहट भले ही लगी हो, शुरू की सुखद स्मृतियां अविस्मरणीय थीं। क्रांति की जो व्यावहारिक उपलब्धियां थीं और जिन्हें नेपोलियन भी नकार नहीं पाया था, वे नेपोलियन की ही विजयों के साथ सारे यूरोप में पहुंच चुकी थीं। राष्ट्रवादी चेतना तेजी से बढ़ रही थी। मुक्ति संग्राम की प्रेरणा मिल चुकी थी। ऐसी स्थिति में समय की धारा विपरीत दिशा में बहाने का प्रयत्न गलत था। विजेताओं के संघ ने यही प्रयास किया कि यथास्थिति बनी रहे और घटनाओं की पुनरावृत्ति न हो। लेकिन यह सोच अवैज्ञानिक थी। वे न केवल राजनीतिक, बल्कि आर्थिक और सामाजिक जीवन में भी प्रतिक्रियावादी भावों के पक्षधर थे। औद्योगिक क्रांति और मध्यमवर्ग के बढ़ते प्रभाव के विरुद्ध मध्ययुगीन कृषि व्यवस्था और सामंती समाज का पोषण अब असंभव था। विकास एक अक्षुण्ण नियम है। उसका मार्ग अवरुद्ध किया जा सकता है लेकिन समय के साथ अवरोध स्वयं नष्ट हो जाते हैं। मेटरनिख के नेतृत्व में इन लोगों की प्रतिक्रियावादी कोशिशें दमन कर सकती थीं। राष्ट्र और जनविरोधी नीतियां अपनाकर स्वाभाविक विकासक्रम को कुचलने का प्रयास कर सकती थीं, लेकिन उनके लिए कालक्रम पर विजय पाना असंभव था। यही हुआ भी। मेटरनिख की सारी व्यवस्था 1848 की क्रांति में जलकर राख हो गई।

इस कांग्रेस व्यवस्था का एक और पक्ष भी है। अपनी तमाम कमजोरियों और गलतियों के बावजूद यह अंतर्राष्ट्रीय सहयोग के क्षेत्र में पहला कदम था। युद्धकाल में एक दुश्मन के विरुद्ध कई देशों का सहयोग स्वाभाविक है, लेकिन शांतिकाल में और शांति बनाए रखने के लिए अंतर्राष्ट्रीय सहयोग का यह अनोखा उदाहरण था। कुछ लोग, विशेषकर अलेक्जेंडर तो इतना उत्साही था कि ईसाई सिद्धांतों के नाम पर ही सही, वह सहयोग को स्थाई स्वरूप देना चाहता था। लेकिन उसका कार्य समय से पहले का कह दिया जाता। समय आने पर जब अंतर्राष्ट्रीय सहयोग अनिवार्य रूप से बढ़ा तो इन प्रारंभिक प्रयोगों का इतिहास निश्चित ही काम आया।

4

क्रांतियों का दौर

मेटरनिख और उसके सहयोगियों ने सोचा था कि पेरिस और वियेना में लिए गए निर्णयों ने परिवर्तन की धारा अवरुद्ध कर दी है। विजेताओं के चतुर्मुखी संगठन ने अपने सम्मेलनों और हस्तक्षेप की नीति से हर कहीं यथास्थिति विरोधी तत्वों का दमन करके सोचा था कि अब यूरोप उनके नियंत्रण में है। उन्हें भ्रम था कि समय की धारा रुक गई है और वे अब अपने हितों की रक्षा की चिंता से निश्चित हो सकते हैं। उनका आश्वस्त होना स्वाभाविक था, क्योंकि स्पेन, नेपल्स या अन्य कहीं जहां लोगों ने संविधान या अधिकार की मांग की थी, किसी न किसी विजेता की सेना ने वहां सत्यानाश कर दिया था और निरंकुश एकतंत्रीय पुरातन व्यवस्था लागू कर दी गई थी। मेटरनिख प्रतिक्रियावाद का मसीहा बन बैठा था और स्वयं को आस्ट्रिया में तथा आस्ट्रिया को यूरोप में प्रतिष्ठित देखकर अपनी सफलता पर मुग्ध था। उसे और उसके जैसे लोगों को पहला झटका 1830 में लगा।

1830 की क्रांति

फ्रांस : नेपोलियन के पतन के बाद बूर्बो वंश के शासक लूई अठारहवें ने एक बार पुनः सिद्ध कर दिया कि बूर्बो लोग न तो इतिहास भूल पाते हैं और न ही उससे कुछ सीखते हैं। लूई की न कोई प्रतिष्ठा थी और न उसने किसी प्रकार की योग्यता का प्रदर्शन ही किया था। वह किसी भी तरह की उग्रता पसंद नहीं करता था और मध्यम मार्ग का अनुसरण करता हुआ स्वयं और अपने वंश की सुरक्षा चाहता था। नए विधान के अनुसार जो लोकसभा चुनी गई उसमें उग्रपंथियों का बहुमत था। लेकिन विशिष्ट जनों की दूसरी सभा में बहुमत अनुदार लोगों का था। इसलिए बात बात में विवाद पैदा होता था। चुनाव के नए कानून बने जो उग्रवादियों के पक्ष में थे। विशिष्टों की सभा ने उसे पारित नहीं किया। लोकसभा ने वियेना में तय हुए मुआवजे की रकम न देने के लिए शोर मचाया और सभा भंग कर दी गई।

नई सभा में नरम मध्यममार्गियों का बहुमत था इसलिए मुआवजा चुका दिया गया और विजेताओं की सेना फ्रांस से हटा ली गई। लेकिन धीरे धीरे वामपंथियों की शक्ति बढ़ रही थी। इसी बीच प्रेस संबंधी कानून बने। समाचारपत्रों से सेंसर हटा लिया गया। इस पर नरम दल के लोगों के कान खड़े हुए। चुनाव कानूनों में भी इस तरह परिवर्तन किए गए जिनसे उग्रवादियों को लाभ पहुंचा।

इस उलट-फेर में पुन: सेंसर लागू किया गया और देश की समस्याओं से ध्यान हटाने के लिए आक्रामक विदेश नीति लागू की गई। फ्रांस ने स्पेन में हस्तक्षेप कर दिया और वहां संविधान की मांग करने वालों को दबा दिया गया। स्पेन में मिली सफलता की आड़ में प्रेस संबंधी कानून और अधिक सख्त बना दिए गए। नए कर लगाए गए। शिक्षा व्यवस्था पूरी तरह सरकार द्वारा नियंत्रित विश्वविद्यालय को सौंप दी गई। असंतोष बढ़ने लगे।

इसी समय लूई की मृत्यु हो गई और उसकी जगह उसका भाई चार्ल्स दसवां गद्दी पर बैठा। चार्ल्स क्रांतिकाल के कष्टों को भूल नहीं पाया था और पुरानी व्यवस्था का कट्टर हिमायती था। वह कहा करता था : 'इंग्लैंड के राजा की तरह शासन करने की अपेक्षा लकड़हारा बनना बेहतर है।' उसने एक एक कर कानून बदलने शुरू किए। क्रांतिकाल में जो लोग देश छोड़कर भागे थे, और जिनकी संपत्ति हड़पी गई थी, उनको मुआवजा देने का निर्णय हुआ। जेसूट लोगों को फिर से आज्ञा दे दी गई कि वे फ्रांस में आकर अपना धार्मिक और शैक्षणिक कार्य कर सकते हैं। पादरियों का महत्व इतना बढ़ गया कि लगता था फ्रांस में 'पादरियों का, पादरियों द्वारा, पादरियों के लिए' शासन है। ब्रागली ने धार्मिक स्वतंत्रता की अवहेलना का विरोध किया। इस तरह की नीतियों से दोनों ही तरह के उग्रपंथियों में असंतोष बढ़ा और विशेष रूप से मध्यमवर्ग उसके विरुद्ध हो गया।

चार्ल्स ने लूई सोलहवें की तरह मंत्री बदल बदल कर समस्या का हल ढूंढ़ने की कोशिश की। लेकिन किसी मंत्री के पास कोई हल नहीं था। अपनी स्वतंत्रता के लिए तुर्कों के विरुद्ध लड़ रहे यूनानियों की मदद करके तथा अफ्रीका में उपनिवेश बनाकर ध्यान बंटाने का प्रयास किया गया। परंतु उसका पुरानी व्यवस्था से लगाव इतना स्पष्ट था कि जनता अब भुलावे में नहीं आ सकती थी। कानूनों में परिवर्तन होने पर एक वर्ग संतुष्ट होता तो दूसरा असंतुष्ट हो जाता। नए मंत्री पोलिन्याक ने घोर प्रतिक्रियावादी नीति अपनाई। राजा से मांग की गई नए मंत्री को बर्खास्त करने के लिए और राजा ने सभा ही भंग कर दी। फिर चुनाव हुए और नई सभा में पोलिन्याक के विरोधियों की संख्या और बढ़ गई।

जुलाई 1830 में राजा ने कतिपय अध्यादेश जारी किए। यह घोषणा हुई कि बिना सरकारी आज्ञा के कोई नया अखबार नहीं प्रकाशित होगा। हाल ही में हुए चुनावों को अस्वीकृत कर दिया गया। चुनाव के कानून बदल दिए गए और चुनाव की नई तिथि घोषित की गई।

अब तक यह स्पष्ट हो गया था कि राजा समझौते के लिए तैयार नहीं है। अध्यादेशों के घोषित होते ही एक बिजली जैसी दौड़ गई। पेरिस में उपस्थित पत्रकारों और सभा के सदस्यों ने विरोधपत्र तैयार किया। मजदूरों ने आंदोलन शुरू कर दिया। विशेष रूप से प्रेस मजदूरों ने विद्रोह कर दिया। कुछ ही दिनों में पेरिस में पहली क्रांति के दिन लौट से आए। सड़कों पर अवरोध (बैरिकेड) खड़े कर दिए गए और अशांति फैल गई। सैकड़ों लोग हताहत हुए। लाफाय्यत को चार्ल्स ने नई सरकार का नेतृत्व सौंप

दिया। लूई फिलिप को राज्य का लेफ्टीनेंट जनरल नियुक्त किया गया और अध्यादेश वापस ले लिए गए।

ये निर्णय समयानुसार किए गए होते तो स्थिति संभल सकती थी। लेकिन अब देर हो चुकी थी। पेरिस समझौते के लिए तैयार नहीं था। विद्रोही अपनी तत्काल की सफलता से प्रोत्साहित हुए थे और रुकना नहीं चाहते थे। चार्ल्स ने अपने परिवार के ही एक सदस्य के हक में राज्य का परित्याग कर दिया और इंग्लैंड चला गया। लूई फिलिप ने इस समय एक बुद्धिमानी की। उसने चार्ल्स के पदत्याग की तो घोषणा कर दी लेकिन यह नहीं बताया कि उसने अपना उत्तराधिकारी किसे चुना है। इस प्रकार उसने अपने लिए स्थान बनाना शुरू कर दिया।

कुछ क्रांतिकारी तत्काल गणतंत्र की स्थापना करना चाहते थे। इनमें छात्र और मजदूर भी थे। जिनका नेता कावान्याक था। परंतु ये लोग अल्पमत में थे। पहली क्रांति की स्मृति अभी धूमिल नहीं हुई थी और गणतंत्र स्थापित होते ही यूरोप भर के राजघराने फ्रांस के विरुद्ध हो गए थे। क्रांतिकारी इतने बड़े विरोध के मुकाबले के लिए तैयार नहीं थे। इसलिए राजतंत्र बनाए रखना जरूरी था। दीये के नेतृत्व में मध्यमवर्ग और पूंजीपतियों का वर्ग सीमित राजतंत्र का समर्थक था। लेकिन राजा कौन हो? लूई फिलिप सामने था। वह बूर्बों वंश का निकट से संबंधी होने के नाते राजवंश का था, परंतु प्रसिद्ध अपने उदार विचारों के लिए ही था। उसने क्रांतिकाल में सक्रिय हिस्सा लिया था और कुलीनों के विरुद्ध कार्य किया था। कुछ दिनों तक वह जैकोबैं लोगों के बहुत निकट था। अंत में उसे ही फ्रांस का राजा बनाने के लिए आमंत्रित किया गया। लूई फिलिप इस तरह 'ईश्वर की अनुकम्पा और जनता की इच्छा' से फ्रांस का राजा नहीं, फ्रांसीसी जनता का राजा घोषित किया गया। राजा से अध्यादेश का अधिकार ले लिया गया। इतना सब होने के बावजूद न तो प्रजातंत्र की स्थापना हुई और न ही आम जनता की आर्थिक स्थिति में ही कोई परिवर्तन।

इस क्रांति ने फ्रांस में वही कार्य किया जो 1688 की क्रांति ने इंग्लैंड में किया था। राजा के दैवी अधिकारों का हमेशा के लिए अंत हो गया। अब वह राष्ट्र की इच्छा से राजा था और इसलिए उसके विरुद्ध जाना अपने अस्तित्व को ही संकट में डालना था। इस क्रांति के साथ वैधता का सिद्धांत उसके पक्षधरों की गलतियों से ही ध्वस्त हो गया और पुरानी व्यवस्था का लौटना असंभव हो गया। नए संविधान में कोई आधारभूत परिवर्तन नहीं किया गया लेकिन सामंतों और पादरियों का प्रभाव कम हो गया। फ्रांस में भी मध्यवर्गीय प्रभाव बढ़ने लगा और वियेना कांग्रेस द्वारा स्थापित व्यवस्था पर पहला सफल प्रहार हुआ। फ्रांस के इतिहास का एक ऐसा दौर शुरू हुआ जो 1789 में आरंभ हुआ होता तो फ्रांस का इतिहास कुछ और होता। चार दशकों के बाद इस प्रयोग की सफलता संदिग्ध थी।

पहली क्रांति के दौरान सड़कों पर नेतृत्व पैदा होने लगा था और मेहनतकश लोगों का प्रभाव बढ़ने लगा था। मध्यमवर्ग ने हर हथकंडा अपनाकर सत्ता अपने हाथ में ले ली थी और क्रांति का लाभ स्वयं उठा लिया था। इस बार फिर क्रांति सड़कों पर शुरू हुई

थी और मजदूरों ने अपना हक मांगना शुरू कर दिया था लेकिन चालाक मध्यमवर्ग और पूंजीपतियों ने स्थिति को समझकर समझौता कर लिया और लूई फिलिप के रूप में ऐसा विकल्प प्रस्तुत किया जो लोगों को स्तब्ध कर भुलावे में डाल सकता था और बिना कोई वास्तविक परिवर्तन किए ही आम जनता को सत्ता के प्रश्न से दूर उलझाए रख सकता था। यह क्रांति भी मध्यमवर्ग की सफलता और मेहनतकश साधारण जनता के चलते रहने वाले संघर्ष का परिचायक थी। 1830 में उदार बैंकर लाफ्फित ने कहा था : 'अब तो बैंकर लोग ही राज करेंगे।' और यह सच साबित हुआ था।

यह क्रांति यदि फ्रांस तक सीमित रहती तब भी इसका महत्व था—और यह उस देश के इतिहास की एक ऐतिहासिक घटना थी। लेकिन इस समय तक यूरोप की प्रतिक्रियावादी शक्तियां यदि एकजुट हो रही थीं तो क्रांतिकारी लोगों में भी परस्पर सहयोग बढ़ा था। असंतोष और परिवर्तन की उत्कट आकांक्षा यूरोप के अधिकांश देशों में व्याप्त थी। इसलिए फ्रांस की घटनाओं ने यूरोप के अन्य देशों पर भी प्रभाव डाला।

बेल्जियम की स्वतंत्रता : आदमी की प्रकृति पर जीत के जीवंत प्रमाण नीदरलैंड ने फिलिप द्वितीय के शासनकाल में स्पेन की प्रभुता के विरुद्ध विद्रोह किया था। पराजय के समय साम्राज्यवाद ने फूट डालने का प्रयास कर नीदरलैंड के उत्तरी और दक्षिणी प्रदेशों के बीच फूट डाल दी थी। उत्तरी क्षेत्र प्रोटेस्टेंट और जर्मन प्रभाव के करीब था। दक्षिणी क्षेत्र कैथोलिक तथा फ्रांसीसी प्रभाव में था। इसलिए स्पेन के प्रशासकों ने दक्षिणी क्षेत्र में जो बाद में बेल्जियम कहलाया, फूट डालने में सफलता प्राप्त कर ली थी। वेस्टफेलिया की संधि में जब नीदरलैंड (हालैंड) की स्वतंत्रता को मान्यता मिली तो बेल्जियम गुलाम बना रहा और यूट्रेक्ट की संधि के बाद आस्ट्रिया के प्रभुत्व में चला गया। इस प्रकार अपने देश की आजादी की लड़ाई में से अलग हो जाने की उसे काफी कीमत चुकानी पड़ी।

तब से बेल्जियम पर आस्ट्रिया का प्रभुत्व था। नेपोलियन ने इसे जीतकर फ्रांस में मिला लिया था, लेकिन जब वियेना में बंदरबांट हो रही थी तो फ्रांस के चारों ओर शक्तिशाली देशों का घेरा डालने के उद्देश्य से बेल्जियम हालैंड को दे दिया गया था। इस तरह राष्ट्रीय भावनाओं की अवहेलना कर बेल्जियम को ऐसे देश से बांध दिया गया था जिससे बेल्जियम की परंपरा घृणा बन गई थी।

बेल्जियम और हालैंड में भाषा, धर्म और व्यवसाय का अंतर था। संख्या में ज्यादा होते हुए भी बेल्जियम के लोगों से हालैंड के डच लोग घृणा करते थे। इसके अतिरिक्त ज्यादातर नौकरियों में उन्हें स्थान नहीं मिलता था। सारे प्रशासन का केंद्र हालैंड की राजधानी हेग था। ब्रूसेल्स में लोकसभा की कभी कभी बैठक तक भी नहीं बुलाई जाती थी। राजभाषा केवल 'डच' थी तथा बेल्जियम का हालैंड के हक में शोषण होता था। आटे और गोश्त पर नए कर लगाए जा रहे थे और कैथोलिक पादरियों के हाथ से सरकार शिक्षा व्यवस्था अपने हाथ में ले रही थी।

अतः इस थोपे हुए संबंध के विरुद्ध बेल्जियम की जनता और वहां के राजनेता शुरू से ही क्षुब्ध थे और उसे तोड़ने के लिए सक्रिय थे। पेरिस की जुलाई क्रांति की खबर जब

ब्रूसेल्स पहुंची तो वहां भी विद्रोह हो गया। हालैंड के शासक विलियम ने विद्रोह दमन करने के लिए सेना भेजी, परंतु उत्कट विरोध के सामने उसे लौटना पड़ा। रूस अपनी समस्याओं में उलझा हुआ था और फ्रांस तथा इंग्लैंड वेल्जियम के पक्षधर थे। ऐसी हालत में वियेना समझौता लागू करने के लिए कौन हस्तक्षेप करता ? फलत: परिस्थितियां अनुकूल देखकर राजधानी ब्रूसेल्स में वेल्जियम की स्वतंत्रता की घोषणा कर दी गई।

लंदन में सम्मेलन बुलाया गया और वेल्जियम की स्वतंत्रता को मान्यता मिल गई। नए राज्य का ताज किसे दिया जाए ! पहले नमूर के ड्यूक का नाम लिया गया, लेकिन इंग्लैंड सहमत नहीं था इसलिए सर्वसम्मति से सैक्स कोबुर्ग के शासक लेओपोल्ड को वेल्जियम का राजा घोषित किया गया। हालैंड ने इसे स्वीकार नहीं किया और आक्रमण कर दिया। फ्रांस ने वेल्जियम की ओर से हस्तक्षेप किया। हालैंड को हटना पड़ा, लेकिन उसने एंटवर्प नामक व्यावसायिक नगर नहीं छोड़ा। अंततोगत्वा 1839 में लंदन में एक और सम्मेलन हुआ और एंटवर्प सहित वेल्जियम की स्वतंत्रता को हालैंड ने भी स्वीकार कर लिया। इस प्रकार जुलाई क्रांति से ही एक नए स्वतंत्र देश 'वेल्जियम' का जन्म हुआ।

इन क्रांतियों का असर यूरोप के अन्य देशों पर भी पड़ा। जर्मन और इटालियन राष्ट्रवादियों ने विद्रोह का झंडा बुलंद किया। दोनों ही क्षेत्रों में मेटरनिख का प्रभाव था और उसने जर्मनी के राज्यों की स्वतंत्रता और निकटता तथा इटली में कार्बोनारी की क्रांतिकारी परिवर्तनों की इच्छाओं का दमन कर दिया। जर्मनी और इटली की राष्ट्रवादी प्रवृत्तियों को एक बहुत वड़ा झटका और लगा। इसी तरह पोलैंड, जिनका तीन वार विभाजन कर उसे समाप्त कर दिया गया था, फ्रांस की क्रांतियों से प्रेरणा प्राप्त करता था। जुलाई क्रांति की खबर पहुंचते ही राष्ट्रभक्तों ने विद्रोह किया, लेकिन पोलैंड को मुट्ठी में रखने के लिए जार कृत संकल्प था और वहां भी क्रांतिकारियों को कोई सफलता नहीं मिल पाई।

इन क्रांतियों का रचनात्मक प्रभाव इंग्लैंड की राजनीति पर भी पड़ा। संवैधानिक राजतंत्र होते हुए भी वहां सामंतों की प्रधानता थी। राजनीतिक सत्ता उनके हाथ में थी जबकि आर्थिक सत्ता पूंजीपतियों के हाथ में। 1830 के बाद सुधार कानून बनने शुरू हुए जिससे राजनीतिक अधिकारों का विस्तार हुआ और संपत्ति कर तथा चुनाव संबंधी नियम और अधिक उदार वनाए गए।

इस क्रांति ने यह स्पष्ट कर दिया था कि पुरानी व्यवस्था पुनः थोपना असंभव है और परिवर्तन की आकांक्षा मध्यमवर्ग में ही नहीं, मेहनतकश मजदूरों में भी व्याप्त हो रही है तथा वे भी कुछ करने पर आमादा हो रहे हैं। लेकिन साथ साथ यह भी सच था कि नेतृत्व मध्यमवर्ग के हाथ में था और वे पुरानी व्यवस्था को असह्य मानते थे, क्योंकि वह आर्थिक परिवर्तन के मार्ग में अवरोध उपस्थित करती थी, लेकिन वे किसी ऐसे परिवर्तन के लिए तैयार नहीं थे जिसमें शक्ति का स्रोत वे न रहकर मजदूर हो जाएं। उनका संघर्ष दोतरफा था। एक तरफ सामंतशाही और निरंकुश एकतंत्र से उनका विरोध था तो दूसरी ओर श्रमजीवी वर्ग से उनका संघर्ष सुषुप्त और अंदर अंदर चलता था क्योंकि

उनके लिए शोषित लोगों को अपने साथ और अपने पीछे रखना जरूरी था। इसलिए 1830 की क्रांति ने स्पष्टतः बहुत बड़े परिवर्तन नहीं किए लेकिन यूरोपीय महाद्वीप के राज्यों में भी राजत्व का आधार दैवी इच्छा नहीं, जनता की इच्छा बनने लगी। और इसलिए फ्रांसीसी की पहली क्रांति का ही क्रम पेंतीस वर्षों के अंतराल के बाद फिर जारी हुआ।

1848 की क्रांतियां

बच्चे एक लाइन से ईंटें खड़ी करके जब पहली ईंट गिराते हैं तो पूरी कतार एक एक करके गिरने लगती है। 1848 में कुछ ऐसा ही हुआ। वियेना कांग्रेस में संगठित प्रतिक्रियावाद यूरोप के सहज विकास के मार्ग में दीवार बनकर खड़ा हो गया था। उस दीवार पर इस बीच हर प्रहार नाकाम हुआ था। मेटरनिख उसका प्रखर प्रहरी था। लेकिन जब दीवार से टकराने वाली प्रगतिशील धारा का प्रवाह बढ़ा तो यह बालू की दीवार सिद्ध हुई।

1830 की क्रांति अनिवार्य नहीं थी। फ्रांस में थोड़ी सूझ बूझ से उसे टाला जा सकता था, क्योंकि न तो वैचारिक पक्ष बहुत मजबूत और विस्तृत था और न ही संगठन पक्ष। इस बार बात दूसरी थी। पिछले दशक में यूरोप के वैचारिक जगत में क्रांतिकारी परिवर्तन हुए थे। सुधारवादी विचारधारा के स्थान पर समाज के ढांचे में आमूल परिवर्तन की बात होने लगी थी। प्रतिरोधों के बावजूद औद्योगिक क्रांति की लहर यूरोप तक भी आ पहुंची थी। नगरों में मजदूरों की संख्या बढ़ रही थी और साथ ही बढ़ रहा था उनका असंतोष तथा संगठन। अब यह स्पष्ट हो गया था कि समाज में परिवर्तन राजा के बदलने या सुधारों की लीपा-पोती करने से नहीं होता।

क्रांतियों का स्रोत : 1848 की क्रांति के पीछे प्रतिक्रियावादी शक्तियों की दमनकारी नीति के बावजूद हो रहे मौलिक परिवर्तन थे जो आर्थिक जीवन और वैचारिक जगत को तेजी से प्रभावित करने जा रहे थे। मेटरनिख युग का मूलमंत्र ही परिवर्तन का विरोध था। आवश्यक सुधार भी नहीं किए जा रहे थे। सुधार शासकों के लिए एक तरह से 'सेफ्टी वाल्व' का काम करते हैं। यूरोप के शासक इसके लिए भी तैयार नहीं थे। वे बाहरी शांति के नीचे परिवर्तन की धधकती आकांक्षा देख नहीं पा रहे थे। क्रमिक परिवर्तन और सुधारों के अभाव में असंतोष और आक्रोश का विस्फोट अनिवार्य था।

वास्तविकता यह थी कि अठारहवीं शताब्दी के अंत में औद्योगिक क्रांति ने इंग्लैंड का अर्थतंत्र झकझोर डाला था। अब पश्चिमी यूरोपीय देशों में भी औद्योगीकरण और मशीनों का प्रयोग तेजी से हो रहा था। इसी पूंजीवादी अभ्युत्थान के कारण परंपरागत अर्थतंत्र टूटता जा रहा था और उसका नया रूप अभी पूरी तरह विकसित नहीं हो सका था। परिणाम यह कि पश्चिमी यूरोपीय देश भारी अर्थसंकट से गुजर रहे थे। उत्पादन के तरीकों में परिवर्तन अनिवार्यतः पूरे समाज को बदल डालता है। इसीलिए पश्चिमी यूरोप जीवन के हर क्षेत्र में उद्वेलित था। अब एक देश की अर्थव्यवस्था का दूसरे पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक हो गया था और इसलिए इंग्लैंड की अपेक्षतया उन्नत व्यवस्था के मुकाबले पश्चिमी यूरोप घाटे में रहता था। वहां चीजों के दाम बढ़ रहे थे। शासकगण स्थिति को समझ नहीं पा रहे थे इसलिए स्थिति उनके नियंत्रण में नहीं रह गई थी।

पूंजीपतियों की शक्ति बढ़ रही थी और वह तदनुकूल राजनीतिक सत्ता पर भी अधिकार चाहने लगे थे। नगरों की जनसंख्या बढ़ रहीं थी और मजदूर गांव से शहर आकर और अधिक असंतुष्ट हो रहा था। मजदूरों के बढ़ने और उनके एक साथ रहने के कारण उनका व्यक्तिगत असंतोष अब समवेत रूप में एक ताकत बनता जा रहा था। मजदूरों को धीरे धीरे यह पता चल रहा था कि इन विषमताओं के मुख्य कारण उनके अपने और समाज की स्थिति के मूल में निहित हैं। उनके समवेत आंदोलनों को भी अब बल मिल रहा था। ऐसी स्थिति का विचारों पर प्रभाव पड़ना भी स्वाभाविक था। धीरे धीरे 'ज्ञानोदय' काल और उसके बाद विकसित उदारतावाद का खोखलापन स्पष्ट होने लगा था। औद्योगिक विकास ने समाज के बारे में नए सिरे से विचार करने की आवश्यकता पैदा कर दी थी। फ्रांस, इंग्लैंड और जर्मनी में आर्थिक पक्षों की प्राथमिकता स्वीकार की जाने लगी थी। अब जनसाधारण और श्रमिक को प्रजा मानकर उसकी भलाई करने के ढकोसलों का भंडाफोड़ होने लगा था और उनके वास्तविक अधिकारों की बात की जाने लगी थी। समाज का नया विश्लेषण अब समाजवाद के नाम से जाना जाने लगा था। फ्रांस में सैंसीमों और फूरिए ने समाजवाद की कल्पना की। हालांकि इस संदर्भ में उनके विचार काल्पनिक थे, लेकिन समाज में मौलिक परिवर्तन की आवश्यकता को रेखांकित अवश्य करते थे।

इस दिशा में ऐतिहासिक योगदान जर्मन दार्शनिक कार्ल मार्क्स का था। उसने इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या की और मानव के विकास में उत्पादन तथा विनिमय के बदलते तरीकों के साथ विभिन्न वर्गों के संघर्ष को निर्णायक बताया। द्वंद्वात्मक भौतिकवाद पर आधारित मार्क्स का वैज्ञानिक समाजवाद न केवल इतिहास की तर्कसंगत व्याख्या करता था, उसमें वर्तमान तथ्यों का विश्लेषण और भविष्य की रूपरेखा भी थी। मार्क्स के विचारों में मनुष्य की अनिवार्य प्रगति की आश्वस्ति थी और पूंजीवादी व्यवस्था के गर्भ से समाजवाद और मजदूरों के राज्य के निश्चित रूप से जन्म लेने का तर्कपूर्ण प्रतिपादन था। 1848 में ही विशद अध्यन, व्यापक अनुभव और समझदारी के आधार पर मार्क्स ने एक छोटी सी पुस्तिका प्रकाशित की 'कम्यूनिस्ट मैनीफैस्टो' इस पुस्तक में उनकी समाजवादी विचारधारा का सार था और मजदूरों का आह्वान था : 'सर्वहारा के पास खोने के लिए बंधनों के अतिरिक्त कुछ नहीं है, और पाने के लिए सारी दुनिया है। इसलिए दुनिया के मजदूरो, एक हो!' यह एक ऐतिहासिक समझ और युगांतकारी आह्वान था।

इस तरह यह स्पष्ट था कि 1848 की क्रांतियों के मुख्य कारण अलग अलग देशों में चाहे जो रहे हों, उनके मूल में उपर्युक्त आधारभूत कारण ही मौजूद थे।

लूई फिलिप

लूई फिलिप ने फ्रांस में नई चेतना का संचार किया था। उसे 'नागरिक राजा' कहा जाने लगा था, क्योंकि वह क्रांति की लड़ाई में शामिल हुआ था। मध्यमवर्ग और मजदूरों तक से उसके अच्छे संबंध थे। देश में नेपोलियन की गाथाओं के बढ़ते प्रभाव के प्रति भी वह

संवेदनशील था और उसने इंग्लैंड से अनुरोध करके नेपोलियन की अस्थियां सेंट हेलेना से फ्रांस मंगा ली थीं। मृत नेपोलियन का उतना ही स्वागत हुआ था जितना कभी जीवित नेपोलियन का हुआ करता था। सेन नदी के किनारे एक भव्य मकबरे में बड़ी शान-शौकत से अस्थियां स्थापित की गईं। नेपोलियन के विचारों का प्रभाव भी बढ़ता जा रहा था और उसकी स्मृति से फ्रांसीसी जनता भावुक तथा सचेष्ट होने लगी थी। दूसरी ओर फ्रांस में उद्योगों की वृद्धि हो रही थी। वहां मजदूरों में अशांति और उनके बीच समाजवादी विचारों का जोर भी बढ़ रहा था। ऐसी स्थिति में लूई फिलिप के लिए बहुत गतिशील और प्रभावशाली नीति अपनाना जरूरी था। लेकिन प्रारंभिक उत्साह के बाद उसकी कमजोरियां बाहर झांकने लगी थीं।

उसके पदग्रहण के बाद संविधान में थोड़े परिवर्तन किए गए थे। अध्यादेश जारी करने का अधिकार सीमित कर दिया गया था। लोकसभा को कानून प्रस्तावित करने का अधिकार मिल गया था। प्रेस पर लगाया गया नियंत्रण समाप्त कर दिया गया था। मताधिकार का भी थोड़ा विस्तार हुआ था। लेकिन वास्तव में लूई फिलिप का शासन पूंजीपतियों के हक में और उन्हीं पर आधारित था। यह निश्चित था कि ऐसे शासन का श्रमिक वर्ग विरोध करेगा। मार्क्स के अनुसार फिलिप का राजतंत्र एक संयुक्त कंपनी (ज्वाइंट स्टाक कंपनी) की तरह था जो राष्ट्र की संपत्ति का इस्तेमाल कर रही थी और जिसका लाभ मंत्रियों, सभा के सदस्यों और सीमित मतदाताओं के बीच बांट लिया जाता था। फिलिप की हैसियत इस कंपनी के निदेशक मात्र की थी। उस समय फ्रांस में कई तरह की विचारधाराओं का प्रचार हो रहा था। प्रगतिशील लोग प्रजातांत्रिक और सामाजिक सुधारों की मांग कर रहे थे। वे चाहते थे कि फ्रांस की सरकार दुनिया भर में उन लोगों की मदद करे जो शोषित या पीड़ित हैं। अनुदार लोग इसके ठीक विपरीत सोचते थे। वे वैधता के पक्षधर बूर्बो वंश की पुनर्स्थापना चाहते थे तो गणतंत्रवादी लोग राजतंत्र का ही अंत चाहते थे। 'बोनापार्टिस्ट दल' नेपोलियन की उपलब्धियों और उसके समय फ्रांस की गरिमा का प्रचार कर नेपोलियन की गाथा से फ्रांस को अभिभूत कर देना चाहते थे। उनके प्रभाव में पेरिस की सड़कों का नाम नेपोलियन के युद्धों के नाम पर रखा जा रहा था। इसी समय पेरिस की सबसे प्रसिद्ध सड़क शांजेलीजे के एक छोर पर विजय द्वार का निर्माण किया गया।

इन विचारों की आपसी टकराहट से बराबर दंगे होते रहते थे। बूर्बो समर्थकों ने लावांदे में विद्रोह किया था। गणतंत्रवादियों ने पेरिस और लिओं में आंदोलन किए थे। हड़तालें हो रही थीं। फिलिप की हत्या का भी प्रयत्न किया गया था।

इन चीजों से सख्ती से निपटने के लिए किसी भी तरह की संस्था बनाने के लिए सरकार की आज्ञा अनिवार्य कर दी गई। समाचारपत्रों पर फिर से नियंत्रण लगाया गया। पत्रकारों को सजा दी जाने लगी। नए कानून और उन्हें लागू करने के लिए नई अदालतें बनाई गईं। निरंकुशता बढ़ने लगी। लोकसभा पर भ्रष्ट तरीके अपनाकर नियंत्रण कर दिया गया। मताधिकार पुनः सीमित कर दिया गया। सभा के सदस्यों को सरकारी प्रलोभन देकर वश में किया जाने लगा। फिलिप की बढ़ती प्रतिक्रियावादिता ने विरोधियों को

और अधिक उग्र कर दिया। पहले उन्होंने यह सोचा कि फिलिप के विरुद्ध संघर्ष पार्लमेंट में हो, लेकिन मोले ने यह निश्चित किया कि अंतिम संघर्ष पूरे राष्ट्र के सामने हो क्योंकि वह जानता था कि राष्ट्र उसके साथ है, फिलिप के साथ नहीं।

विदेश नीति के क्षेत्र में भी क्रियाशीलता का प्रदर्शन किया गया। दीये एक सख्त नीति का पक्षपाती था। मिस्र के शासक मेहमत अली ने जब तुर्की के सुल्तान के विरुद्ध विद्रोह किया तो फ्रांस ने मेहमत का समर्थन किया। लेकिन अन्य राज्यों द्वारा तुर्की का समर्थन कर देने के कारण फ्रांस अकेला पड़ गया। दीये युद्ध का समर्थक था इसलिए उसे मंत्रिपद से हटना पड़ा। फिलिप ने युद्ध के झमेले में पड़ना उचित नहीं समझा। दीये के बाद सुप्रसिद्ध इतिहासकार गीजो को मंत्री बनाया गया। वह इंग्लैंड से मैत्री बढ़ाना चाहता था लेकिन फिलिप की ढुलमुल नीति ने इंग्लैंड को भी रुष्ट कर दिया। कुल मिला-कर फिलिप की विदेश नीति भी जनता को संतुष्ट नहीं कर सकी थी और न ही इससे फ्रांस का कहीं सम्मान बढ़ा।

इस वातावरण में भी फ्रांस में उद्योगों की वृद्धि हो रही थी। मजदूरों को बिना छुट्टी बारह बारह घंटे काम करना पड़ता था। मजदूरी बहुत थोड़ी मिलती थी। छोटे छोटे बच्चे तक काम करते थे। फिर भी उनके घर का खर्च चलना मुश्किल था। कारखानों में काम के हालात बहुत अस्वास्थ्यप्रद थे। मजदूरों को संगठन बनाने की मनाही थी इसलिए प्रशासन और राजनीति में उनकी कोई भूमिका नहीं थी।

इन असंतुष्ट मजदूरों के बीच समाजवादी विचारधारा का तेजी से प्रचार प्रसार हो रहा था। यद्यपि समाजवादी विचारक आपस में सहमत नहीं थे, परंतु सभी मजदूरों के हितों के पक्षधर और उनके लिए संघर्ष की पृष्ठभूमि बनाने में लगे हुए थे। प्राउधों, लरू और लूई ब्लां जैसे प्रसिद्ध विचारक फ्रांस की आर्थिक स्थितियों और पूंजीवाद के स्वरूप का विश्लेषण कर मजदूरों की संघर्षकारी भूमिका मजबूत कर रहे थे।

इसी बीच दो महत्वपूर्ण घटनाएं सामने आईं। 1845-46 में फसलें खराब हो गईं। रूखा सूखा भोजन भी कठिन हो गया भूख से तंग लोगों ने दंगे शुरू कर दिए और सामान्य लोगों का असंतोष बहुत बढ़ गया। दूसरे, 1847 में इंग्लैंड के अर्थतंत्र को बहुत बड़ा झटका लगा। बैंक असफल होने लगे तथा उद्योग बंद हो चले। इंग्लैंड सबसे उन्नत औद्यो-गिक देश था और उसकी आर्थिक मंदी का सारे यूरोप पर असर पड़ना अनिवार्य था। जनवरी 1848 में तौक्विल ने पार्लमेंट में गरजकर पूछा, 'क्या अब भी कल का इंतजार होगा?' गीजो हमेशा की तरह निष्क्रिय मुस्कुराता रहा। धीरे धीरे फ्रांस के सभी दल लूई फिलिप के विरुद्ध हो गए। वैधतावादी इसलिए विरोधी हुए कि फिलिप बूर्बों वंश का नहीं था और शुरू में जैकोबें रह चुका था, बोनापार्टिस्ट इसलिए विरुद्ध थे कि वह नेपोलियन के समर्थकों के मार्ग में अवरोध था, गणतंत्रवादी इसलिए रुष्ट थे कि वह क्रांति के मार्ग में रुकावट था।

इस पृष्ठभूमि में ही फरवरी 1848 की घटनाओं को देखना चाहिए। पेरिस में प्रति-भोजों का आयोजन किया गया था वे जहां लोगों के मिलने जुलने और बातचीत करने का बहाना थे। सरकार ने इस पर रोक लगा दिया। इस पर पेरिस में दंगे शुरू हो गए और

सड़कों की नाकेबंदी कर दी गई। सेना बुलाई गई और उसने गोली चलाने से इंकार कर दिया। यह अप्रत्याशित था। लूई फिलिप घबरा गया और उसने कुछ सुधारों की घोषणा कर दी। गीजो को हटना पड़ा। गीजो के घर की रक्षा करते समय सैनिकों ने भीड़ पर गोली चला दी थी। मृत शहीदों के लिए भीड़ उत्तेजित हो गई। सड़कों पर लड़ाई चलती रही और प्रत्यक्ष रूप से गणतंत्र की मांग की जाने लगी। भीड़ ने मांग की कि 1830 के समान गणतंत्र के बदले राजतंत्र की स्थापना नहीं हो सकती। कवि लामारतीन भी भीड़ को वश में कर सकने में असमर्थ था। लूई को मजबूरन पदत्याग करना पड़ा।

1848 की क्रांति में भी फ्रांस के बूर्जुआ वर्ग की प्रमुखता बनी रही, पर यह निश्चित था कि धनिकों की जगह अब छोटे पूंजीपतियों का प्रभाव भी बढ़ चला था। जब अस्थाई सरकार बनी तो लामारतीन ने इस बात का विरोध किया कि पेरिस के लोग गणतंत्र की घोषणा कर दें। धीरे धीरे सारे महत्वपूर्ण पद पूंजीपतियों और मध्यमवर्गीय लोगों ने आपस में बांट लिए। लेकिन इस बार मजदूर पहले से अधिक संगठित थे। उनके नेता रास्पाइ ने साफ कह दिया कि यदि गणतंत्र की घोषणा नहीं हुई तो मजदूर स्वयं निर्णय करेंगे। इस चेतावनी का असर हुआ और दो घंटों के अंदर ही सारा नगर फ्रांसीसी गणतंत्र के नारों से गूंजने लगा।

लूई फिलिप का पतन इसलिए हुआ कि उसने समय को ठीक से पहचाना नहीं। उस की मध्यममार्गी नीति का कोई वर्ग पूरी तरह पक्षधर नहीं हो सका था। उसने उस वर्ग को साथ रखना पसंद किया जो राजनीतिक सत्ता में उतनी दिलचस्पी नहीं रखता था जितनी आर्थिक सत्ता में। बूर्जुआ वर्ग का केवल धनिक बैंकर वर्ग ही इससे संतुष्ट था। औद्योगिक पूंजीपति अभी भी अल्पमत में था। फिलिप के समर्थक पूंजीपति वर्ग को प्रशासन का अनुभव भी नहीं था। ऐसी स्थिति में फिलिप के शासनतंत्र का कमजोर होना स्वाभाविक था। फिलिप के पास राजनीतिक और सामाजिक सुधारों का कोई कार्यक्रम भी नहीं था। विदेश नीति में ऐसी सफलता नहीं मिल रही थी जिससे जनता गौरवान्वित होती। दूसरी ओर गणतंत्रवादियों ने सुधार के अनेक कार्यक्रम घोषित कर रखे थे। बोनापार्टिस्ट दल अतीत की गरिमा के बूते अपना प्रभाव बढ़ा रहा था। फ्रांस की आर्थिक स्थिति का दूरदर्शी आकलन करने वाला कोई व्यक्ति लूई के पास नहीं था। सब कुछ स्थिर हो चला था। गीजो के बारे में कहा जाने लगा कि 'वह कुछ नहीं करता, यही उस की शक्ति और यही उसकी कमजोरी है।' सभा में लामारतिन ने चिल्लाकर कहा था कि फ्रांस एकदम निस्तेज हो रहा है (फ्रांस इज बोर्ड)। लेकिन फिलिप में गति प्रदान करने की सामर्थ्य नहीं थी। ऐसे में उसकी दुर्गति अनिवार्य थी। फिर भी सुधारों से स्थिति संभाली जा सकती थी। लेकिन लूई नेपोलियन कहा करता था, 'हम सुधार नहीं करते, क्रांति करते हैं।' फ्रांस में यही हुआ।

आस्ट्रिया : मध्य यूरोप के विस्तृत भूभाग पर फैला पवित्र रोमन साम्राज्य मुख्यतः जर्मन था फिर भी उसमें विभिन्न जातियों और धर्मों के लोग रहते थे। नेपोलियन ने इस साम्राज्य की प्राचीन गरिमा भंग कर दी थी, लेकिन वियेना में एक बार फिर आस्ट्रियन साम्राज्य प्रतिष्ठित होकर उभरा था और जर्मन क्षेत्र के अन्य राज्यों में उसे प्रमुखता

प्राप्त हो गई थी। इस साम्राज्य के इटालियन, हंगेरियन और बोहेमियन जैसी राष्ट्रीयता के लोग अपनी राष्ट्रीय अस्मिता बनाए रखने के लिए व्यस्त और सचेष्ट थे। लेकिन वियेना के बाद की व्यवस्था उनकी आकांक्षाओं के सर्वथा विपरीत थी।

आस्ट्रिया में सत्ता का संचालन मेटरनिख के हाथ में था। वह साम्राज्य के अलग अलग घटकों को आपस में लड़ाकर उनका पक्ष कमजोर बनाए रखता था। यूरोप के अल्पसंख्यकों में हस्तक्षेप करने का हिमायती मेटरनिख आस्ट्रिया में तो किसी भी विद्रोह या राष्ट्रीय आंदोलन का दमन करने में नृशंस तरीका अपनाने को तैयार था।

यदि साम्राज्य में एकरूपता होती तो संवैधानिक राजतंत्र का आंदोलन छिड़ सकता था। यहां की विविधाओं में विद्रोह का स्वरूप अनिवार्यतः राष्ट्रीय हो गया। सबसे पहले विद्रोह की चिंगारी साम्राज्य के इटालियन प्रांतों—वेनेशिआ और लोम्बार्डी में भड़की। वहां के राष्ट्रवादी लोग आस्ट्रियन प्रभाव पूरी तरह समाप्त कर देना चाहते थे। इटली के राष्ट्रभक्त अपने देश में आस्ट्रिया की मौजूदगी को एकीकरण के मार्ग में सबसे बड़ा अवरोध समझते थे। इसलिए लोम्बार्डी और वेनेशिआ के विद्रोह को सारे इटली में समर्थन प्राप्त हुआ। लेकिन फिलहाल उसे दबा दिया गया।

कुछ दिनों बाद ही हंगरी में विद्रोह हुआ। नेपोलियन की सेनाएं जहां जहां गईं थीं वहां पुरानी व्यवस्था ध्वस्त हो गई थी, लेकिन हंगरी में अभी भी सामंती शासन था। देश की लोकसभा एक तरह से सामंत सभा थी जिसमें केवल कुलीनों को अधिकार प्राप्त था। किसान अभी भी अर्द्धगुलाम की तरह रहता था। हंगरी में भी परिवर्तन की हवा बहने लगी थीं। सबसे पहले भाषा का प्रश्न उठा। सारे यूरोप में राष्ट्रीय भाषाओं का विकास हो चुका था लेकिन हंगरी में मगयार के स्थान पर लातिन भाषा ही राजभाषा थीं। मगयार भाषा को मान्यता मिली तो राज्य के अन्य अल्पमत सर्ब और क्रोट लोग भी अपनी भाषाओं के लिए मांग करने लगे।

लेकिन आंदोलन का प्रखर रूप तब प्रकट हुआ जब एक प्रबुद्ध वकील कोसुथ ने लोकसभा में और बाहर भी अपने समाचारपत्र के माध्यम से विशेषाधिकारों और किसानों की अर्द्धगुलामी का अंत करने की मांग की—उसने अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता की मांग की। उसने लोकसभा को पूरे राष्ट्र की, प्रतिनिधि सभा, केवल सामंतों की नहीं; बनाने की मांग की और उसे कानून बनाने तथा कर लगाने का पूरा अधिकार देने की वकालत की। उसने आस्ट्रिया के प्रभुत्व से भी मुक्ति चाही।

उत्तर में स्थित बोहेमिया का बहुमत चेक था। वहां भी अल्पमत जर्मन लोगों के प्रभुत्व से आक्रांत चेक लोग अपनी भाषा का विकास और आस्ट्रिया से मुक्ति चाहते थे। उन्हें हंगरी के आंदोलन से प्रेरणा मिली और वहां भी एक मांगपत्र तैयार कर उसे वियेना भेजा गया।

जैसे ही पेरिस की फरवरी क्रांति की खबर फैली, मार्च में कोसुथ ने हंगरी की लोकसभा में आस्ट्रियन सरकार की कटु आलोचना की। लोकसभा ने हंगरी के लिए एक अलग संविधान की मांग की। सम्राट फर्डिनेंड को मांग स्वीकार करनी पड़ी। जनमत परिवर्तन के लिए इतना कटिबद्ध था कि प्रतिक्रियावादियों को विरोध करने की हिम्मत नहीं पड़ी

और मार्च कानून पारित कर दिए गए। इन कानूनों द्वारा अर्द्धगुलामी का अंत हो गया। राजधानी बुडापेस्ट में एक प्रतिनिधि सभा का प्रावधान किया गया और मंत्रिमंडल को इसी सभा के प्रति उत्तरदायी बना दिया गया। प्रेस को पूरी स्वतंत्रता दे दी गई। हंगरी को आस्ट्रिया के बराबर का दर्जा दिया गया। दोनों को जोड़ने वाला एकमात्र सूत्र दोनों राज्यों का एक ही सम्राट रह गया। सम्राट को ये कानून स्वीकार करने पड़े। हंगरी का नया राष्ट्रध्वज बनाया गया, स्वतंत्र सेना बनाई गई और उसके स्वतंत्र अस्तित्व के परिचायक के रूप में हंगरी के राजदूत दूसरे देशों में नियुक्त किए जाने लगे।

स्वयं आस्ट्रिया में क्रांति का असर और भी महत्वपूर्ण था। पहली बार मजदूरों और छात्रों ने मिलकर वियेना में विद्रोह कर दिया और मेटरनिख को आक्रमण का केंद्र बनाया। यह सब इतने आकस्मिक ढंग से हुआ कि इसके लिए न सरकार तैयार थी और न मेटरनिख। मेटरनिख मानो विमूढ़ की स्थिति में हो गया और भेष बदलकर इंग्लैंड भाग गया। भीड़ ने उसका घर जलाकर खाक कर दिया और तीन दशकों तक जो हौवा खड़ा किया गया था वह एक ही प्रहार में धूसर हो गया। सम्राट ने शीघ्र ही संविधान बनाने की घोषणा की और समाचारपत्रों पर से प्रतिबंध हटा लिया।

इसी समय चेक लोगों के मांगों की भी सुनवाई हो गई और उन्हें भी एक संवैधानिक सरकार बनाने की आज्ञा मिल गई। चेक और जर्मन लोगों को बराबरी का दर्जा प्राप्त हो गया। एक ही महीनें में सारे साम्राज्य में मेटरनिख की व्यवस्था ध्वस्त हो गई और संवैधानिक तथा राष्ट्रीय सरकारों का उदय होने लगा।

आस्ट्रिया के लिए संविधान बनाने के क्रम में लोकसभा का अधिवेशन होने वाला था। लेकिन सम्राट ने पहले ही संविधान की घोषणा कर दी जिसमें प्रतिनिधि सभा के प्रति मंत्रिमंडल के उत्तरदायित्व की बात थी। संविधान सही अर्थों में जनतांत्रिक नहीं था और वियेना के छात्रों ने मई से फिर आंदोलन तेज कर दिया। छात्रों की अर्द्धसैनिक संस्था को भंग करने की कोशिश की गई लेकिन सफलता न मिलने पर सम्राट ने संविधान सभा बनाने और वयस्क मताधिकार की घोषणा कर दी। वियेना में हताश सम्राट राजधानी छोड़कर भाग गया। शायद उसके सामने लूई सोलहवें की फ्रांस की क्रांति के समय की तस्वीर रही होगी और वह उसी तरह असहाय नहीं होना चाहता था। वह पर्वतीय नगर इंसब्रुख चला गया। वहां सामंतों और प्रतिक्रियावादियों ने मिलकर प्रति क्रांति की योजना बनानी शुरू कर दी।

स्वतःस्फूर्त स्थितियों के कारण क्रांति का आधार संगठित नहीं था। इसलिए धीरे धीरे उसका प्रभाव कम होने लगा और सम्राट के समर्थकों को सफलता मिलने लगी। सबसे पहले बोहेमिया में फूट पड़ी। वहां चेक और जर्मन लोग आपस में झगड़ने लगे। जर्मन लोग जर्मन राष्ट्रीयता के हित में जर्मन संघ की कल्पना कर रहे थे और चेक लोग स्लाव जातियों के संघ की बात सोच रहे थे। उनके संघर्ष का फायदा उठाकर आस्ट्रिया की सेना ने प्राग पर बमबारी की और बोहेमिया की क्रांति दबा दी गई। दो महीने में ही इटली के प्रांतों का विद्रोह भी दबा दिया गया।

हंगरी में मगयार लोगों को जो अधिकार मिले थे वैसे ही अधिकार अल्पमत की

राष्ट्रीयता के लोगों ने क्रोट, सर्व और रूमानियन मांगे। मगयार यदि दूरदर्शी होते तो उन्हें जो कुछ आस्ट्रिया से प्राप्त हुआ था उसे दूसरों को भी देकर अपनी स्थिति मजबूत कर लेते लेकिन ऐसा नहीं हुआ। सम्राट की सेना ने हंगरी में भी हस्तक्षेप किया और हंगरी की लोकसभा भंग कर दी गई। लेकिन हंगरी में दमन आसान नहीं था। वहां युद्ध ने भयंकर रूप धारण कर लिया। जिसमें कभी आस्ट्रिया का पूरी तरह बूडापेस्ट पर कब्जा हो जाता तो कभी हंगरी की सेना आस्ट्रिया की सीमा में घूसने लगती। दोनों ही तबाह हो रहे थे। लेकिन इसी समय कोसुथ ने भयंकर भूल की। उसने हंगरी में जनतंत्र की घोषणा कर दी और स्वयं राष्ट्रपति वन बैठा। इससे एक तो आंतरिक फूट बढ़ी, दूसरे रूस का जार चौकन्ना हो गया। वह किसी भी कीमत पर अपनी सीमाओं के करीब एक गणतंत्र का अस्तित्व नहीं बरदाश्त कर सकता था। उसने हस्तक्षेप करने का निश्चय किया और हंगरी दोतरफा हमले में पिस गया। कोसुथ तो बच निकला लेकिन मगयार जनता पर भारी जुल्म हुआ। वहां के सारे नए कानून समाप्त कर दिए गए और हंगरी को साम्राज्य का एक प्रांत घोषित कर दिया गया।

इस तरह पूरे साम्राज्य में कहीं सम्राट का प्रभुत्व पुनर्स्थापित हो गया। राजनीतिक अधिकार इस क्रांति से नहीं मिले लेकिन मेटरनिख युग लौट नहीं सका और शासन पहले जैसा क्रूर तथा जनविरोधी न रहने के लिए बाध्य हो गया।

प्रशा की राजधानी बर्लिन में भी क्रांति की अनुगूंज सुनाई पड़ी। सड़कों पर प्रदर्शन हुए और संविधान की मांग बढ़ने लगी। समाचारपत्रों पर से रोक हटा ली गई। और एक संविधान सभा बनाने की घोषणा कर दी गई। लेकिन भीड़ जब राजा को धन्यवाद देने महल पहुंची तो सेना ने आतंकित होकर गोली चलानी शुरू कर दी। इस संघर्ष में सैकड़ों व्यक्ति मारे गए। स्थिति और अधिक न विगड़े इसलिए राजा ने एक उदार मंत्रि-मंडल की नियुक्ति कर दी और मई में संविधान सभा का अधिवेशन बर्लिन में शुरू हो गया। जर्मन क्षेत्र के अन्य राज्यों जैसे बवेरिया, बादेन, सैक्सनी, वुर्टेम्बुर्ग आदि में भी उदारपंथियों की जीत हुई। डेनमार्क और हालैंड में भी संविधान की मांगें स्वीकार कर ली गईं और निर्वाचित पार्लमेंट की व्यवस्था की गई।

इंग्लैंड में 1830 की क्रांति के वाद शुरू हुए सुधारवादी चार्टिस्ट आंदोलन को विशेष सफलता नहीं मिल पा रही थी। फ्रांस की क्रांति की सूचना मिलते ही चार्टिस्टों ने विशाल प्रदर्शन की तैयारी की। शासन द्वारा सेना और पुलिस के प्रबंध से डरकर प्रदर्शन तो नहीं किया गया लेकिन मांगपत्र (चार्टर) प्रस्तुत किया गया। जब यह पता चला कि मांगपत्र पर बहुत से हस्ताक्षर जाली थे तो आंदोलनकारियों की फजीहत सी हो गई। वैसे भी इंग्लैंड में यूरोप के अन्य देशों जैसी स्थिति नहीं थी। यूरोप के क्रांति-कारियों की अधिकांश मांगें इंग्लैंड में बेकार थीं क्योंकि अपेक्षतया इंग्लैंड का तंत्र सुधारवादी था। आयरलैंड में अवश्य अंगरेजों की दमनकारी नीति और भुखमरी के कारण सशस्त्र विद्रोह हुए लेकिन इंग्लैंड की सरकार ने उसपर आसानी से नियंत्रण पा लिया।

क्रांति का मूल्यांकन : इस तरह सारे यूरोप में छोटी बड़ी सत्रह क्रांतियां हुईं। कहीं तो कुछ ही दिनों में उसे समाप्त कर दिया गया कहीं कुछ उदारवादी परिवर्तन करने के बाद क्रांतिकारियों का प्रभाव कम होते ही उसे समाप्त कर दिया गया। फ्रांस में कुछ दिनों के लिए मौलिक परिवर्तनों की शुरुआत हुई पर वहां भी लूई नेपोलियन के राष्ट्रपति चुने जाते ही क्रांति का प्रभाव समाप्त हो गया। आस्ट्रिया में मेटरनिख का पतन अवश्य हो गया था, लेकिन आस्ट्रिया या जर्मनी में उदार और प्रगतिशील कार्यक्रम नहीं शुरू हो सके।

क्या कारण था कि कुछ ही महीनों में जंगल की आग की तरह फैल जाने वाली क्रांति इस तरह बुझ गई कि कुछ राख और अवशेष ही बच पाए। कारण स्पष्ट है। असंतोष केवल नगरों में मुखर था। कठिनाइयां गांवों में अधिक थीं, लेकिन उनके प्रति जागरूकता केवल नगरों में ही थी। नगरों में मध्यमवर्ग और नवोदित पूंजीपति वर्ग के हित एक ओर थे और मेहनतकश मजदूरों के हित दूसरी ओर। संख्या मजदूरों के पास थी तो अनुभव और शक्ति उनके विरोधियों के। परिवर्तन दोनों ही चाहते थे, लेकिन मजदूर के हित वाले परिवर्तन संभव नहीं थे, क्योंकि अभी मजदूर न तो संगठित था न उसके पास नेतृत्व था। इस समय सबसे व्याप्त और प्रभावशाली धारा राष्ट्रवादिता की थी और इतिहास स्पष्ट करता है कि राष्ट्रप्रेम की दुहाई देकर जन विरोधी शक्तियां भी जनता का इस्तेमाल कर लेती हैं। यूरोप में भी शासकवर्ग राष्ट्रवाद के नाम पर सामान्य जनता, विशेषकर ग्रामीण जनता, को अपने साथ कर लेता था। ऐसी स्थिति में क्रांति का ज्वार कुछ ही महीनों में थम गया। फ्रांस में लूई नेपोलियन जैसा प्रतिक्रियावादी पहले राष्ट्रपति फिर सम्राट बन बैठा। आस्ट्रिया अपनी पुरानी नीति पर चलता रहा और इटली तथा जर्मनी में उसकी प्रधानता बनी रही। इटली और जर्मनी के राष्ट्रवादी प्रयास दबा दिए गए। हंगरी और बोहेमिया पर निरंकुश शासन थोप दिया गया। हर कहीं निरंकुश, राष्ट्रवाद विरोधी और प्रतिक्रियावादी ताकतों का बोलबाला हो गया।

1848 की क्रांति पहले की क्रांतियों की तरह एक विकसित कड़ी थी लेकिन समाज की नई स्थितियों में क्रांतिकारी शक्तियां अपनी शक्ति और संगठन का आकलन नहीं कर पाई थीं। शासकवर्ग अधिक समर्थ तथा निर्मम होता जा रहा था। सबसे बड़ी बात तो यह कि क्रांतिकारी किसी एक सिद्धांत और कार्यक्रम से नहीं जुड़े हुए थे। परिवर्तन सब चाहते थे, लेकिन उनमें इस बात पर मतभेद था कि परिवर्तन किसके पक्ष में और कैसे हो ? सत्ता का आधार अब भी सेना थी और सेना पूरी तरह शासकों के नियंत्रण में थी।

दमन के बावजूद इन क्रांतियों का कुछ स्थाई प्रभाव भी हुआ था। संविधानों का जो क्रम शुरू हुआ था उसे पूरी तरह समाप्त नहीं किया जा सका। विशेष रूप से स्विटजरलेंड में संघीय गणतंत्र की स्थापना स्थाई सिद्ध हुई। प्रशा, हालैंड और डेनमार्क के शासनतंत्र में भी प्रजातंत्र के बीज पड़ गए इन सबसे महत्वपूर्ण यह था कि यूरोप के दो प्रबल राष्ट्रवादी आंदोलनों की (इटली और जर्मनी के एकीकरण के आंदोलन)

विफलता ने राष्ट्रभक्तों को हतोत्साहित करने के बजाय दृढ़ बनाया। यह तय हो गया कि आस्ट्रिया ही उनका प्रमुख दुश्मन है। उनके भावी कार्यक्रमों में 1848 के अनुभवों ने सहायता पहुंचाई।

इस क्रांति का सबसे महत्वपूर्ण परिणाम यह हुआ कि श्रमिकवर्ग को स्थाई सबक मिला कि मध्यमवर्ग उसका नेतृत्व करके अपना लाभ उठाता है और वास्तव में वह वर्ग उसका विरोधी है। इस क्रांति के बाद समाजवादी आंदोलनों और संगठन में वैज्ञानिक समाजवाद का प्रभाव बढ़ता गया और समाजवादी संगठन सारे यूरोप में प्रसार पाने लगा।

मेटरनिख युग का अंत : क्रांति के बाद नेपोलियन का उद्भव जिस प्रकार सामाजिक विकास की प्रक्रिया और उसमें निहित संघर्षों को समझने में मदद करता है उसी प्रकार वियेना कांग्रेस के बाद स्थापित मेटरनिख के प्रभाव से भी यूरोप में क्रांति और प्रतिक्रांति की शक्तियों के टकराव को समझने में सहायता मिलती है।

मेटरनिख ने अपनी पुत्री को नेपोलियन के संबंध में लिखते हुए कहा था : 'मुझे वह अन्तरात्मा का मूर्तरूप समझता होगा'। दूसरी ओर नेपोलियन कहता था कि मेटरनिख तो 'षड्यंत्र को ही राजनीति समझता है' इन दो कथनों से स्पष्ट हो जाता है कि यद्यपि मेटरनिख की कार्यप्रणाली में षड्यंत्र का बहुत बड़ा महत्व था, परंतु स्वयं अपने कार्य को एक अभियान समझता था। कूटनीति में जैसा कि प्रायः होता है वह नारियों का इस्तेमाल बड़ी खूबी से करता था। नेपोलियन की बहन और जनरल म्यूरा की पत्नी कैरोलिन से दोस्ती गांठकर वह नेपोलियन के रहस्यों का पता लगाता रहा। वियेना में भी वह नाच पार्टियों के माध्यम से—दूसरों की बातें जानता था और अपनी बात स्वीकार कराता था। इसीलिए कहते हैं कि वियेना में नाच अधिक, काम कम हुआ।

मेटरनिख के दृढ़ विश्वास थे जिनको आधार बनाकर वह आस्ट्रिया और यूरोप का स्वरूप निर्धारित करना चाहता था। उसे अपनी ही भूमिका पर बड़ा विश्वास था। वह सोचता था कि दुनिया जैसे उसी के कंधे पर टिकी हुई है। उसके सिद्धांतों में दो बातें प्रमुख थीं। वह पक्का यथास्थितिवादी था और हर परिवर्तन का विरोधी था। वह कहता था कि हर नवीनीकरण पागलपन है। दूसरे, वह प्रजातंत्र का घोर विरोधी था। उसके विचार से प्रजातंत्र प्रकाश को भी अंधकार में बदल देता है।

इस प्रकार वह प्रतिक्रियावादियों का मुख्य आधार और उदारवादियों के लिए हौवा और क्रांतिकारियों के लिए आतंक था। राज्यों को वह राजाओं की रियासत समझता था। इसलिए राष्ट्रवाद का वह कट्टर विरोधी था, भले ही वह आस्ट्रियाई राष्ट्रवाद ही क्यों न हो। वह 39 वर्षों तक आस्ट्रिया का चांसलर था और राज्य उसकी मुट्ठी में होता था। फिर भी उसकी व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा आस्ट्रियन साम्राज्य की सुरक्षा तक सीमित थी। यह मानना पड़ेगा कि उसने अपने साम्राज्य की सेवा एक कुशल और स्वामिभक्त कर्मचारी की तरह की।

उसे बौद्धिक और दार्शनिक बातों की समझ नहीं थी। इतिहास से भी उसने कुछ नहीं सीखा। उसे कल्पनाशील भी नहीं कहा जा सकता। पर वह एक व्यवहार कुशल और हंसमुख प्रकृति का व्यक्ति था और आचार व्यवहार में पूर्णतः कुशल था। मित्रता

करके किसी का विश्वास प्राप्त कर लेने में वह सिद्ध था। वह नेपोलियन से घृणा करता था और नेपोलियन उसे षड्यंत्रकारी मानता था। फिर भी नेपोलियन के वह विशेष निकट था और दोनों के बीच अंतरंग वार्तालाप हुआ करता था। उसने क्रांति की ध्वंसात्मक शक्ति को ही महत्व दिया था और समझता था कि क्रांति से परंपरागत व्यवस्था नष्ट हो जाएगी। इसे वह यूरोप, विशेषकर आस्ट्रिया के लिए खतरनाक समझता था। जनता से उसका प्रबुद्ध निरंकुश शासकों जैसा भी लगाव नहीं था। आस्ट्रिया के ही सम्राट जोसेफ के सुधारवादी उत्साह का बुरा परिणाम उसके सामने था। इसलिए वह हर कीमत पर समाज को बदल देने से रोकने का अपना प्रधान कार्य समझता था। दृढ़ आत्म-विश्वासी होने के कारण वह यह भी समझता था कि 'केवल मैं यूरोप को बचा सकता हूं।'

वियेना कांग्रेस में पुरातन व्यवस्था स्थापित होने के बाद चतुर्मुखी संघ की यूरोपीय व्यवस्था के सहारे उसने हर कहीं परिवर्तन का विरोध किया—विशेष रूप से इटली, जर्मनी और आस्ट्रियाई प्रदेशों में। कार्ल्सबाद से घोषित अध्यादेश स्वतंत्रता खासतौर पर बुद्धिजीवियों की, स्वतंत्रता के विरुद्ध कठोरतम नियम माने जाते हैं। दमन, कूट-नीति, षड्यंत्र और हस्तक्षेप के माध्यम से सारे यूरोप की चौकीदारी करने के बावजूद यूनान और बेल्जियम में राष्ट्रवादियों की विजय इस बात का प्रमाण है कि वह समय का ज्वार नहीं रोक सकता था। सारे यूरोप और आस्ट्रियाई साम्राज्य में भी विद्रोहों का तांता रुका नहीं। मेटरनिख की नींद हमेशा हराम रही। वह कहा करता था, 'मुझे या तो पहले पैदा होना चाहिए था या और बाद में। पहले पैदा होता तो जीवन के सुख भोगता और बाद में पैदा होता तो युग निर्माण में सहायक होता। आज तो मुझे पतनोन्मुख संस्थाओं को बचाने में ही खप जाना पड़ रहा है।' इस कथन में काफी हद तक सच्चाई है। वास्तव में वह अठारहवीं शताब्दी के ही उपयुक्त था। वक्त के साथ वह बदला नहीं इसके विपरीत वह वक्त को रोकने की भी कोशिश करता रहा। उसे पता नहीं था कि 'वह स्वयं तो बूढ़ा होता जा रहा था जबकि दुनिया निर्माण के नए दौर में जन्म ले रही थी।'

1848 में जब विद्रोह शुरू हुए तो वह स्तब्ध रह गया। वह अपनी ही नीतियों और अदूरदर्शिता द्वारा छला गया था। परंतु कुछ ही महीनों में सारे यूरोप में क्रांति कुचल दी गई। वियेना में भी पुरानी स्थिति लौट आई, लेकिन मेटरनिख पुनर्स्थापित नहीं हो सका। इन क्रांतियों के बाद प्रतिक्रियावाद को रक्षात्मक रवैया अपनाना पड़ा। मेटरनिख जैसा विश्वास और अभियान और किसी में नहीं था। इसीलिए उसके पतन के साथ ही यूरोप के इतिहास का एक युग समाप्त हो गया।

मेटरनिख यथास्थितिवाद का अंतिम गढ़ और सेनापति था। उसने मध्ययुगीन आस्था के साथ सामंती समाज की रक्षा करना चाहा था, लेकिन औद्योगिक क्रांति ने सामंतवाद की नींव पर भी प्रहार किया था और यूरोप में अब सामंतवाद को कोई बचा नहीं सकता था। मेटरनिख ऐसी लड़ाई लड़ रहा था जिसमें पराजय सुनिश्चित थी। इसके बावजूद यह मानना पड़ेगा कि वह एक कुशल सेनानी था और अंतिम क्षण तक अपने लक्ष्य के लिए संघर्षरत रहा।

5

नेपोलियन तृतीय

विश्व के इतिहास में नेपोलियन की अत्यधिक ख्याति का एक प्रधान कारण यह भी है कि उसके बारे में तमाम तरह की रोचक कथाएं प्रचलित हैं। कहीं कहीं उसके कार्यक्रमों या क्रियाकलापों का इतना अधिक चमत्कारपूर्ण वर्णन है कि आज उन पर विश्वास करना असंभव है। दूसरे अध्याय में हम देख चुके हैं कि नेपोलियन ने स्वयं अपने करिश्मों को लिपिबद्ध कराया था। अतिशयोक्तिपूर्ण ये करिश्मे 'नेपोलियन' नाम को तथाकथित महिमा से मंडित कर देते हैं। इस नाम से जो भी जुड़ा उसने नेपोलियन की ख्याति का अपने नाम के साथ उपयोग किया। नेपोलियन तृतीय ने तो इस नाम का लाभ उठाकर देश की सत्ता पर ही कब्जा कर लिया था। उसने हमेशा इस बात को रेखांकित किया था कि 'नेपोलियन एक नाम नहीं वरन एक कार्यक्रम है' और चूंकि वह स्वयं भी नेपोलियन है इसलिए वह स्वयं वे सारे कार्य कर सकता है जो उसके हमनाम और प्रख्यात सम्राट नेपोलियन ने किया था। फ्रांस की जनता अत्यंत सरल थी और कैसी भी बातों पर आसानी से विश्वास कर लेती थी। उसने नेपोलियन तृतीय पर भी भरोसा कर लिया था। नेपोलियन तृतीय जब फ्रांस की गद्दी पर बैठा तो कुछ दिनों के लिए जनता आश्वस्त हो गई कि उनके गरिमामय इतिहास की सत्य ही पुनरावृत्ति होगी और वे एक बार पुनः यूरोप में सर्वश्रेष्ठ देश फ्रांस के निवासी होने का सौभाग्य प्राप्त करेंगे। वे पुनः ठगे गए थे और नेपोलियन नामधारी इस व्यक्ति ने अपनी महत्वाकांक्षा का उन्हें शिकार बनाने में सफलता प्राप्त कर ली थी। लेकिन हमें ध्यान रखना चाहिए कि इतिहास की स्वयं पुनरावृत्ति नहीं होती। फ्रांस को शीघ्र ही अपने ठगे जाने का एहसास हुआ और वह यूरोप की बदलती हुई स्थितियों की चपेट में आ गया। एक एक कर कई असफलताओं से नेपोलियन तृतीय बिस्मार्क की चालों में फंस कर तबाह हो गया। अपने साथ वह फ्रांस को भी ले डूबा।

फ्रांस सदा ही विडंबनाओं का शिकार रहा है। यह कहावत पूर्णतः चरितार्थ होती है कि 'फ्रांसीसी व्यक्ति दिमाग से नहीं; दिल से सोचता है।' यह भी कहते हैं कि 'फ्रांसीसी कहता तो है दिमाग की बात, परंतु करता है दिल की बात।' यही कारण है कि फ्रांस में बौद्धिक स्तर पर उग्र चिंतन का दौर रहा है और इस चिंतन धारा में सर्वथा मौलिक तथा प्रगतिशील तत्वों का समावेश मिलता है। परंतु राजनीति में प्रतिक्रियावादी शक्तियों का बोलबाला रहा। फ्रांस ने क्रांति तो की, लेकिन उसने ही तानाशाह नेपोलियन को हाथों हाथ लेकर जय जयकार भी की।

1789 और 1830 की क्रांतियों ने बढ़ते आर्थिक दबावों को अभिव्यक्त किया था। सामंती ढांचा पहली क्रांति में लड़खड़ाया था और दूसरी में वह ध्वस्त हो गया। लूई फिलिप बढ़ती हुई पूंजीवादी शक्तियों का प्रवक्ता बनकर ही फ्रांस पर शासन कर सका। लेकिन फ्रांस की अर्थव्यवस्था का स्वरूप पूरी तरह निर्धारित नहीं हो सका था। विभिन्न वर्गों में अंतर्द्वंद्व और संघर्ष पूरी तरह स्पष्ट नहीं हो पाए थे। इसीलिए लूई फिलिप स्थितियों की पकड़ सही न कर पाने की वजह से अपनी कार्यनीति ठीक से निर्धारित नहीं कर सका और उसे उखाड़ फेंका गया। लेकिन 1848 में भी फ्रांस में औद्योगिक क्रांति निर्णायक तत्व नहीं हो पाई थी और पूंजीवादी शक्तियां पूरी तरह देश की व्यवस्था पर हावी नहीं हो पाई थीं। देश में समाजवाद की अस्पष्ट और भ्रमपूर्ण स्थिति किसी संगठित आंदोलन और संघर्ष के उपयुक्त नहीं थी। मजदूर असंतुष्ट और क्रियाशील थे परंतु उन्हें सही नेतृत्व नहीं प्राप्त था। दूसरी ओर उदारवादी और प्रतिक्रियावादी शक्तियां विभिन्न गुटों में संगठित थीं। जनता के पास कोई स्पष्ट विकल्प नहीं था। नेपोलियन के पतन के बाद तीन दशकों में फ्रांस निष्क्रिय और गौण होता जा रहा था। आंतरिक स्थिति भी ठीक नहीं थी। ऐसी स्थिति में एक बार फिर बड़ी बड़ी बातों का आकर्षण बढ़ रहा था। जब काम नहीं हो रहा हो तो कम से कम उसकी बात अवश्य हो।

लूई फिलिप के शासनकाल में उसके मध्यवर्गीय चरित्र के बावजूद नेपोलियन की गाथा एक राजनीतिक शक्ति बन गई थी। नेपोलियन बोनापार्ट एक नाम नहीं एक वाद बन गया था। बोनापार्ट वाद के पीछे कम से कम वे उपलब्धियां तो थी हीं जिन्हें याद कर वर्तमान से असंतुष्ट फ्रांसीसी अतीत की गोद में आराम पाता था और उसका अहं संतुष्ट होता था। ऐसे वातावरण में नेपोलियन का एक चतुर वंशज स्थितियों का लाभ उठाकर अपने और अपने वंश के हित साधन के लिए तैयारी कर रहा था। बोनापार्टवादियों की आंख उस पर लगी थी और वह बोनापार्ट वाद के कभी पीछे और कभी आगे की ओर चलता हुआ अपना राजनीतिक मार्ग प्रशस्त करता जा रहा था। 1848 की आपातकालीन और अस्पष्ट स्थिति में उसने एक कार्यक्रम प्रस्तुत किया जो फ्रांस की जनता के मर्म को छूता था। वह राष्ट्रपति चुन लिया गया और अपने इतिहास को सत्य साबित कर उसने चार वर्षों बाद ही गणतंत्र का लबादा फेंक दिया और फ्रांस को दूसरी बार साम्राज्य बनाने के भुलावे के साथ स्वयं सम्राट बन बैठा।

नेपोलियन तृतीय सम्राट बनने से पहले लूई नेपोलियन कहलाता था। वह नेपोलियन के छोटे भाई और हालैंड के राजा लूई का पुत्र था। नेपोलियन को अपने शासन के अंतिम दिनों में ही उत्तराधिकारी पुत्र की प्राप्ति हुई थी। उसके भाइयों और बहनों के भी कोई ऐसी संतान नहीं थी जिससे उसे आशा बंधती। इसीलिए अपने सौतेले पुत्र इडजैन को, जो जोसेफिन की पहली शादी से उत्पन्न हुआ था, वह विशेष रूप से मानता था। लेकिन जब अपने अंतिम दिनों में उसने लूई के पुत्र लूई नेपोलियन को देखा तो उसे आशा बंधी। एक बार उसने किशोर नेपोलियन की पीठ थप थपाकर कहा था कि उसके वंश की आशाओं का केंद्र वही है और सचमुच नेपोलियन के पतन के बाद जब उसका परिवार यूरोप ही नहीं, फ्रांस के भी क्रोध और घृणा का पात्र समझा जा

रहा था और सारा वंश विस्मृति में खोता जा रहा था, लूई नेपोलियन अपने क्रियाकलापों से इस नाम को जीवित रखने में सफल रहा।

वाटरलू के बाद के दिनों में नेपोलियन का परिवार बिखर गया और अन्य सदस्यों का नाम इतिहास से गुम हो गया लेकिन अपनी मां के साथ स्विटजरलैंड में रह रहे लूई नेपोलियन ने हार नहीं मानी। उसे विश्वास था कि फ्रांस की क्रांति और उसके चाचा नेपोलियन के शासन की परंपरा को एक साथ प्रतिष्ठित किया जा सकता है और इसी में फ्रांस की भलाई है। वह चुप बैठने वाला व्यक्ति नहीं था। उसने इटली, पोलैंड और जर्मनी से संपर्क रखा। मौका मिलने पर वह फ्रांस में अपने वंश के प्रशंसकों से भी संबंध स्थापित करता था। उसकी राजनीतिक सक्रियता का यह हाल था कि इटली में क्रांति की इच्छुक गुप्त संस्था कारबोनारी में वह सक्रिय हो गया। उसने पोलैंड और जर्मनी के क्रांतिकारियों से भी संपर्क किया। धीरे धीरे सारे यूरोप में यह स्पष्ट हो गया कि फ्रांस के एक वर्ग और एक राजनीतिक गुट का वह स्तंभ है। 1830 में जब फ्रांस में वंश परिवर्तन हुआ तो उसने भी दांव लगाना चाहा, लेकिन एक तो वह अभी पूरी तरह तैयार नहीं था; दूसरे, उसका पक्ष संगठित नहीं था। इसलिए लूई फिलिप बाजी मार ले गया। उसे अपनी सफलता पर विश्वास था। वह कहता था 'मैं उन व्यक्तियों में हूं जिन्हें ईश्वर किसी देश का भाग्यविधाता बनाकर पैदा करता है।' इस प्रकार जर्मन दार्शनिक हेगेल के सिद्धांत पर वह विश्वास करता था कि 'इतिहास में कुछ दैवी इच्छा के प्रतिनिधि होते हैं जिनके माध्यम से नियंता देशों की नियति गढ़ता है।' इसलिए वह निरंतर प्रयास करता रहा।

जुलाई क्रांति के बाद फ्रांस में नेपोलियन की पुनर्प्रतिष्ठा का दौर जोर पकड़ रहा था। फ्रांसीसियों को लग रहा था कि नेपोलियन ने कम से कम उन्हें प्रतिष्ठा तो दी ही थी। नेपोलियन की बुराइयां भुलाई जा रही थीं और उसे शांति तथा राष्ट्रीयता के पोषक के रूप में स्थापित किया जा रहा था। लूई नेपोलियन ने कलम का सहारा लिया। नेपोलियन की गाथा के प्रसार में उसने सक्रिय हिस्सा लेना शुरू किया। उस समय के प्रतिष्ठित साहित्यकारों ने भी नेपोलियन के गुण गाने शुरू किए। प्रख्यात कवि लामार्तिन, विश्वविख्यात कवि और उपन्यासकार विक्टर ह्यूगो और इतिहासकार दीये ने जब नेपोलियन का पक्ष लिया तो उनकी प्रतिष्ठा ने नेपोलियन के सम्मान को वास्तविक और विश्वसनीय बना दिया। लूई नेपोलियन ने भी 'नेपोलियन के विचार' नामक पुस्तक लिखकर नेपोलियन को वैचारिक दृष्टि से स्थापित कियां। यह रेखांकित किया गया कि नेपोलियन प्रजातंत्र, राष्ट्रीयता, शांति और धर्म का संरक्षक और पोषक था। जबकि वस्तुतः नेपोलियन इन सिद्धांतों का जन्मजात विरोधी था। बड़ी चतुरता के साथ उसे इन चीजों का समर्थक सिद्ध किया गया। इन विचारों का प्रभाव इतना बढ़ा कि लूई फिलिप को नेपोलियन के अवशेष सेंट हेलेना से फ्रांस वापस लाने के लिए इंग्लैंड से अनुरोध करना पड़ा। उस समय फ्रांस और इंलैंड के संबंध ऐसे थे कि बात मान ली गई और बड़ी धूमधाम से नेपोलियन के अवशेष फ्रांस लाए गए। सारा देश स्वागत के लिए पागल हो रहा था। लूई नेपोलियन ने देखा कि अवसर आ गया है और वह

बोलोन पहुंचा। उसकी उपस्थिति लूई फिलिप के लिए खतरनाक हो सकती थी। उसे गिरफ्तार कर लिया गया। लेकिन उसने अपने मुकदमे का भी फायदा उठाया। उसने देश का आह्वान करते हुए ऐसा वक्तव्य दिया जो ऐतिहासिक सिद्ध हुआ। उसने नाटकीय ढंग से कहा : 'मैं एक सिद्धांत, एक कार्यक्रम और एक पराजय का प्रतिनिधि हूं। सिद्धांत है जनता की सार्वभौमिकता। कार्यक्रम है साम्राज्य और पराजय है वाटरलू। सिद्धांत फ्रांस की जनता ने स्वीकार किया है। कार्यक्रम की उपलब्धियां फ्रांस को याद हैं। पराजय का प्रतिशोध चाहिए।' इन शब्दों में जादू का असर था। इनमें अतीत की गरिमामय स्मृति और उज्ज्वल भविष्य की संभावना थी। इनकी गूंज सारे देश में फैल गई। लोगों में बीते दिनों से वर्तमान को जोड़ने की आतुरता बढ़ने लगी। वह जनता को विश्वास दिलाने में सफल हो गया कि नेपोलियन तो शांतिप्रिय और जनता का समर्थक था। उसे इंग्लैंड और अन्य मित्रों ने भड़काया था और युद्ध की नीति में फंसाकर पथभ्रष्ट कर दिया था। नेपोलियन के चार सिद्धांतों में उसने चार और जोड़ दिए—'गरिमा', 'कार्यकुशलता', 'सुधारों का कार्यक्रम' तथा 'वियेना संधि का अंत' की बात से नेपोलियन के सिद्धांतों के आधार पर ही उज्ज्वल भविष्य की संभावना के प्रति फ्रांस में आशा का संचार हो गया। अब उसकी बातों ने एक आंदोलन का रूप ले लिया। यह प्रचार जोरों पर था कि 'नेपोलियन का नाम स्वयं में एक कार्यक्रम है इसका अर्थ है देश में व्यवस्था, शक्तिशाली सत्ता, धर्म तथा जनकल्याण और विदेशों में राष्ट्रीय गौरव।'

धीरे धीरे उसने विभिन्न वर्गों को अपने पक्ष में करना शुरू किया। सामान्य वर्ग जिनका जीवन पिछले दशकों में बिल्कुल नहीं बदला था और जो करिश्मों पर सबसे अधिक विश्वास करता था उसका प्रशंसक हो गया। अपने गणतंत्र समर्थक वादों के नाते वह गणतंत्रवादियों में भी अपना प्रभाव बना सका था। धार्मिक वर्ग भी अनुकूल हो चुका था। अब बस उपयुक्त अवसर की देर थी।

फ्रांस में दूसरी बार गणतंत्र : हम पहले ही देख चुके हैं कि फ्रांस में लूई फिलिप का तख्ता किस प्रकार पलटा और 1848 में कैसे सारे यूरोप में क्रांति की लहर दौड़ गई। फ्रांस में ऐतिहासिक परिवर्तन हो रहे थे लेकिन लूई नेपोलियन घात में था।

क्रांति के बाद एक अस्थाई सरकार बनी। इस सरकार में गणतंत्रवादी बहुमत में तो थे लेकिन उनके पास कोई कार्यक्रम नहीं था। वे पूरी तरह संगठित दल के रूप में भी नहीं थे। दूसरी ओर समाजवादी अल्पमत होते हुए भी अपेक्षतया अधिक संगठित थे। उनके पास एक कार्यक्रम था। गणतंत्रवादी इसी में संतुष्ट थे कि फ्रांस में राजतंत्र की स्थापना नहीं होगी; इसलिए वास्तव में समाजवादियों के ही कार्यक्रम लागू होने लगे। लेकिन उनके कार्यक्रम मौलिक परिवर्तन चाहते थे और वे मजदूरों के हित के अनुकूल शासन का स्वरूप निर्धारित करने लगे। इस प्रकार संघर्ष अनिवार्य था।

समाजवादी राष्ट्रीय झंडे का रंग लाल चाहते थे। प्रतीक रूप में यह एक मौलिक परिवर्तन का सूचक था। उदारवादियों ने इसका महत्व समझ लिया और इसका घोर विरोध किया। उनका प्रवक्ता कवि लामार्तिन अपनी वक्तृता के सहारे ऐसे परिवर्तन के

विरोध में सफल हो गया। लेकिन अन्य कार्यक्रम जैसे कि राष्ट्रीय वर्कशाप खोलकर मजदूरों की स्थिति में आधारभूत परिवर्तन की योजना स्वीकृत हो गई। लाखों लोगों की भलाई हुई। लेकिन इतनी बड़ी योजना लागू करने में जिस सावधानी और संगठन की आवश्यकता थी उसके अभाव में इससे वास्तव में लाभ नहीं हुआ और उस अनुपात में उत्पादन नहीं बढ़ा। समाजवादियों को सुनियोजित ढंग से बदनाम किया जाने लगा।

इसी बीच संविधान सभा के चुनाव में गणतंत्रवादियों को भारी बहुमत मिला। इस सभा ने 750 सदस्यों वाली एक व्यवस्थापिका के तीन वर्षों के चुनाव का प्रावधान किया। कार्यपालिका चार वर्षों के लिए चुने गए राष्ट्रपति को सौंपी गई। एक शक्तिशाली राष्ट्रपति के सामान्य जनता द्वारा चुने जाने के खतरों की ओर ध्यान आकर्षित किया गया, लेकिन बहुमत ने इसे ही स्वीकार किया और राष्ट्रपति के चुनाव की तैयारी होने लगी।

अब लूई नेपोलियन के लिए उपयुक्त अवसर था। फिर भी उसे अभी वह प्रतिष्ठा नहीं प्राप्त थी कि देश के बड़े बड़े नेताओं के सामने चुनाव जीत सके। वह संविधान सभा का चुनाव तो जीत गया था लेकिन राष्ट्रपति का चुनाव एक बड़ी लड़ाई थी। देश में गणतंत्रवादी दल बहुत प्रभावशाली था और उसका उम्मीदवार कावान्याक प्रसिद्ध नेता था। लेकिन 'नेपोलियन' जैसा चमत्कारी शब्द लूई नेपोलियन के नाम में था। उसने अब तक हुए प्रचारों का पूरा लाभ उठाया और जब चुनाव के परिणाम निकले तो फ्रांस की जनता ने अपनी अपरिपक्वता का एक बार फिर परिचय दिया। नेपोलियन और साम्राज्य का गुण गाने वाले व्यक्ति को भारी बहुमत से नए गणतंत्र का राष्ट्रपति चुन लिया गया। सत्तर लाख मतदाताओं में लगभग अस्सी प्रतिशत ने लूई नेपोलियन को मत दिया था। फ्रांस की जनता की राजनीतिक अदूरदर्शिता का इससे बड़ा और क्या प्रमाण हो सकता था।

नए संविधान के अनुसार व्यवस्थापिका के चुनाव हुए। परिणाम पुनः आश्चर्यजनक हुए। एक ही वर्ष पहले जिस जनमत ने गणतंत्रवादियों को भारी बहुमत से विजयी किया था उसी ने इस बार राजतंत्र के समर्थकों का बहुमत प्रतिष्ठित किया। गणतंत्र का भाग्य उसी दिन निश्चित हो गया।

राष्ट्रपति नेपोलियन के सम्राट नेपोलियन की गाथाओं और उसके मनगढ़ंत कार्यक्रमों का अब खुलकर और असरदार प्रचार शुरू किया। इसी बीच जब इटली में क्रांति हुई और पोप पर हमले हुए तो उसने पोप की मदद करते हुए फ्रांस की कैथोलिक जनता का समर्थन प्राप्त कर लिया। उसने सुनियोजित ढंग से दोतरफी कार्यवाही शुरू की। पहले उसने अपने विरोधियों, गणतंत्रवादियों और विशेषकर समाजवादियों का दमन करना शुरू किया। फिर उसने चुनाव कानूनों में ऐसे परिवर्तन किए जिससे गरीब किसान और मजदूर, मतदाता न रह जाए। 2 दिसंबर को आस्टरलिट्ज की विजय की वर्षगांठ धूमधाम से मनाई जाने लगी। 1851 में इसी दिन उसके बहुत सारे विरोधी एक साथ गिरफ्तार कर लिए गए। उसने व्यवस्थापिका की सभा में अपना कार्यकाल बढ़ाने का प्रस्ताव रखा जो पारित नहीं हो सका। अब उसने शक्ति का प्रयोग करने का फैसला किया

और दूसरी बार जबरदस्ती राजसत्ता हथियाने का षड्यंत्र होने लगा।

व्यवस्थापिका सभा भंग कर दी गई। सारे देश में हजारों ऐसे लोग गिरफ्तार किए गए जिनसे उसे खतरा था। उसने जनता का आह्वान किया कि फ्रांस को दुश्मनों से बचाने के लिए सन्नद्ध रहे। उसने नया संविधान बनाने का प्रस्ताव रखा और एक बार पुनः पुराना नुस्खा आजमाया गया। जनमत संग्रह में पचहत्तर लाख मतदाताओं में से उनहत्तर लाख लोगों ने उसके पक्ष में मत दिया। अब वह अपने चाचा 'फर्स्ट कोंसुल' नेपोलियन की तरह शक्तिशाली हो गया। उसने भी कुछ दिनों तक इंतजार किया और 2 दिसंबर 1852 को गणतंत्र का लबादा उतार फेंका। अब वह फ्रांस का निरंकुश सम्राट था। उसके सामने बदले हुए समय में फ्रांस और यूरोप के सामने अपनी प्रासंगिकता बनाए रखने का कठिन कार्य था।

सम्राट नेपोलियन तृतीय

बोनापार्टवादियों के लिए सम्राट नेपोलियन का पुत्र, जो गद्दी पर नहीं बैठ सका था, नेपोलियन द्वितीय था। नेपोलियन की गौरवशाली परंपरा बनाए रखने के लिए जरूरी होने के कारण लूई नेपोलियन ने अपने को नेपोलियन तृतीय कहा। अब उसके सामने अपनी बातों की सच्चाई सिद्ध करने के लिए कुछ महत्वपूर्ण कार्य करने आवश्यक थे। इस कठिन कार्य के कारण नेपोलियन अपने शासन के लगभग दो दशकों में लगातार जूझता रहा।

नेपोलियन तृतीय अपने पूर्वज के अधूरे कार्य पूरे करने के लिए निरंकुशता को आवश्यक समझता था। यही दलील उसने देश के सामने रखी और उसे समर्थन मिला। उसने यह वादा किया कि स्थिति नियंत्रित होते ही देश की स्वतंत्रता पुनर्स्थापित हो जाएगी। यह दूसरी बात है कि ऐसा कभी नहीं होता। तानाशाह जनता से हड़पी हुई स्वतंत्रता कभी वापस नहीं करता और नेपोलियन ने भी ऐसा नहीं किया।

आंतरिक व्यवस्था : उसने जिस विधान का निर्माण किया वह नेपोलियन प्रथम के संविधान का ही प्रतिरूप था। इस संविधान में भी सारी सत्ता सम्राट के हाथों में केंद्रित थी। नाममात्र के लिए एक 'व्यवस्थापिका सभा' थी जो सामान्य जनता द्वारा चुनी जाती थी। लेकिन वह वर्ष में केवल तीन महीने के लिए बुलाई जाती थी। उसे प्रस्ताव करने का अधिकार नहीं था। वह उन बातों के आधार पर मत देती थी जो सम्राट द्वारा नियुक्त 'काउंसिल आफ स्टेट' पेश करती थी। इस मत के लिए भी उसे गुप्त अधिवेशनों में तैयार कर लिया जाता था। 'सेनेट' को संविधान की निगरानी की जिम्मेदारी दी गई थी। लेकिन इसके सदस्य अधिकारियों को सम्राट ही नियुक्त करता था और यह स्पष्ट था कि उनका कोई स्वतंत्र विचार नहीं हो सकता। सभाओं और प्रेस पर पूरा नियंत्रण था। इस तरह शासन का स्वरूप तमाम ढकोसलों के बावजूद स्वेच्छचारिता और निरंकुशता पर आधारित था।

उसने सम्राट होने के बाद भी गणतंत्रीय संविधान में केवल यह परिवर्तन किया कि अब राष्ट्रपति के स्थान पर सम्राट के हाथ में सत्ता थी। कार्यपालिका के सारे अधिकार

उसके हाथ में ही रहे। सारी स्वतंत्रता समाप्त कर दी गई। मंत्री से प्रीफेक्ट तक उसके आज्ञाकारी कर्मचारी बनकर रह गए। व्यवस्थापिका और न्यायपालिका पर उसका पूरा नियंत्रण हो गया। सत्ता का अधिकार सैनिक तंत्र था जिस पर उसका पूरा नियंत्रण था।

नेपोलियन के शासनकाल में ही फ्रांस का पूरा औद्योगीकरण शुरू हुआ और पूंजीवादी व्यवस्था का विस्तार हुआ। यही कारण है कि फ्रांस का आर्थिक विकास हुआ। देश की आमदनी और निर्यात बढ़ा। हालांकि इससे आम जनता के जीवन स्तर और स्थिति पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा।

फ्रांस की आर्थिक व्यवस्था पूंजीवादी ढंग से संगठित की गई। मध्यमवर्ग के हितों को प्रधानता दी गई। बैंकों का कार्यक्षेत्र बहुत बढ़ गया। उन्हें कृषि और उद्योग दोनों में ऋण देने के लिए उत्साहित किया गया। जंगलों और दलदलों तक का इस्तेमाल किया गया। संचार साधनों का तेजी से विस्तार किया गया। फ्रांस में रेलें पहले भी बनी थीं लेकिन पहली बार भारी पैमाने पर रेलों का विस्तार हुआ। यह सर्वविदित है कि रेलों का देश के आर्थिक विकास से निकट का संबंध है। नहरों और सड़कों का भी विकास हुआ। डाकतार व्यवस्था का आधुनिकीकरण हुआ। नेपोलियन स्वतंत्र व्यापार में विश्वास रखता था। इसलिए वह सरकारी नियंत्रण की नीति नहीं अपना सका। उसने कर व्यवस्था को नियोजित नहीं किया। जब उसने इंग्लैंड से हुई व्यावसायिक संधि के बाद आयात-कर घटा दिए तो व्यापारी वर्ग इससे असंतुष्ट हुआ। लेकिन उत्पादन इतनी तेजी से बढ़ रहा था कि इस असंतोष का तत्काल प्रभाव नहीं पड़ा।

देश की बढ़ती समृद्धि के प्रमाण दो तरह से प्रस्तुत किए जा रहे थे। नेपोलियन ने प्रदर्शन की नीति अपनाई थी इसीलिए 1855 में उसने एक अंतर्राष्ट्रीय प्रदर्शनी का आयोजन किया। इस प्रदर्शनी से उसने एक ही साथ अपने देशवासियों और विदेशियों को फ्रांस की बढ़ती समृद्धि का परिचय दिया और इस प्रकार अपने शासन की उपयुक्तता और उपयोगिता की बात सिद्ध करने का प्रयास किया। दूसरी ओर पेरिस का सौंदर्य बढ़ाने में जितना काम इस समय हुआ उतना शायद पहले कभी नहीं हुआ था। इस कार्य में उसे अपने समय के प्रसिद्ध स्थापत्यकार आउसमान का सहयोग प्राप्त था। यदि हम उसके शासन के पहले के पेरिस का नक्शा देखें तो पता चलेगा कि वे तमाम चौड़ी सड़कें उसके ही शासनकाल में बनाई गईं जिनके लिए पेरिस अद्वितीय माना जाता है। कहते हैं कि आउसमान नक्शे पर सीधी लकीर खींच देता था और उसी के अनुसार सीधी सड़कें बनानी पड़ती थीं भले ही उनके लिए पूरा का पूरा मुहल्ला क्यों न गिरा देना पड़े।

लोकप्रियता बनाए रखने के लिए जनहित के भी कार्य किए जाते थे। असहाय और गरीबों के लिए शरणालय आदि बनाए गए। मजदूरों के आवास का प्रबंध किया गया। उसने मजदूरों की सहकारी समितियां गठित कीं। ट्रेड यूनियन आंदोलन को औपचारिक स्वीकृति प्राप्त हो गई। पहली बार मजदूरों को हड़ताल का अधिकार मिल गया। मृत्यु और दुर्घटना के विरुद्ध बीमा कराने का प्रबंध किया गया। कृषि के विकास को भी उसने ध्यान में रखा और कृषि विद्यालय आदि खोले गए। अच्छे उत्पादन और पशुपालन पर पुरस्कार दिए जाने लगे। दूसरे शब्दों में देखा जाए तो सामान्य लोगों के वे हित पूरे होने

लगे थे जिनसे मध्यमवर्ग के हितों का कोई विरोध या नुकसान नहीं था। उद्देश्य यह था कि समृद्धि और आर्थिक विकास के प्रदर्शन से जनता को खुश कर दिया जाए ताकि उसका ध्यान राजनीति की ओर न जाने पाए। लेकिन ऐसा होना असंभव था।

आखिर जब जनता में असंतोष बढ़ने लगा और आर्थिक तंत्र के वाहकों को भी नेपोलियन की यह व्यवस्था बहुत उपयोगी नहीं लगी तथा मध्यमवर्ग राजनीतिक अंकुशों के कारण क्षुब्ध होने लगा तो उसने थोड़ी रियायतें देकर उन्हें भुलावे में डालना चाहा। 1860 के बाद एक उदार साम्राज्य का ढांचा खड़ा किया गया। व्यवस्थापिका सभा को अधिकार दे दिए गए और गुप्त अधिवेशनों का क्रम बंद कर दिया गया। समाचारपत्रों पर लगा नियंत्रण भी ढीला कर दिया गया। जनसभा करने की इजाजत मिलने लगी।

इन रियायतों से विरोध का स्वर दबने के बजाय और प्रोत्साहित होने लगा। अंत में अपने पतन के कुछ ही दिनों पहले उसने व्यवस्थापिका सभा को पूरा अधिकार दे दिया और मंत्री अब उसी के प्रति उत्तरदायी होने लगे। जनमत संग्रह से इसकी पुष्टि भी हो गई। अब ब्रिटेन जैसी राजनीतिक व्यवस्था लागू हुई। लेकिन तब तक बहुत देर हो चुकी थी। नेपोलियन प्रथम ने भी जो बातें 1814 में स्वीकार की थीं उन्हें वह 1810 में ही लागू कर अपना साम्राज्य बचा सकता था। नेपोलियन तृतीय 1870 के संविधान को दस वर्षों पूर्व लागू कर अपना पतन रोक सकता था। लेकिन प्रश्न यह है कि ऐसा कैसे होता? नेपोलियन प्रथम और तृतीय अपने स्वभाव के विरुद्ध कैसे कार्य करते? ऐसा करके वह नहीं रह पाते जो वे थे और वे अपने ही को कैसे नकारते?

परराष्ट्र नीति : जिन संभावनाओं और सिद्धांतों को आधार बनाकर नेपोलियन तृतीय सफलता की सीढ़ियों पर ऊपर चढ़ता गया था, उन्हें मूर्तरूप देने के लिए आवश्यक था कि वह फ्रांस को यूरोप में प्रतिष्ठित करने के लिए, वैदेशिक संबंधों के क्षेत्र में सामान्य से अधिक क्रियाशील हो। शांति और राष्ट्रीय गौरव की नीतियों का एक साथ पालन असंभव था। दोनों में अंतर्विरोध था। लेकिन यह स्पष्ट था कि राष्ट्र की गरिमा के लिए कुछ करना जरूरी था। ऐसी स्थिति में कभी कभी हस्तक्षेप की नीति और आक्रामकता का रवैया अपनाना भी जरूरी था। यह उसके स्वभाव के विरुद्ध था क्योंकि उसमें नेपोलियन प्रथम का शौर्य और नेतृत्व नहीं था। उसे तो खून और बारूद की गंध तक से नफरत थी। अपने स्वभाव के विरुद्ध स्थितियों में बहते जाने के कारण ही नेपोलियन तृतीय को प्रारंभ में तो सफलता मिली थी लेकिन बाद में वह भटकता चला गया। यूरोप की राजनीति में फ्रांस को निर्णायक भूमिका मिल जाए और फ्रांस को लाभ भी हो, इसके लिए आवश्यक था कि युद्ध और कूटनीति दोनों ही स्तरों पर संगठित और दूरदर्शी प्रयास हों। युद्ध के लिए भी जरूरी था कि नेतृत्व प्राप्त हो। नेपोलियन तृतीय न तो स्वयं एक अच्छा जनरल था और न ही उसके पास कोई योग्य युद्धमंत्री था। उसे कोई उपयुक्त सहयोग भी नहीं मिला। कूटनीति के क्षेत्र में भी जिस कुशलता और दृढ़ता की आवश्यकता होती है उसका नेपोलियन में नितांत अभाव था। उसे तालिरां जैसा कोई मंत्री भी नहीं मिला। इसलिए उसकी परराष्ट्र नीति ढुलमुल और अस्पष्ट बनी रही। प्रारंभिक सफलता के बाद ही यूरोप में उसे कुटिल और स्वार्थी समझा जाने लगा।

सत्तारूढ़ होते ही उसके सामने इटली में पोप के राज्य पर मात्सिनी के समर्थकों द्वारा अधिकार का प्रश्न आ खड़ा हुआ। उसने राष्ट्रवादिता का हमेशा पक्ष लिया था और इटली में उसे राष्ट्रवादियों का समर्थन करना चाहिए था; लेकिन उसे यह भी मालूम था कि पोप का अपमान कैथोलिक लोगों को असंतुष्ट करता है और फ्रांस का भारी बहुमत कट्टर कैथोलिक ही था। अंत में उसने हस्तक्षेप किया और पोप को फिर से पदासीन कर के उसकी सुरक्षा का प्रबंध कर दिया। इससे अपने देश में उसकी लोकप्रियता बढ़ी और फ्रांस का अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में महत्व बढ़ने लगा। लेकिन उसकी नीतियों का अंतर्विरोध भी प्रकट हो गया।

इटली में उसने धर्म के नाम पर हस्तक्षेप किया था। अठारहवीं शताब्दी में पड़ोसियों ने पोलैंड को हड़प लिया था। 1863 में जब वहां लोगों ने अत्याचारों के विरुद्ध विद्रोह किया तो उन्हें आशा थी कि राष्ट्रीयता और कैथोलिक चर्च का पक्षधर नेपोलियन उनकी मदद करेगा। उसकी रूस विरोधी नीति पोल लोगों के पक्ष में थी क्योंकि वे भी जार के विरुद्ध थे। लेकिन पोल लोग आस्ट्रिया और प्रशा में भी थे। नेपोलियन उनकी मदद कर आस्ट्रिया और प्रशा को रुष्ट करने के लिए तैयार नहीं था। इसलिए विद्रोही पोल लोगों को उसका केवल नैतिक समर्थन प्राप्त हो सका।

क्रीमिया का युद्ध : पूर्वी समस्या में यूरोप की सारी बड़ी शक्तियां उलझी हुई थीं। (विस्तृत अध्ययन के लिए देखिए 'पूर्वी समस्या')। पतनोन्मुख तुर्की साम्राज्य के बाल्कन और काला सागर के आसपास के क्षेत्रों में रूस अपना विस्तार करना चाहता था। वह तुर्की के विरुद्ध था और इंग्लैंड इस विरोध को अपने औपनिवेशिक हितों और सामुद्रिक प्रभुता के विरुद्ध समझता था। इस प्रकार वास्तव में तनाव इंग्लैंड और रूस के बीच था। लेकिन नेपोलियन रूस की पराजय में अपना लाभ देखता था। सम्राट बनने के बाद ही उसे शीघ्र अपनी सफलता का प्रमाण देना था। उसे मालूम था कि नेपोलियन प्रथम के रूसी अभियान की असफलता और उसके असम्मान को रूस को युद्ध में पराजित कर ही मिटाया जा सकता है और राष्ट्रीय अहं को संतुष्ट किया जा सकता है। उस रूसी अभियान में शामिल हुए कुछ सैनिक अभी भी जीवित थे। रूस को बेइज्जत करने में उनका और उनके माध्यम से जनता का समर्थन मिलना निश्चित था।

ऐसी परिस्थिति में नेपोलियन तृतीय को अवसर मिला। तुर्की और रूस में बेथलहम के 'चर्च आफ नेटिविटी' की प्रबंध व्यवस्था को लेकर समझौता हुआ था कि इस चर्च का प्रबंध ईसाई ही करेंगे। लेकिन प्रश्न यह था कि इस ईसाई चर्च का प्रबंध रूसी ग्रीक चर्च करे या रोमन कैथोलिक चर्च? दोनों चर्चों में प्रबंध को लेकर ही विवाद था। कैथोलिक चर्च का विस्तार और प्रभाव बड़ा था और फ्रांस प्रमुख कैथोलिक देश था। नेपोलियन तृतीय ने रोमन कैथोलिक चर्च का पक्ष लेकर हस्तक्षेप करने का निर्णय किया। जब रूस ने मोल्डेविया और वैलेशिया पर हमला किया तो फ्रांस ने काला सागर में अपनी नौसेना भेज दी। तुर्की का साथ इंग्लैंड दे रहा था। तुर्की और इंग्लैंड के साथ फ्रांस ने रूस के विरुद्ध क्रीमिया का युद्ध लड़ा। दो वर्षों तक यह निरर्थक युद्ध चलता रहा और निर्णय नहीं हो सका। रूस का पक्ष कमजोर पड रहा था और सेवास्तोपोल में रूसी किले का

पतन हो गया। अंत में 1856 में निर्णय के लिए पेरिस में सम्मेलन करने का निश्चय किया गया।

पेरिस संधि में न तो रूस का कोई बड़ा नुकसान हुआ न इंग्लैंड या फ्रांस को कोई वास्तविक लाभ हुआ। परंतु नेपोलियन की प्रतिष्ठा को आवश्यक बल मिला। अब वह दावा कर सकता था कि फ्रांस का पुनः बड़े राष्ट्रों में स्थान हो गया है तथा वह यूरोप की राजनीति में निर्णायक भूमिका निभा सकता है। नेपोलियन की यह पहली और अंतिम सफलता थी।

नेपोलियन तृतीय और इटली : नेपोलियन के परिवार का इटली से घनिष्ठ लगाव था। इस परिवार की जन्मभूमि कार्सिका द्वीप मूलतः इटालियन था और बोनापार्ट परिवार भी इटालियन था। इसीलिए नेपोलियन प्रथम की इटली में सदा विशेष रुचि थी। नेपोलियन तृतीय भी शुरू से इटली की राजनीति में सक्रिय था। उसने कार्बोनारी के कार्यों में भी हिस्सा लिया था। वह इटली के एकीकरण का पक्षधर था। उसके हाथ में सत्ता आते ही इटली को आशा बंधी थी कि फ्रांस से आवश्यक सहायता मिल सकेगी। उसका समर्थन मिलने की आशा में ही कावूर ने पेरिस सम्मेलन में इटली के एकीकरण की बात उठाई थी। कावूर का उद्देश्य तो पूरा हो गया था लेकिन इस विषय में नेपोलियन तृतीय ने कोई विशेष समर्थन नहीं दिया था।

जब कावूर के नेतृत्व में पीडमांड ने इटली के एकीकरण के लिए आस्ट्रिया से युद्ध करने का निर्णय किया तो नेपोलियन ने उसे समर्थन देने का फैसला किया। उसकी कावूर से प्लोम्बियर्स में भेंट हुई और नेपोलियन ने सैनिक मदद देने का वादा किया। लेकिन उसने बदले में सवाय और नीस की मांग की। यह सौदेबाजी थी, मदद नहीं। कावूर मजबूर था और उसे बाहर से हर कीमत पर मदद चाहिए थी। समझौता हुआ और मिली जुली सेनाओं ने आस्ट्रिया को पराजित किया। तभी नेपोलियन को लगा कि यदि इटली का एकीकरण हो गया तो इससे पोप असंतुष्ट होगा और यह उसके देश की कैथोलिक जनता की रुचि के प्रतिकूल होगा। यह स्थिति अचानक नहीं पैदा हुई थी और इस विषय में किसी दूरदर्शी कूटनीतिज्ञ को शुरू से ही जागरूक होना चाहिए था, लेकिन ढुलमुल नीति वाले नेपोलियन तृतीय ने फौरन युद्ध से हट जाने का फैसला किया और उसने आस्ट्रिया से विलाफ्रांका की संधि कर ली।

यद्यपि नेपोलियन तृतीय ने समझौते की शर्तें पूरी नहीं की, तथापि वह नीस और सवाय पर अधिकार करना चाहता था। उसने एक तरफ आस्ट्रिया को नाराज किया, दूसरी ओर इटली के लोग उसकी गद्दारी पर क्षुब्ध हो गए। फ्रांस की जनता तो इटली को दी गई मदद से ही असंतुष्ट थी। बाद में समझौता भंग करके भी वह किसी को संतुष्ट नहीं कर सका। सबसे बड़ी बात तो यह हुई कि उसका विश्वास समाप्त हो गया। उसे एक ढुलमुल और अवसरवादी शासक समझा जाने लगा। प्रतिष्ठा पर ही जिसके शासन का आधार हो, उसके लिए यह घातक सिद्ध हो सकता था।

सवाय और नीस तो उसने दबाव डालकर ले लिया और इटली हमेशा के लिए उससे असंतुष्ट हो गया। जब गैरीबाल्डी ने रोम पर हमला किया तब फिर उसने पोप की रक्षा

के लिए सेना भेजी। पोप की रक्षा के लिए उसने रोम में स्थाई तौर पर सैनिक टुकड़ी लगा दी लेकिन यह कैथोलिकों के भावनात्मक संतोष के लिए पर्याप्त नहीं था। अंत में जब प्रशा से युद्ध की नौबत आई तो उसे रोम से अपनी सेना बुलानी पड़ी।

उसकी इटालियन नीति से फ्रांस को हमेशा के लिए नीस जैसा सुंदर नगर तो प्राप्त हुआ, परंतु इस उपलब्धि से उसकी धूर्तता पर कोई पर्दा नहीं पड़ा। इस अवसरवादिता से उसकी प्रतिष्ठा बहुत गिर गई। विदेशों में तो वह बदनाम हुआ ही, अपने देश में भी उसका सम्मान गिरता चला गया।

नेपोलियन और मेक्सिको : इटली के पास सबक देने के लिए पर्याप्त क्षमता थी लेकिन नेपोलियन तृतीय जैसे शासक इतिहास से सबक ले ही नहीं सकते। उसने अपनी जली उंगली फिर एक तेज लौ पर रख दी।

संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के दक्षिण स्थित विशाल देश मेक्सिको स्पेन से मुक्ति के बाद आर्थिक कठिनाइयों से गुजर रहा था। पादरियों का समर्थन प्राप्त कर शासन करने वाले मिरामन को पदच्युत कर जुआरेज राष्ट्रपति बन गया था। उसने वहां धर्म विरोधी नीति अपनाई। मिरामन ने कैथोलिक देशों की मदद चाही थी। मेक्सिको की सरकार ने यूरोप के सूदखोर बैंकरों से कर्ज लिया था। आर्थिक विकास ठीक से न होने के कारण ब्याज या कर्ज का भुगतान करने में कठिनाई हो रही थी। इसलिए तनाव को बल मिला। अंत में जब मेक्सिको ने भुगतान करने से इंकार कर दिया तो स्पेन और इंग्लैंड के साथ फ्रांस ने भी हस्तक्षेप करने का फैसला किया। लंदन में 1861 में एक संधि हुई और एक मिली जुली नौसेना भेजने का फैसला हुआ। स्पेन और इंग्लैंड ने तो प्रारंभिक झड़प के बाद समझौता संपन्न कर अपनी सेनाएं वापस बुला लीं, परंतु नेपोलियन तृतीय ने तो मेक्सिको में ऋण की वापसी के लिए ही नहीं, उसे परोक्ष रूप से हड़प लेने की योजना के साथ हस्तक्षेप किया था। मेक्सिको की गणतंत्रीय सरकार के चर्च से संबंध अच्छे नहीं थे। यह एक और बहाना था। उसने सोचा था कि इस अभियान से ईसाई लोगों का समर्थन मिलेगा। जीत के बाद कोई नैतिकता की बात नहीं उठाता। सभी फ्रांस की शक्ति के कायल हो जाएंगे। मेक्सिको फ्रांसीसी उद्योगों के लिए एक भारी बाजार सिद्ध होगा। यदि मेक्सिको पर प्रभुत्व स्थापित हो गया तो उसकी योजना थी कि अमरीका के दोनों महाद्वीपों के बीच स्थित संकरे स्थल डमरूमध्य पनामा को काटकर एक पनामा नहर बना दी जाए। अटलांटिक और प्रशांत महासागरों को मिला देने से व्यापार में सुविधा होगी और फ्रांस को निश्चित ही आर्थिक लाभ होगा।

फिर भी नेपोलियन तृतीय की कोई सुगठित योजना नहीं थी। मेक्सिको को फ्रांस का उपनिवेश बनाने या अपने परिवार के किसी सदस्य को वहां का शासक बनाने के बारे में उसने कोई निर्णय नहीं किया था। फ्रांस और मेक्सिको के युद्ध में मेक्सिको के राष्ट्रपति जुआरेज के विरोधियों ने फ्रांसीसी सेनाओं की मदद की। मेक्सिको जैसे विस्तृत देश पर पूरी तरह प्रभुत्व जमाना आसान नहीं था। मेक्सिको से बहुत से छोटे और सीमाओं के निकट ही स्पेन में नेपोलियन प्रथम को सबक मिल चुका था। मेक्सिको तो दूर और विशाल था फिर भी उसके प्रजातंत्र विरोधियों ने नेपोलियन की सहमति से

आस्ट्रिया सम्राट के भाई मैक्सीमिलियन को मेक्सिको का राजा बनाने का निर्णय किया। जिस प्रकार नेपोलियन प्रथम का भाई जोसेफ स्पेन पहुंचा था उसी प्रकार मैक्सीमिलियन भी मेक्सिको पहुंचा। लेकिन वहां भारी पैमाने पर गुरिल्ला युद्ध शुरू हो चुका था। जुआरेज अब देश का नायक हो गया था। राष्ट्रभक्तों ने मैक्सीमिलियन की नींद हराम कर दी। संयुक्त राज्य अमेरिका के राष्ट्रपति मानरो ने शुरू में ही घोषणा कर दी थी कि अमेरिकी महाद्वीपों में यूरोपीय हस्तक्षेप बर्दाश्त नहीं किया जाएगा। लेकिन इस समय अमेरिका भी गृहयुद्ध में व्यस्त था। जैसे ही युद्ध समाप्त हुआ, राष्ट्रपति अब्राहम लिंकन ने मेक्सिको में हस्तक्षेप करने की घोषणा की। अब नेपोलियन को लेने के देने पड़ गए। वह किसी भी कीमत पर अमेरिका के विरुद्ध नहीं जाना चाहता था। अंत में उसने अपनी सेनाएं वापस बुला लीं। बेसहारा मैक्सीमिलियन को राष्ट्रभक्तों ने पकड़ कर गोली मार दी। मैक्सीमिलियन को कुछ वर्षों के शासन का मोह बहुत महंगा पड़ा। नेपोलियन तृतीय एक बार फिर इस निरर्थक अभियान से अपमानित और पराजित हुआ।

उसका सबसे बड़ा नुकसान तो यह हुआ कि इन वर्षों में वह यूरोप की राजनीति में आवश्यक ध्यान नहीं दे सका। इसी बीच प्रशा में बिस्मार्क के हाथ सत्ता आ गई थी और उसने सुनियोजित ढंग से प्रशा के नेतृत्व में जर्मनी का एकीकरण करना शुरू किया था। फ्रांस और आस्ट्रिया के विरुद्ध उसने योजना बनाई। अपनी योजना के पहले चरण में उसने डेनमार्क को परास्त किया। आस्ट्रिया के विरुद्ध युद्ध में नेपोलियन बिस्मार्क की चाल में इतनी बुरी तरह फंस गया कि सैडोवा के युद्ध में तटस्थ रहकर उसने प्रशा की शक्ति को बढ़ाने में मदद की। इस तरह मेक्सिको में लाभ के लालच में उसने यूरोप के लाभ भी खो दिए और अंत में मेक्सिको में हर तरह से उसकी हानि हुई।

नेपोलियन तृतीय और जर्मनी : नेपोलियन की जर्मन प्रदेश में रुचि मात्र इतनी थी कि वह भी फ्रांस के सभी महत्वाकांक्षी शासकों की तरह फ्रांस की उत्तरी पूर्वी सीमा राइन नदी तक पहुंचाना चाहता था। जब बिस्मार्क ने उससे भेंट की और आस्ट्रिया के विरुद्ध अपनी योजना में उसे तटस्थ रूप से सम्मिलित करना चाहा तो किसी भी दूरदर्शी शासक के समक्ष बिस्मार्क का अंतिम लक्ष्य स्पष्ट हो जाना चाहिए था। लेकिन नेपोलियन ने सोचा कि यदि वह तटस्थ रहने से संभव है उसे राइन क्षेत्र मिल जाय। वास्तविकता यह थी कि उसने आस्ट्रिया का साथ दिया होता तो स्थिति कुछ और ही होती। वह तटस्थ रह गया और सैडोवा के युद्ध में आस्ट्रिया की पराजय के बाद उसे अपनी भूल का पता चला। निश्चित था कि सैडोवा में फ्रांस की भी पराजय हुई थी।

हमेशा की तरह उसे देर से होश आया। तब तक गलती हो चुकी थी। अब उसने पैंतरा बदला और कूटनीति का सहारा लिया। उसने प्रशा पर दबाव डालना शुरू किया कि यदि उसे लाभ नहीं पहुंचेगा तो वह शांत भी नहीं बैठेगा। उसने जर्मन क्षेत्र का कुछ हिस्सा अपनी तटस्थत के बदले में प्राप्त करना चाहा। बिस्मार्क ने उसे कोई साफ उत्तर नहीं दिया। कभी वह बेल्जियम की मांग करता, कभी लुक्सेमबुर्ग की और कभी पैलेटिनेट की। बिस्मार्क बड़ी चालाकी से उसकी मांग अन्य देशों के सामने रख देता। बेल्जियम

की तटस्थता और सुरक्षा के लिए इंग्लैंड प्रतिबद्ध था। जब उसे पता चला कि नेपोलियन की आंख बेल्जियम पर लगी है तो वहां उसके प्रति लोग सशंकित हो उठे। जर्मनी के राज्यों को जब इसका पता चला तो वे भी क्षुब्ध होकर प्रशा के निकट आने में ही अपनी भलाई समझने लगे। आस्ट्रिया नाराज था ही। स्थिति यह हो गई कि फ्रांस का कोई समर्थक नहीं बचा। फिर भी नेपोलियन को विस्मार्क की चाल का पता नहीं चला। उधर विस्मार्क फ्रांस से युद्ध की तैयारी में जुटा हुआ था। उसने जब तैयारी पूरी कर ली तो स्पेन के उत्तराधिकार की समस्या को लेकर फ्रांस के राजदूत और प्रशा के शासक में हुई वातचीत को इस तरह पेश किया कि फ्रांस और प्रशा दोनों ही देशों की जनता क्षुब्ध हो गई। नेपोलियन को बिना पूरी तैयारी के प्रशा से लड़ना पड़ा। फ्रांस पर सेदां का युद्ध थोपा गया था। परंतु यह युद्ध इस तरह प्रारंभ हुआ कि फ्रांस को ही पहल करनी पड़ी। कुछ ही हफ्तों की लड़ाई में नेपोलियन की सेना ने घुटने टेक दिए। इस युद्ध में उसकी शासनव्यवस्था का खोखलापन पूरी तरह स्पष्ट हो गया। सेना की हालत यह थी कि जहां तोप थी वहां गोले नहीं और जहां सेनापति थे वहां सेना नहीं। घोर अव्यवस्था और नेतृत्व के अभाव से पराजय सुनिश्चित थी। विस्मार्क पराजित फ्रांस के साथ इयेना की लड़ाई का वदला ले रहा था और सम्राट नेपोलियन अपना राज्य खोकर बंदी हो चुका था। इस तरह उसकी आशातीत सफलता का अप्रत्याशित ढंग से अंत हो गया।

मूल्यांकन : वर्ट्रेंड रसेल ने नेपोलियन तृतीय और विस्मार्क दोनों को धूर्त कहा है। परंतु दोनों की धूर्तता में भी फर्क था। नेपोलियन की धूर्तता ने असफलताओं के कारण उसे अवसरवादी और अस्थिर बनाकर वदनाम किया, परंतु विस्मार्क अपनी सफलताओं के कारण धूर्त होते हुए भी राष्ट्रनिर्माता कहलाया। वास्तविकता यह थी कि विस्मार्क जर्मन राष्ट्र की नब्ज पहचानता था और घोर प्रतिक्रियावादी होते हुए भी राष्ट्रवाद का वाहक वना वैठा था, क्योंकि जर्मनशक्ति का विकास और शक्ति उसके एकीकरण में ही निहित थी। दूसरी ओर नेपोलियन अपेक्षतया उदार था। फ्रांस उससे और अधिक उदारता और स्वतंत्रता की अपेक्षा करता था। फ्रांस के विकास को स्वेच्छाचारी नहीं उदार, और नई आर्थिक शक्तियों का पोषक चाहिए था। नेपोलियन तृतीय ने देश में इतिहास की दुहाई देकर सफलता प्राप्त की थी। लेकिन वह स्वयं इतिहासग्रस्त हो गया था। उसका देश निरंतर विकास कर रहा था। वर्तमान और भविष्य की ओर देखने की जरूरत थी और इस संदर्भ में नेपोलियन तृतीय अक्षम था।

सफलता के लिए उसने सवसे समझौता कर सवको खुश करना चाहा था। फलतः वह यह निश्चित नहीं कर पाया कि किस वर्ग के हितों की रक्षा करे और किसका प्रतिनिधि हो। सवको खुश न कर पाने की स्थिति में विभिन्न वर्ग उससे क्षुब्ध होते गए और एक दिन ऐसा भी आया जब सभी उससे नाराज होकर उसके विरोधी हो गए। उसने अराजकता और समाजवाद से बचने का एकमात्र उपाय बोनापार्टवाद को समझा था। लेकिन उसका बोनापार्टवाद बोनापार्ट विहीन था। जिन सिद्धांतों का उसने प्रतिपादन किया था उनको नेपोलियन प्रथम जैसा कुशल और योग्य शासक ही क्रियान्वित कर सकता था। उसमें अपने चाचा की योग्यता का शतांश भी नहीं था। इसलिए विक्टर

ह्यूगो उसे तिरस्कृत करता हुआ 'लघु नेपोलियन' कहा करता था।

उसने सोचा था कि फ्रांस के सभी वर्गों को खुश कर क्रांति और औद्योगिक क्रांति की उपलब्धियों का समन्वय करता हुआ वह राष्ट्रीय नेता बन सकेगा और देश के विभिन्न दलों के मुकाबले वह अपना 'राष्ट्रीय दल' संगठित कर सकेगा। इसी प्रयत्न में उसने कैथोलिक चर्च और पोप का बराबर पक्ष लिया और मजदूरों और कृषकों के हित के कार्य किए। अपने को 'मजदूरों का सम्राट' तक कहना शुरू किया। मध्यवर्ग और पूंजीपतियों के हित के कार्य किए गए। 1815 के बाद फ्रांस का राष्ट्रीय सम्मान आहत हुआ था। उसकी पुनर्प्रतिष्ठा के लिए उसने क्रीमिया के युद्ध में हिस्सा लिया। समृद्धि और व्यवस्था लौट आने के बाद उसने 'उदार साम्राज्य' स्थापित करने के लिए राजनीतिक सुधार भी किए।

इन कार्यों में उसे प्रारंभ में सफलता भी मिली। फ्रांस के कृषक और मजदूर पहले से अधिक खुशहाल हुए। फ्रांस का उत्पादन असाधारण गति से बढ़ा। सारे देश में निर्माण कार्य शुरू हुए। फ्रांस की राजधानी यूरोप की सुंदरतम नगरी हो गई और एक नई शैली—'द्वितीय साम्राज्य की शैली' सारे यूरोप में प्रशंसित होने लगी। पेरिस सम्मेलन के बाद फ्रांस फिर यूरोप के महान राज्यों में समझा जाने लगा। संक्षेप में यह कह सकते हैं कि नेपोलियन प्रथम के प्रारंभिक दस वर्षों की तरह नेपोलियन तृतीय को भी प्रारंभिक वर्षों में सफलता समृद्धि और सम्मान मिल रहा था लेकिन उसका साम्राज्य अंतर्विरोधों पर खड़ा था।

केवल वह नहीं, कोई भी समाज के हर वर्ग को खुश नहीं कर सकता और न ही हर वर्ग के हित के अनुसार कार्य ही कर सकता है। क्योंकि वर्गों के हितों में ही संघर्ष निहित होता है। नेपोलियन तृतीय अपने अंदर क्रांतिकारी और साम्राज्यवादी भावना का समन्वय करना चाहता था। यह केवल पाखंड था। सबको खुश करने की कोशिश में वह सबको नाराज करता जा रहा था। पोप का पक्ष लेकर भी वह कैथोलिकों को संतुष्ट नहीं कर सका था। सामान्य लोगों के हित में कुछ सुधार करने के बावजूद वह उनके जीवन में कोई वास्तविक परिवर्तन नहीं ला सका था। इसलिए उनका भी मोह भंग हो रहा था। मध्यवर्ग और पूंजीपतियों को प्रोत्साहन देने के बावजूद इंग्लैंड के व्यापार को रियायतें देकर फ्रांस के उद्योग को स्पर्धा के समक्ष खड़ा कर दिया था। इसलिए फ्रांसीसी उद्योगपति और व्यापारी भी उससे असंतुष्ट हो चले थे। कला और साहित्य के प्रति प्रेम प्रदर्शन के बावजूद उसकी स्वेच्छाचारिता और निरंकुशता के कारण फ्रांसीसी बुद्धिजीवी उसके विरोधी थे। अब किसके सहारे वह शासन करता? सेना को भी वह आश्वस्त और प्रेरित नहीं कर पाता था क्योंकि वास्तव में वह सैनिक नहीं था और युद्ध प्रेमी भी नहीं।

ऐसी स्थिति में उसका चरित्र उसकी महत्वाकांक्षाओं के बिलकुल विपरीत प्रमाणित हो रहा था। फ्रांस को सम्मान दिलाने के प्रयास में वह ऐसी हरकतें कर बैठता था जिससे उसका ही अपमान होता। सम्राट के असम्मान के बाद देश कैसे सम्मानित

होता ? इटली, मेक्सिको, जर्मनी हर जगह की कूटनीति में उसने अपने को अनाड़ी सिद्ध किया और उसकी चाल विफल हुई। वह अपनी चाल गलत देख कर बौखला जाता था और हतोत्साहित होकर पुनः गलत कदम उठाता।

उसने न तो अपने को आदर्शवादी सिद्ध किया न ही व्यावहारिक। जिन आदर्शों को उसने ढोया और जिनके कारण उसे प्रारंभ में सफलता मिली वे काल विरुद्ध थे। जो व्यावहारिक कदम उसने उठाए वे परस्पर विरोधी थे। वह निरंतर स्थितियों के हाथ में कठपुतली की तरह आचरण करता रहा और जब स्वयं कुशलता दिखाना चाहा तो धागे तोड़ दिए। इसके बावजूद वह फ्रांस की तत्कालीन स्थितियों की विडंबना ही नहीं फ्रांस के इतिहास में सततव्यापी विडंबनाओं की एक अभिव्यक्ति प्रतीत होता है।

6

फ्रांस में तृतीय गणतंत्र

नेपोलियन तृतीय के पतन के बाद फ्रांस में गणतंत्र की स्थापना तो कर दी गई लेकिन उसका आधार पूर्णतया अनिश्चित था। जर्मन सेनाएं सेदां से पेरिस की ओर बढ़ रही थीं। गांबेता ने पेरिस में गणतंत्र की स्थापना कर सुरक्षा की तैयारी शुरू कर दी। अस्थाई सरकार विस्मार्क के साथ संधि नहीं करना चाहती थी। युद्ध स्थगित होने पर तय हुआ कि 'राष्ट्रीय सभा' अंतिम निर्णय करेगी। सभा निर्वाचित हुई और उसने फैंकफुर्ट की संधि पर हस्ताक्षर कर दिए। फ्रांस को अलसास और लोरेन के साथ पांच अरब फ्रांक का हर्जाना भी देना पड़ा और हर्जाना चुकाने तक फ्रांस में जर्मनी की सेना रखने के भी प्रावधान पर सहमति व्यक्त की गई।

फ्रांस की स्थिति अनिश्चित थी। पेरिस में गणतंत्र की स्थापना हुई थी। गांबेता गणतंत्र का अस्तित्व बनाए रखने तथा युद्ध जारी रखने के पक्ष में था। लेकिन फ्रांस के लोग शांति चाहते थे और इसलिए वे गणतंत्र का समर्थन करने से डरते थे। उन्होंने जिस प्रतिनिधि सभा का गठन किया था उसमें राजतंत्रवादियों का वहुमत था। दीये को कार्यकारिणी का अध्यक्ष वनाया गया था। राजतंत्रवादियों की चाल यह थी कि किसी तरह गणतंत्रवादियों के नाम अलसास और लोरेन के पतन का इल्जाम लग जाए और उनके वदनाम हो जाने पर उन्हें हटाने का प्रयास किया जाए। लेकिन संघर्ष वहुत दिनों तक नहीं टाला जा सकता था। प्रतिनिधि सभा ने अपना केंद्र वेर्साई को बनाया। यह पेरिस का असम्मान था। सरकार की नीतियां और उसके कार्य स्पष्टतः पेरिस और गणतंत्रवादियों के विरुद्ध थे। नतीजा यह हुआ कि पेरिस में वेर्साई सरकार के विरुद्ध क्षोभ संघर्ष में वदलने लगा।

पेरिस कम्यून : पेरिस के राष्ट्रीय सुरक्षा दल (नेशनल गार्ड) ने सरकारी सिपाहियों को परास्त कर दिया और उन्हें पेरिस छोड़ देना पड़ा। पेरिस में 90 सदस्यों की एक साधारण सभा गठित की गई और नगर का प्रशासन उसी के हाथ में कई महीनों तक बना रहा। अपने कार्यों के कारण इस पेरिस कम्यून को इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। इस कम्यून के सदस्य क्रांतिकारी थे और वे सारे देश में इसी तरह कामगारों की सरकारें संगठित कर कम्यूनों के माध्यम से सत्ता पर कब्जा कर एक नए समाज की रचना करना चाहते थे। उन्होंने दीये और प्रतिनिधि सभा को गणतंत्र विरोधी घोषित किया और इल्जाम लगाया कि वे इसका अंत करना चाहते हैं। एक तरफ उन्होंने पेरिस की सुरक्षा का प्रबंध किया और दूसरी ओर नगर में मानव इतिहास में पहली बार मेहनतकश

लोगों का शासन अस्तित्व में आया। प्रशासन नए ढंग से संगठित किया गया और मजदूरों के राज का सपना साकार होने लगा।

इस कम्यून की पहली महत्वपूर्ण बात थी विश्वव्यापी बिरादरी। कम्यून में विदेशी भी चुने गए थे। यह घोषित किया गया था कि 'कम्यून का झंडा विश्व गणतंत्र का झंडा है।' राज्य में समानता के लिए अधिकतम वेतन छः हजार फ्रांक निश्चित हुआ। चर्च और राज्य का पृथक्करण हो गया और उसे राज्य से मिलने वाली सहायता समाप्त कर दी गई। गिओतीन और नेपोलियन की प्रतिमाएं नष्ट कर दी गईं। कारखानों में मजदूरों का प्रशासन स्थापित किया गया। श्रमिक विरोधी सारे कार्य धीरे धीरे समाप्त कर दिए गए। श्रमिकों के प्रतिनिधियों द्वारा उन्हीं के हित में राज्य का वर्ग चरित्र निर्धारित होने लगा।

कुछ हफ्तों में कम्यून ने अपनी सुगठित व्यवस्था बना ली। प्राचीन व्यवस्था के शोषक प्रतीकों को साहसिक ढंग से नष्ट किया जाने लगा। ये कार्य मानव इतिहास में अभूतपूर्व कार्य थे। परंतु ये लोग विरोधी शक्तियों से घिरे हुए किसी सागर में एक द्वीप की भांति थे। उन्हें निरंतर सैनिक स्तर की तैयारी भी करते रहना था। इस दिशा में अपने सीमित साधनों का उपयोग कर उन्होंने श्रमिकों की राष्ट्रीय सुरक्षा सेना संगठित कर ली थी जिसने असाधारण धैर्य और साहस का परिचय दिया।

यह सब न तो फ्रांस के सामंतों को मंजूर था और न पूंजीपतियों को। यहां तक कि मध्यवर्ग के लोग भी इसे अपने हितों के विरुद्ध समझने लगे। कुछ ही हफ्तों के बाद पेरिस पर हमले का समवेत प्रयास हुआ। जर्मन घेराबंदी के घाव अभी भरे भी नहीं थे कि अपने ही देश की सरकार की सेनाओं ने पेरिस पर बमबारी शुरू कर दी। दो महीने तक भयंकर यातनाओं के बीच कम्यून के सिपाही लड़ते रहे। गणतंत्र के समर्थकों ने असाधारण धैर्य और वीरता का परिचय दिया। जब वे नगर की रक्षा नहीं कर सके तो घर घर और सड़क सड़क पर लड़ाई शुरू हुई और वेर्साई की सरकार कई हफ्ते के बाद ही पेरिस पर दुश्मन जर्मनों की मदद से कब्जा कर पाई। एक बार फिर पेरिस में असंख्य लोगों को मौत के घाट उतारा गया और मानव इतिहास का एक अभिनव प्रयोग पूरा नहीं हो पाया।

कम्यून में कई विचारों के लोग थे इसलिए कार्यक्रमों में बहुत स्पष्टता नहीं थी। 'बैंक आफ फ्रांस' पर कब्जा करने के प्रश्न पर मतैक्य नहीं हो सका क्योंकि इसके लिए वे साहस नहीं जुटा पाए। ब्लांकी और प्रूढ़ों के अनुयाई भिन्न दिशाओं में जाना चाहते थे। इसलिए कार्यक्रमों में अपेक्षित समन्वय नहीं हो पाया। फिर भी यह निर्विवाद है कि इतिहास में पहली बार सर्वहारा की शक्ति को अपनी क्षमता प्रदर्शित करने का मौका मिला था और वह नीतियों तथा कार्यक्रमों के नियोजन का कोई अनुभव न होने के बावजूद सफलता की ओर बढ़ रही थी। इसीलिए असफल होने पर भी उसने सारी दुनिया के मेहनतकश लोगों को हमेशा प्रेरित किया है।

दीये हृदय से गणतंत्रवादी था। वह कहता था कि राजतंत्र के कारण देश विघटित होगा

क्योंकि कई राजवंश दावेदार थे। इसलिए वह कहता था कि गणतंत्र ही सबसे कम विघटनकारी है। वह राजतंत्रवादियों का भी समर्थन पा सका क्योंकि वह उग्र नहीं था। उसे राष्ट्रपति भी बना दिया गया और अपने ढाई वर्षों के शासन में उसने जर्मनी के हर्जाने का भुगतान किया और फ्रांस की जमीन पर वर्षों के राष्ट्रीय असम्मान की प्रतीक जर्मन फौज हटा ली गई। सेना और प्रशासन पुनर्गठित किया गया। दीये ने देश को एक स्थाई संविधान देने का प्रस्ताव किया। इस पर राजतंत्र के समर्थक घबराए क्योंकि उन्हें विश्वास नहीं था कि संविधान राजतंत्र का समर्थक होगा। इसलिए उन्होंने दीये का समर्थन छोड़ दिया और उसे इस्तीफा दे देना पड़ा।

तृतीय गणतंत्र का दूसरा राष्ट्रपति मैक्मोहन पूरी तरह से राजतंत्र का समर्थक था। लेकिन समस्या यह थी कि यदि फ्रांस में राजतंत्र स्थापित हो जाय तो गद्दी किसे मिलेगी। लूई सोलहवें के बूर्बों वंश को, लूई फिलिप के आरलेआं वंश को या नेपोलियन के बोनापार्ट वंश को। तीनों ही वंशों के दावेदार मौजूद थे। फिलहाल नेपोलियन तृतीय के पुत्र का दावा दृढ़ होते हुए भी कमजोर इसलिए था कि लोगों के मस्तिष्क में नेपोलियन तृतीय की स्मृति भी ताजी थी और जनता बूर्बों और आरलेआं वंशों की गलत कार्यवाहियों को भूल चुकी थी। समझौते का एक फार्मूला यह था कि बूर्बों वंश के निस्सन्तान काउंट शाम्बोर को गद्दी पर बैठाया जाए और आरलेआं वंश से संबंधित पेरिस के काउंट को वह अपना उत्तराधिकारी मनोनीत कर दे। इस प्रकार दोनों वंशों का अधिकार पूरा हो जाता। एक बार फिर शाम्बोर ने यह सिद्ध कर दिया कि बूर्बों न इतिहास भूलते हैं और न उससे कुछ सीखते हैं। उसने फ्रांस के तिरंगे झंडे के स्थान पर अपने वंश का सफेद झंडा प्रतिष्ठित करने की जिद की। यह एक ऐसा कार्य था जिससे सारे देश की भावना प्रतिकूल हो सकती थी। समझौता नहीं हो सका और शाम्बोर ने पहल करने से इंकार कर दिया। इस झगड़े का बोनापार्टिस्ट लोगों ने फायदा उठाना चाहा, लेकिन साम्राज्य गठन का जोखिम उठाने के लिए कोई तैयार नहीं था। इसीलिए राजतंत्रवादियों को मजबूरन गणतंत्रवादी संविधान बनाना पड़ा।

1875 में तृतीय गणतंत्र का संविधान बना। इस संविधान में सात वर्षों के लिए एक राष्ट्रपति के निर्वाचन का प्रावधान हुआ। दो सदनों की व्यवस्थापिका बनी—सीनेट और प्रतिनिधि सभा। मंत्रियों को व्यवस्थापिका के प्रति जिम्मेदार बनाया गया। इस तरह राष्ट्रपति नाममात्र का अध्यक्ष रह गया। वास्तविक सत्ता प्रतिनिधि सभा और मंत्रियों के हाथ में आ गई। वर्ष भर के भीतर ही एक नई व्यवस्थापिका का चुनाव हो गया और प्रत्यक्ष रूप से गणतंत्र सुरक्षित हुआ।

लेकिन संकट बना रहा। बार बार गणतंत्र के सामने कोई न कोई समस्या पैदा हो जाती और गणतंत्र खतरे में पड़ जाता। पहला खतरा तो राष्ट्रपति मैक्मोहन से ही था जो राजतंत्र का समर्थक था। सीनेट में राजतंत्रवादियों का बहुमत था। मैक्मोहन ने मंत्रिमंडल भंग कर दिया और राजतंत्र के समर्थक ब्राग्ली के ड्यूक को प्रधानमंत्री नियुक्त कर दिया। नए चुनाव में भरपूर कोशिश हुई कि राजतंत्र समर्थक बहुमत बन जाए। पादरियों ने भी राजनीति में खुलकर हिस्सा लिया। लेकिन परिणाम प्रतिकूल हुआ।

पहले प्रतिनिधि सभा और फिर सीनेट में गणतंत्रवादियों का बहुमत हो गया। अब अपनी बाजी हार कर मैक्मोहन को इस्तीफा देना पड़ा और ग्रेवी नामक गणतंत्रवादी राष्ट्रपति चुन लिया गया।

यह पहला खतरा किसी तरह टल गया और गणतंत्र के समर्थक शासन व्यवस्था के हर अंग में आ गए थे। अब वास्तव में जनतंत्र का व्यावहारिक प्रयोग हो सकता था। नए नए कानून बनने लगे। अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता दे दी गई और समाचारपत्र मुक्त हो गए। जन सभाओं पर से पाबंदी हटा ली गई। शिक्षा व्यवस्था का नए ढंग से संगठन हुआ। पहले पादरी ही शिक्षा संस्थाओं पर हावी थे। वे अब इन संस्थाओं से हटा दिए गए और धार्मिक शिक्षा पर पाबंदी लगा दी गई। केवल व्यक्तिगत स्तर पर ही पादरी स्कूल चला सकते थे। राष्ट्र की शिक्षा नीति में उनका कोई हस्तक्षेप नहीं रहा।

पश्चिमी जनतंत्रों की विचित्र स्थिति यह रही है कि अपने देश में प्रजातंत्र का समर्थक दूसरे देशों में साम्राज्यवाद का समर्थन करने लग जाता है। इस बीच फ्रांस का औद्योगिक विकास तेजी से आगे बढ़ा। पूंजीवादी व्यवस्था को बाजार की जरूरत पड़ी और एशिया तथा अफ्रीका में उपनिवेशों के लिए योजनाएं बनाई जाने लगीं। कुछ ही दिनों में ट्यूनीशिया पर फ्रांसीसी संरक्षण थोप दिया गया। हिंद चीन में वियतनाम के साथ अन्नाम और टोंकिन जोड़ दिए गए। अफ्रीका में उपनिवेश बनाने की होड़ मची हुई थी। फ्रांस ने भी पश्चिमी अफ्रीका के एक बड़े भू-भाग को हथिया लिया।

गणतंत्र को चिरस्थाई बनाने और राजतंत्र के हर तरह के खतरों को दूर करने के लिए 1884 में संविधान में संशोधन किया गया ताकि गणतंत्र का स्वरूप कभी न बदल सके और किसी भी राज परिवार का सदस्य राष्ट्रपति न हो। नेपोलियन परिवार ने साम्राज्य बनाने के लिए दो बार गणतंत्र को सीढ़ी की तरह इस्तेमाल किया था। इसलिए यह संशोधन महत्वपूर्ण था। दो वर्षों बाद राजपरिवारों के सदस्यों को देश से निष्कासित कर दिया गया। इस तरह भविष्य में भी कोई खतरा न रहने की आश्वस्ति जनता को मिली।

राजतंत्र का खतरा तो समाप्त हुआ सा प्रतीत हो रहा था, लेकिन अब गणतंत्र के समर्थक स्वयं कई दलों में विभाजित होने लगे। उदार, अनुदार, कट्टर और उग्र कई दल बन गए। मत वैभिन्न्य के कारण सरकार की नीतियों की आलोचना शुरू हो गई और सरकार का तख्ता डावांडोल होने लगा। 1887 में ग्रेवी के स्थान पर कार्नो राष्ट्रपति हुआ। इस समय युद्धमंत्री अत्यंत महत्वाकांक्षी जनरल बूलांजे था। कुछ इतिहासकारों ने उसमें नेपोलियन की छाया देखी है। वह अत्यंत लोकप्रिय और गणतंत्र विरोधी शक्तियों की आशा का केंद्र हो गया था। उसने संविधान में परिवर्तन की मांग की और प्रतिनिधि सभा में भारी बहुमत से चुन लिया गया। षड्यंत्र बढ़ने लगे। यदि वह तत्काल तख्ता पलटने का निर्णय कर लेता तो सफल होने की भी संभावना थी, लेकिन वह दुविधा में पड़ गया। सरकार को उसकी साजिश का पता चल गया और उसे गिरफ्तार करने की योजना बनाई गई। इस योजना का पता चलने पर वह भाग खड़ा हुआ। थोड़े दिनों

बाद उसने आत्महत्या कर ली। इस तरह गणतंत्र के लिए एक भयानक खतरा टल गया।

ड्रेफ्यू कांड : गणतंत्र अभी भी स्थिर नहीं था क्योंकि हत्या और मृत्यु के कारण राष्ट्रपति बदलते रहे और इसी बीच एक ऐतिहासिक कांड हो गया जो सारी दुनिया में 'ड्रेफ्यू का मामला' के नाम से प्रसिद्ध है।

ड्रेफ्यू यहूदी था और फ्रांस की सेना में कप्तान था। सारे यूरोप में यहूदी विरोधी भावना बढ़ रही थी। उन पर संदेह कर प्रताड़ित किया जा रहा था। 1894 में ड्रेफ्यू पर राष्ट्रीय सुरक्षा के विरुद्ध विदेशियों को सुरक्षा संबंधी जानकारी देने का अपराध लगाया था। उसका कोर्ट मार्शल हुआ और उसे अपराधी करार देकर बंदी बना दिया गया। उस समय हस्तलिपि का वैज्ञानिक विश्लेषण नहीं हो पाता था और ड्रेफ्यू इसके विरोध में अपना पक्ष नहीं रख सका कि उसने लिखित रूप में कोई जानकारी नहीं दी है। उसका किसी ने विश्वास नहीं किया। उसे सेना से निकाल दिया गया और उसे बहुत दूर एक टापू में नजरबंद कर दिया गया।

उस समय तो मामला दब गया, परंतु यहूदी विरोधी जनमत इसे एक प्रमाण के रूप में मानने लगा कि यहूदी देशद्रोही हैं। उन्हें खुशी थी कि एक यहूदी को सजा मिली है। कुछ लोगों को संदेह भी था। दो वर्षों बाद कर्नल पिकार ने दावा किया कि ड्रेफ्यू निरपराध था और उसे षड्यंत्र का शिकार होना पड़ा है। वास्तव में बोर्दरो एक जालसाजी थी और जिसे मेजर एस्तराजी ने लिखा था। पिकार इसे पूरी तरह साबित नहीं कर पाया। लेकिन धीरे धीरे ड्रेफ्यू का मामला राष्ट्रव्यापी रुचि का विषय बन गया। सारा देश उसके पक्ष और विपक्ष में विभाजित हो गया। यह स्पष्ट हो गया कि जितनी भी प्रतिक्रियावादी शक्तियां हैं—सामंत, सैन्यवादी, राजतंत्रवादी या पादरी आदि, वे ड्रेफ्यू के विरुद्ध थीं और प्रगतिशील तत्व---विशेषकर बुद्धिजीवी उसके पक्ष में थे। सेना और चर्च के बढ़ते प्रभाव को घातक मानने वाले इस मामले को फिर से उठाने के लिए तत्पर थे। इस पक्ष का इसलिए विशेष प्रचार हुआ कि अपने समय के सबसे प्रतिष्ठित साहित्यकार एमिल जोला और अनातोले फ्रांस तथा प्रभावशाली राजनेता क्लमांसो ड्रेफ्यू के हिमायती बन गए।

दबाव इतना बढ़ा कि एस्तराजी पर जालसाजी का मुकदमा चलाया गया। लेकिन मुकदमा वास्तव में एक नाटक था। उसे निरपराध घोषित कर छोड़ दिया गया। इसी समय जोला ने वह विश्वविख्यात पत्र प्रकाशित किया जिसमें उसने दोनों ही मुकदमों के जजों को अपराधी करार दिया। उसने अपना पत्र इस तरह शुरू किया था, 'मैं अभियोग लगाता हूं' इसमें सनसनी फैल गई। स्वयं जोला को अपराधी ठहराया गया और यदि वह इंग्लैंड न भाग जाता तो उसकी सजा निश्चित थी। प्रतिक्रियावादी प्रभाव में सरकार ने प्रतिनिधि सभा में तीन दस्तावेज पेश किए और ड्रेफ्यू के अपराध की पुष्टि की। कर्नल पिकार सारी कार्यवाही पर कड़ी नजर रखे हुए था और उसने दावा किया कि इनमें से दो दस्तावेजों का मुकदमे से कोई ताल्लुक नहीं था और तीसरा एक जालसाजी थी। उसकी बात तब पुष्ट हुई जब कर्नल हेनरी ने स्वयं जालसाजी करना कबूल कर लिया और

उसने आत्महत्या कर ली।

सरकार की ओर से इज्जत बचाने के लिए कहा गया कि इससे मूल मुकदमे पर कोई फर्क नहीं पड़ता। लेकिन मुकदमा फिर से शुरू करने के लिए नई अदालत गठित हुई। अब मूल अपराधी डर गए और एस्तराजी देश छोड़कर भाग गया। उसने अपने जुर्म का, यानी बोर्दरो की जालसाजी का इकबाल कर लिया। अब तो स्थिति साफ हो गई थी कि सारा मामला दांवपेचों और षड्यंत्रों से ओतप्रोत था। अदालत ने द्रेफ्यू का मुकदमा फिर से चलाने का फैसला किया और पहला फैसला रद्द कर दिया। द्रेफ्यू को फ्रांस लाया गया और मुकदमा शुरू हुआ। उसके विरोधी एकजुट हो गए। द्रेफ्यू के वकील की हत्या का भी प्रयास हुआ। अंत में उसे पुनः अपराधी घोषित कर दिया गया। उसे दस वर्ष की सजा दी गई। लेकिन नवनिर्वाचित राष्ट्रपति लूबे ने उसे क्षमा प्रदान कर दिया। द्रेफ्यू के पक्षधर लोगों ने इसे पर्याप्त नहीं माना और वे न्याय की मांग करते रहे। अंत में 1906 में फिर मुकदमा शुरू हुआ और अदालत ने बोर्दरो की जालसाजी के लिए एस्तराजी को अपराधी घोषित कर और द्रेफ्यू बरी कर दिया गया। उसकी सेना में पदोन्नति हुई और 'लेजिओं दानर' नामक राष्ट्रीय सम्मान से उसे विभूषित किया गया।

इस मामले ने गणतंत्र का भाग्य अधर में लटकाए रखा था। समस्त प्रतिक्रियावादी शक्तियां एकजुट हो गई थीं, लेकिन उनके विरुद्ध गणतंत्र समर्थक और प्रबुद्ध व्यक्ति भी अंत में संगठित हो गए। द्रेफ्यू की मुक्ति गणतंत्र की बहुत बड़ी जीत थी। साथ ही इससे सेना के षड्यंत्रों का पर्दाफाश हुआ और उसे अंतिम रूप से नागरिक प्रशासन के अंतर्गत आना पड़ा। इस कांड ने यह भी साबित कर दिया कि सभ्यता का मुखौटा लगाने वाले समाजों में भी कितना रोग छिपा होता है। यहूदियों के विरुद्ध व्याप्त वैमनस्य और घृणा से यूरोप एक अर्से से ग्रस्त था और इसका सबसे विकृत रूप हिटलर के समय दिखाई पड़ता है। द्रेफ्यू के मामले में यह घृणा फ्रांस की राजनीति में खुलकर अभिव्यक्त हुई। इस मामले का असर दूर दूर देशों पर पड़ा।

तृतीय गणतंत्र और चर्च : फ्रांस एक कैथोलिक देश है, और क्रांतिकाल की धर्म विरोधी तथा नेपोलियन की चर्च विरोधी नीति भी देश की जनता को चर्च की आस्था से डिगा नहीं सकी थी। लेकिन यह भी सच था कि प्रारंभ से ही फ्रांस एक राष्ट्रीय चर्च के लिए उत्सुक रहता था और फ्रांस के शासकों ने पोप के हस्तक्षेप या प्रभाव का हमेशा विरोध किया था। लूई चौदहवें से नेपोलियन तक कई बार पोप का प्रभाव समाप्त करने का प्रयास हुआ, लेकिन हर बार पादरियों का वर्ग शक्तिशाली रहा।

तृतीय गणतंत्र के प्रारंभ से ही चर्च ने गणतंत्र विरोधी तत्वों को प्रोत्साहित किया था। द्रेफ्यू के मामले में चर्च के पादरी बहुत सक्रिय थे। धीरे धीरे गणतंत्र के समर्थकों से पादरियों का संघर्ष जर्मन कुल्टुरकाम्प्फ का रूप लेता जा रहा था। चर्च राज्य की सत्ता के समानांतर होता जा रहा था। जर्मनी में अंततोगत्वा बिस्मार्क को कैथोलिकों के सम्मुख झुकना पड़ा था। फ्रांस में स्थिति भिन्न थी। द्रेफ्यू कांड के बाद समाजवादी और गणतंत्र के समर्थक शक्तिशाली हो गए थे और चर्च को सबक सिखाने पर आमादा थे।

धीरे धीरे शिक्षा और चेतना के विस्तार के साथ धर्मांधता घट रही थी और पुरातनवादी चर्च का प्रभाव जनता पर कम होता जा रहा था। ऐसी स्थिति का लाभ उठाकर फ्रांस की सरकार ने चर्च को नियंत्रित करने का कार्य शुरू किया।

बीसवीं शताब्दी के पहले वर्ष में साम्राज्यवादियों और गणतंत्रवादियों के समर्थन से वाल्देक रूसो प्रधानमंत्री बना। अब तक यह नियम था कि बीस व्यक्तियों से अधिक की कोई भी संस्था बिना सरकारी आज्ञा के गठित नहीं हो सकती थी। लेकिन यह कानून सही अर्थों में सख्ती से क्रियान्वित नहीं किया जाता था। ऐसी बहुत सी संस्थाएं कार्यरत थीं जो गणतंत्र विरोधी थीं। इनका शिक्षा पर विशेषकर प्रभाव था। पादरियों ने हमेशा ही गणतंत्र विरोधी प्रतिक्रियावादी षड्यंत्रों में हिस्सा लिया था। 1901 में वाल्देक रूसो की प्रेरणा से संस्थाओं के संबंध में एक कानून लागू हुआ जिसके अनुसार गैर धार्मिक संस्थाओं को तो मान्यता मिल गई लेकिन धर्म संस्थाओं के लिए सरकार से विशेष आज्ञा लेना अनिवार्य हो गया। अमान्य संस्थाओं के लोगों पर शिक्षण कार्य का प्रतिबंध लगा दिया गया। यह कानून इतनी कड़ाई से लागू किया गया कि जो संस्थाएं राजपत्रित नहीं थीं, उन्हें भंग कर दिया गया। नई संस्थाओं को मान्यता नहीं दी गई और उनकी संपत्ति जब्त कर ली गई। कुछ ही दिनों बाद नए प्रधानमंत्री कोम्ब ने मान्य धार्मिक संस्थाओं के सदस्यों को भी दस वर्षों के भीतर शिक्षण कार्य से अलग करने का कानून लागू कर दिया। परंतु अभी तक यह कानून सामान्य पादरियों के विरुद्ध नहीं था। विशेषकर भिक्षु और भिक्षुणियों का ही विरोध हुआ था। पोप और राज्य के संबंध नेपोलियन के कोंकोर्दा से ही नियमित होते थे। फ्रांस की सरकार बिशपों आदि की नियुक्ति कर देती थी और पोप की स्वीकृति मिल जाती थी। जब पिअस दशम पोप हुआ तो वह फ्रांस की सरकार के कार्यों से बहुत क्षुब्ध था। उसने आपत्ति की। पोप इटली के शासक से एकीकरण के बाद से ही नाराज रहते थे उससे फ्रांसीसी राष्ट्रपति की भेंट पर भी क्षोभ व्यक्त किया गया। तनाव बढ़ता ही गया और दोनों ने एक दूसरे की राजधानियों से अपने राजदूत वापस बुला लिए। एक शताब्दी बाद 1905 में फ्रांस ने कोंकोर्दा समाप्त कर दिया और राज्य ने किसी भी धर्म को मान्यता देने से इंकार कर दिया।

इसका तात्कालिक असर यह हुआ कि राज्य से वेतन पाने वाला पादरी वर्ग बेकार हो गया। राज्य की ओर से सांस्कृतिक समितियां गठित की गईं। इन्हें गिरजाघरों तक के इस्तेमाल का अधिकार दे दिया गया। यद्यपि यह कानून सभी धर्मों के लिए था, तथापि इसका प्रभाव कैथोलिकों पर ही विशेष रूप से पड़ा। अन्य धर्मावलंबियों, यहूदियों और प्रोटेस्टेंटों ने इसे तत्काल स्वीकार कर लिया। केवल कैथोलिक चर्च विरोधी बना रहा। पोप की प्रेरणा से समानांतर 'सांस्कृतिक संस्थाएं' गठित की गईं। नई नीति का समर्थन चाहने वाले कैथोलिक पोप का कोपभाजन बन गए। लेकिन पोप के प्रयासों के बावजूद सरकार नहीं झुकी। इस बार वह 'राज्य के अंदर राज्य' की स्थिति को सदा के लिए समाप्त कर देना चाहती थी। केवल जनता ही गिरजाघरों के इस्तेमाल के लिए अधिकारियों से आज्ञा मांग सकती थी। हजारों साल तक फ्रांस में अत्यंत शक्तिशाली रहने के बाद कैथोलिक चर्च असहाय हो गया। ऐसा इसलिए हुआ कि अब जनमत उसके

साथ नहीं था। सभ्यता के विकास के साथ धर्म की पकड़ कम हो गई थी और कुछ रूढ़िवादियों के अतिरिक्त अन्य लोग स्वतंत्र और विवेकपूर्ण ढंग से सोचने समझने लगे थे। नास्तिकता भी बढ़ती जा रही थी। औद्योगिक समाज में धार्मिक कार्यों के लिए समय ही किसके पास बचता है।

चर्च और राज्य का पृथक्करण पूरा हो गया था। सही अर्थों में फ्रांस एक धर्म निरपेक्ष राज्य बन गया था। लेकिन तृतीय गणतंत्र का जन्म अत्यंत कठिन परिस्थितियों में हुआ था। वह कठिनाइयों से मुक्ति ही नहीं पा रहा था। चर्च की समस्या के साथ ही अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में उसका एकाकीपन भी एक सिर दर्द था। बिस्मार्क ने फ्रांस को असम्मानित करके एकाकी बना दिया था। विलियम द्वितीय तो आक्रामक होता ही जा रहा था। ऐसी स्थिति में फ्रांस को अंतर्राष्ट्रीय नीतियों में सफलता मिली।

पहले ब्रिआं और फिर क्लमांसो के प्रयास और दूरदर्शिता के कारण फ्रांस की स्थिति सुधरती चली गई। पहले फ्रांस के संबंध रूस से सुधरे और फिर इंग्लैंड भी निकट आ गया। जैसे जैसे युद्ध की मानसिकता बन रही थी और तनाव बढ़ रहा था वैसे वैसे फ्रांस की रूस और इंग्लैंड के साथ निकटता बढ़ती जा रही थी। उनके बीच मित्रतापूर्ण समझौता तृतीय गणतंत्र की एक उपलब्धि थी। इसलिए जब प्रथम महायुद्ध शुरू हुआ तो फ्रांस अकेला नहीं था। जर्मन गुट के समानांतर मित्र राष्ट्रों का गुट भी युद्ध के लिए तैयार था।

तृतीय गणतंत्र अपने अब तक के जीवन में बहुत से संकट झेल चुका था। युद्धकाल में वह और अधिक सशक्त हुआ क्योंकि संपूर्ण राष्ट्र देश रक्षा में सन्नद्ध था। महायुद्ध काल में क्लमांसो का नेतृत्व बहुत कारगर सिद्ध हुआ था। युद्ध के बाद पेरिस संधि वार्ताओं में क्लमांसो की कूटनीतिक जीत और उससे हुए लाभों ने गणतंत्र की जड़ें विशेष रूप से मजबूत कर दीं। यद्यपि प्रथम महायुद्ध के बाद भी गणतंत्र में अनेक पार्टियों और उनके बीच के संघर्ष के कारण गणतंत्र अस्थिर ही बना रहा फिर भी अब राजतंत्र से कोई विशेष खतरा नहीं रह गया था। तब से अब तक गणतंत्र का स्वरूप दो बार और बदला है। इस समय फ्रांस में पांचवां गणतंत्र होने के बावजूद इसे गणतंत्र ही कहा जाएगा।

7

पूर्वी समस्या

दुनिया के इतिहास में शायद ही किसी अवधि विशेष को समस्या की संज्ञा दी गई हो, लेकिन उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारंभ से बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ तक पूर्वी यूरोप का इतिहास इतनी जटिल और बीहड़ समस्याओं से भरपूर है कि उसे 'पूर्वी समस्या' के नाम से ही जाना जाता है। वास्तव में पूर्वी यूरोप में इतने देशों और राष्ट्रों के हित एक ही साथ टकराते थे कि उन्हें समझने के लिए कोई सरल समीकरण बना लेना आसान नहीं था। कहा जाने लगा था कि इस समस्या को केवल दो ही व्यक्ति समझते थे जिनमें एक की मृत्यु हो चुकी है और दूसरा जेल में है।

यह सच है कि समस्याएं जटिल थीं, पर उन्हें समझना आज उतना कठिन नहीं रहा जितना उस समय रहा होगा। दूसरी बात यह भी है कि इतिहासकार के लिए उन्हें समझना एक राजनीतिज्ञ की अपेक्षा आसान है क्योंकि वह तथ्यों का तटस्थ होकर वैज्ञानिक अध्ययन कर सकता है। इस समस्या को समझने के लिए एक संक्षिप्त सर्वेक्षण आवश्यक है।

पंद्रहवीं शताब्दी से ही तुर्की के साम्राज्य का विस्तार शुरू हुआ था और कुस्तुनतुनिया के पतन के बाद वियेना तक के पतन की नौबत आ गई थी। सुलेमान महान के शासनकाल के समय तुर्क साम्राज्य सारी दुनिया में सबसे शक्तिशाली साम्राज्य बन गया था। सारे दक्षिण-पूर्वी यूरोप पर तुर्कों का प्रभुत्व दृढ़ हो गया था। दक्षिण-पूर्वी यूरोप की ईसाई जातियां, जिनमें स्लाव, बुलगार, सर्ब आदि भिन्न भाषाओं और राष्ट्रीयताओं के लोग थे, मुसलमान तुर्कों के प्रभुत्व में आ गई थीं। तुर्कों ने भारत से मध्य यूरोप तक एक बहुत बड़े भाग को जीता था लेकिन न तो वे स्वयं उन स्थानों की सभ्यता से घुले मिले थे जहां उन्हें विजय मिली थी और न ही विजित लोगों को अपने में मिला सके थे। इस तरह उन्होंने शुरू से अंत तक एक विदेशी आक्रमणकारी का चरित्र बनाए रखा।

तुर्कों की सर्वोच्चता सत्रहवीं शताब्दी तक फिलिप द्वारा तुर्क नौसेना की लेपांटों में हुई पराजय के बावजूद अक्षुण्ण बनी रही। सबसे पहली चुनौती उसे समुद्री क्षेत्र में इंग्लैंड की नौसेना से मिली लेकिन तुर्क नौसेना की हालत खराब होने के नाते इंग्लैंड को किसी स्पर्धा का डर नहीं रहा। स्थल पर सबसे पहले रूस के शासक पीटर ने तुर्की को पराजित किया, फिर भी कालासागर से एड्रियाटिक सागर तक तुर्क शासन निर्बाध गति से बना रहा।

अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में दो महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए। पहले रूस की

जारीना कैथरीन द्वितीय ने साम्राज्यवादी नीति अपनाई और दक्षिण की ओर साम्राज्य विस्तार करती हुई कालासागर के अजोव तक पहुंच गई। दूसरी ओर फ्रांस की क्रांति और बाद में नेपोलियन की विजयवाहिनी ने राष्ट्रवाद के सिद्धांत से सारे यूरोप को प्रेरित किया। बाल्कन प्रायद्वीप जहां कई राष्ट्रीयताओं के लोग रहते थे जागने लगे। ईसाई बहुल बाल्कन में मुसलमान तुर्कों का शासन अब असह्य लगने लगा—विशेषकर इसलिए कि यूरोप के प्रमुख ईसाई देश धर्म के नाम पर अपना राष्ट्रीय हित साधने के लिए ईसाइयों का पक्ष लेने लगे थे। संपूर्ण बाल्कन में राष्ट्रवादी चेतना मानो अंगड़ाई लेकर जाग पड़ी। यही समय था जब तुर्क साम्राज्य की शक्ति क्षीण हो रही थी।

तुर्क साम्राज्य के पतनोन्मुख होने के कारण बाल्कन में पैदा हो रही शक्ति शून्यता भरने के लिए कई शक्तियों ने प्रयास करना शुरू किया। सबसे उचित और उपयुक्त दावा बाल्कन राष्ट्रों का था, लेकिन वियेना कांग्रेस के बाद शुरू हुई राष्ट्रवाद विरोधी प्रतिक्रियावादी व्यवस्था इसके लिए तैयार नहीं थी। दूसरी शक्ति रूस थी। रूस का शासक वर्ग स्लाव जाति का ही था। रूस की अधिकांश जनता ग्रीक आर्थोडाक्स चर्च की अनुयाई थी और बाल्कन के ईसाई भी अधिकांशतः इसी चर्च को मानते थे। अतः रूस बाल्कन राष्ट्रों से जातीय, सांस्कृतिक और धार्मिक निकटता दिखाकर वहां के राष्ट्रों का पक्ष लेने के बहाने अपना प्रभाव बढ़ाना चाहता था। तीसरी शक्ति आस्ट्रिया थी जिसे कैम्पोफोर्मियों की संधि के बाद नेपोलियन ने पश्चिम से दक्षिण पूर्व की ओर मोड़ दिया था। अब आस्ट्रिया रूस का बाल्कन में प्रतिद्वंद्वी था।

इन सबका बाल्कन से निकट का संबंध था। लेकिन दूर दूर से फ्रांस तथा इंग्लैंड भी बाल्कन में अपनी रुचि बनाए हुए थे। फ्रांस तो आपसी संबंधों में महत्वपूर्ण बने रहने के लिए हस्तक्षेप करता था पर इंग्लैंड का हित और अधिक गहरा था। पहले इंग्लैंड ने तुर्की का महत्व नहीं समझा था लेकिन जब नेपोलियन ने मिस्र पर हमला किया तो अंगरेजों को इस क्षेत्र पर प्रभाव का मूल्य समझ में आया। प्रधानमंत्री पिट ने पार्लमेंट की मध्यपूर्व में रुचि पैदा कर दी। तब से इंग्लैंड की रुचि बढ़ती गई क्योंकि इंग्लैंड का साम्राज्य दक्षिण एशिया, विशेषकर भारत में, फैला हुआ था और वहां का टोरी दल रूस के डर (रशोफोबिया) से पीड़ित रहने लगा था। इंग्लैंड में अधिकांश लोग रूस के दक्षिण में विस्तार से डरते थे और उन्हें यह भय था कि कहीं रूस खैबर के दर्रे के रास्ते हिंदुस्तान में न घुस आए। रूसी नौसेना के कालासागर में पहुंचने से पूर्वी भूमध्यसागर और मिस्र में उसका प्रभाव बढ़ सकता था। यह भी इंग्लैंड को स्वीकार नहीं था। इसलिए इंग्लैंड रूस के बढ़ाव को रोकने के लिए तुर्की को बांध की तरह इस्तेमाल करना चाहता था। इसीलिए तुर्की को, जिसे 'यूरोप का बीमार' देश कहा जाता था, इंग्लैंड अपने सहयोग और समर्थन की दवा देकर बराबर जीवित रखना चाहता था। इस तरह इंग्लैंड जैसे सर्वशक्तिशाली देश का हित पतनोन्मुख मध्ययुगीन तुर्क साम्राज्य को बचाए रखने में था। उसकी यह दिलचस्पी इस समस्या को और जटिल बनाती थी। इन्हीं तत्वों की टकराहट के बीच पूर्वी समस्या पनपती सुलगती रही और अंत में उसका वही समाधान हुआ जो होना था। वेर्साई संधि के बाद प्रायद्वीप में राष्ट्रीय तत्वों का स्वतंत्र

अस्तित्व कायम हो गया।

इस समस्या की संक्षिप्त और आधारभूत व्याख्या यह भी हो सकती है : परंपरागत साम्राज्यों तुर्की, रूस तथा आस्ट्रिया की परस्पर तथा इंग्लैंड से टकराहट और उभरते राष्ट्रवाद के कारण यह समस्या पैदा हुई थी। बाल्कन में मध्ययुगीन और आधुनिक तत्व कई तरह से एक दूसरे से टकराते थे। सवाल नए बाजार बनाने और पुराने बाजारों की सुरक्षा का भी था। कुल मिलाकर पश्चिमी यूरोप की आधुनिकता पूर्वी यूरोप में आसानी से नहीं जन्म ले सकी और कई दशकों की प्रसव पीड़ा के बाद ही नए बाल्कन का जन्म हो सका।

अठारहवीं शताब्दी से ही तुर्की के अधीन मुस्लिम और ईसाई जनता में विद्रोह शुरू हो गए थे। बाल्कन प्रायद्वीप में तुर्की के अत्याचारी और भ्रष्ट शासन के खिलाफ सबसे पहले सर्बिया में कारजार्ज नामक व्यक्ति 1809 में आगे आया। रूस बाल्कन के ईसाइयों का संरक्षक माना जाता था। वह मदद के लिए तैयार था लेकिन जब रूस पर ही नेपोलियन ने आक्रमण कर दिया तो सर्बिया अकेला पड़ गया। तुर्की ने सर्बिया पर कब्जा कर लिया, लेकिन मिलोश आब्रेनोविल के नेतृत्व में फिर विद्रोह हुआ। रूसी मदद मिलती रही और 1830 तक सर्बिया का तुर्की से संबंध बस नाममात्र को रह गया जो बाद में भंग भी हो गया।

यूनान की स्वतंत्रता : यूनान यूरोप की सभ्यता का केंद्र बिंदु माना जाता है। यूरोप के विकास को प्राचीन यूनान में प्रारंभ हुआ माना जाता है। कहते हैं कि यूरोप की चिंतन-धारा प्लेटो के विचारों की टिप्पणी मात्र है। यह एक अतिशयोक्ति है, परंतु यह भी सत्य है कि ईसा पूर्व पांचवीं और छठवीं शताब्दियों में यूनान में साहित्य, कला, विचारदर्शन और जीवन क्रम में जितना विकास हुआ उसका मानव सभ्यता में बहुत महत्वपूर्ण स्थान है। बाद में सिकंदर ने एक साम्राज्य की स्थापना कर यूनान की सत्ता भारत से पूर्वी यूरोप तथा उत्तरी अफ्रीका तक स्थापित की थी। लेकिन तीसरी शताब्दी ईसा पूर्व के बाद यूनान का पतन शुरू हुआ और यूनान इस कदर बिखर गया कि हजारों साल तक यूनान का ज्ञान दूसरे देश संजोए रहे और स्वयं यूनान अपने अतीत से कटा और टूटा सा महत्वहीन बना रहा। पंद्रहवीं शताब्दी के पुनर्जागरण पर प्राचीन यूनान की प्रेरणा और प्रभाव सर्वविदित है। आश्चर्य यह है कि पुनर्जागरण स्वयं यूनान में नहीं हुआ। तब तक यूनान तुर्कों के कब्जे में जा चुका था और तीन सौ वर्षों तक यूनान अन्य बाल्कन प्रदेशों से बेहतर हालत में होते हुए भी गुलामी में पिसता रहा। यूनानी तुर्क साम्राज्य की चाकरी करते रहे और यूनान के इतिहास चिह्न ध्वस्त किए जाते रहे।

अठारहवीं शताब्दी के अंत में फ्रांसीसी क्रांति ने यूनानियों को भी प्रेरित किया। तुर्की के पतन ने उन्हें प्रोत्साहित किया और यूनान का जागरण शुरू हुआ। प्राचीन और गौरवशाली इतिहास तथा साहित्य की वाहक ग्रीक भाषा का पुनरुद्धार शुरू हुआ। अतीत की स्मृति अनुप्राणित करने लगी। 1819 में ओडेसा में 'हतैरिया फिलाइक' नामक एक संस्था का जन्म हुआ जिसका उद्देश्य तुर्क साम्राज्य को यूनान से उखाड़ फेंकना था। यह बात महत्वपूर्ण है कि इस संस्था की स्थापना व्यापारियों ने की थी। यह भी स्पष्ट है कि यूनान

का मध्यमवर्ग, जो तुर्क साम्राज्य में अपेक्षतया अधिक प्रतिष्ठित था, अब महत्वाकांक्षी हो गया था। उसे स्वतंत्र अस्तित्व में अधिक लाभ की संभावना नजर आ रही थी। धीरे धीरे इस संस्था का प्रभाव बढ़ने लगा। कुछ ही वर्षों में उसके कई लाख अनुयाई हो गए। रूस से मदद की उम्मीद के साथ विद्रोह की तैयारी होती रही। उन्होंने यह भी चाहा कि बाल्कन की अन्य जातियों के साथ मिलकर तुर्की के विरुद्ध विद्रोह हो, लेकिन इन जातियों में आपसी विद्वेष था और वे न तो अभी क्रांति के लिए तैयार थीं और न तो यूनान का नेतृत्व स्वीकार कर सकती थीं। यूनानी देशभक्तों को आशा थी कि उनके विद्रोह का नेतृत्व जार का मित्र कापोदिस्त्रिआस करेगा और इस कारण रूस पूरी मदद करेगा। लेकिन अंतिम वक्त में वह तैयार नहीं हुआ। विद्रोह का नेतृत्व अलेक्जेंडर यिपसिलांती ने संभाला और मोरिया में पहला विस्फोट हुआ। यूनानियों में तुर्कों के अत्याचारों के प्रति इतना क्षोभ था कि उन्होंने तुर्कों की नृशंस हत्या करनी शुरू कर दी। बहुत से निर्दोष लोग मारे गए। तुर्कों ने सबक सिखाने के लिए यूनानियों के धार्मिक नेता तथा ग्रीक आर्थोडाक्स चर्च के पोप पैट्रियार्क को कुस्तुनतुनिया में फांसी दे दी। तुर्क साम्राज्य अंदर से खोखला हो रहा था नहीं तो यूनानी विद्रोह को इस समय दबाना मुश्किल नहीं था। यूरोप के देश अभी निर्णय नहीं कर पाए थे कि वे यूनान के विषय में कैसा रुख अपनाएं।

यूनान को सारा यूरोप सम्मान की दृष्टि से देखता था। हजारों साल बाद यूनान फिर से जागा था और अपने स्वतंत्र अस्तित्व के लिए संघर्ष कर रहा था। सारे यूरोप में यूनानियों के समर्थन में सहायता समितियां गठित होने लगीं। यूनान-प्रेम तेजी से व्यापक होने लगा। जन और धन दोनों ही जुड़ने लगे। स्वयंसेवक अपने आप यूनान पहुंचने लगे और विद्रोह को जीवित रखने में हर तरह का योगदान करने लगे। पश्चिमी यूरोप के प्रतिष्ठित नागरिकों के समर्थन ने यूनान की स्वतंत्रता में सबकी सहानुभूति जगाई। जब प्रख्यात कवि 'बायरन' ने यूनानियों का पक्ष लेकर कलम की जगह हथियार उठा लिया तो सारा यूरोप सन्नद्ध सा हो गया। बायरन की यूनान में हुई मृत्यु यूनानियों के बहुत काम आई क्योंकि अब इंग्लैंड की जनता यूनान के स्वतंत्रता संग्राम से निकटता महसूस करने लगी। यूनानी को युद्धरत घोषित करने से सिद्धांततः उन्हें एक अलग इकाई मान लिया गया और उनकी मदद करना आसान हो गया।

हताश होकर तुर्की के सुल्तान ने मिस्र से पाशा मेहमत अली से मदद मांगी। मिस्री नौसेना इब्राहीम के नेतृत्व में यूनान पहुंची और यूनानी प्रतिरोध टूटने लगा। मोरिया पर फिर तुर्की का कब्जा हो गया। पश्चिमी यूरोप के देश दुविधा में थे। 'होली एलायंस' या 'चतुर्मुखी संधि' की ओर से हस्तक्षेप मुश्किल था और फिर वे तो राष्ट्रवादियों के विरुद्ध हस्तक्षेप करने के पक्षधर थे। यूनान के राष्ट्रवादियों के पक्ष में कैसे हस्तक्षेप करते। दूसरी ओर ईसाई सिद्धांतों की दुहाई देने वाले यूनान के ईसाइयों के विरुद्ध एक मुस्लिम साम्राज्य की कैसे मदद करते। यह भी निश्चित था कि यूनानियों की सफलता यूरोप के अन्य स्वतंत्रता प्रेमियों को प्रेरणा देती। इसे मेटरनिख कैसे बर्दाश्त करता? जनता की सहानुभूति की परवाह न करते हुए उसने शासकों को यूनान की मदद करने से रोके रखा। लेकिन यूनान का प्रश्न पश्चिमी यूरोप में घर घर का प्रश्न बनता जा रहा था। सरकारों

के लिए जनता की इस मुद्दे पर अवहेलना कर पाना मुश्किल हो गया।

रूस का जार निकोलस प्रथम यूनानियों का समानधर्मी होने के नाते मदद करना चाहता था। इस तरह रूस का प्रभाव भी बढ़ता और तुर्की साम्राज्य से उसकी पुरानी दुश्मनी भी निभ जाती, लेकिन अकेले रूस को पहल करने देने के लिए इंग्लैंड तैयार नहीं था। इंग्लैंड की नीति तुर्की को छिन्न भिन्न होने देने से बचाने की थी और वह रूस का प्रभाव बढ़ने से भी डरता था। जब इब्राहिम के मोरिआ में किए गए अत्याचारों की पुष्टि हो गई तो इंग्लैंड के विदेश मंत्री कैनिंग ने पहल करने का निर्णय किया। उसने प्रख्यात सेनापति वेलिंगटन को सेंट पीटर्सबर्ग भेजा और रूस तथा इंग्लैंड ने मिलकर तुर्की और यूनानी विद्रोहियों के बीच मध्यस्थता का प्रस्ताव रखा। तुर्क विद्रोह दबाने में सफल हो रहे थे, इसलिए उन्होंने यह प्रस्ताव ठुकरा दिया। अब कुछ और करना जरूरी हो गया था। तभी फ्रांस की सरकार ने भी यूनानियों की मदद में दिलचस्पी दिखाई क्योंकि इस प्रकार चार्ल्स फ्रांसीसियों को संतुष्ट कर सकता था। 1827 में लंदन में एक सम्मेलन हुआ और इंग्लैंड, फ्रांस तथा रूस ने पहली बार मिली-जुली कार्यवाही करने का निर्णय किया। यह कदम अप्रत्याशित था। इंग्लैंड की फ्रांस और रूस से और फ्रांस की इंग्लैंड और रूस से सहयोग की सामान्य स्थितियों में गुंजाइश नहीं थी। परंतु पूर्वी समस्या से ऐसे बहुत से असाधारण कार्य भी हुए।

तीनों देशों की संयुक्त नौसेना तुर्की की ओर भेजी गई। नावारिनों की खाड़ी में इस नौसेना का मिस्र और तुर्की की नौसेनाओं से मुकाबला हुआ। युद्ध की घोषणा नहीं हुई थी इसलिए शुरुआत करने में दोनों ही दल हिचक रहे थे। अंत में अचानक एक गोली चल जाने से युद्ध शुरू करने का बहाना मिल गया और तुर्की तथा मिस्र की नौसेना न केवल पराजित बल्कि नष्ट हो गई। तुर्की के लिए अब यूनानियों को रोक पाना कठिन था, फिर भी इज्जत बचाने के लिए उसने मुआवजे की मांग की। सुल्तान ने काफिरों के विरुद्ध 'हत्ती शेरिफ' या जेहाद तक की बात की। इसी बीच वेलिंगटन इंग्लैंड का प्रधान-मंत्री हो गया था। वह नावारिनों के युद्ध से बहुत खुश नहीं था। वह उसे एक अनुपयुक्त घटना मानता था। वैसे भी तुर्की का पतन इंग्लैंड के हित में नहीं था इसलिए इंग्लैंड ने इस समस्या से अपने को अलग कर लिया। लेकिन रूस ने तुर्की के विरुद्ध आक्रमण कर दिया। रूसी सेनाएं कुस्तुनतुनिया की ओर बढ़ने लगीं। सुल्तान के लिए अब समझौता जरूरी हो गया।

एड्रियानोपुल में 1821 में एक संधि हुई और तुर्की की नाममात्र की प्रभुता में यूनान की स्वायत्तता देने की बात तय हुई। यूनानियों ने इसे मानने से इंकार कर दिया। 1830 की क्रांति ने उन्हें और बल दिया। अंत में 1832 में यूनान में एक स्वतंत्र राज्य की घोषणा कर दी गई और बवेरिया के आटो को यूनान का राजा बना दिया गया। इस प्रकार एक नए यूनान का जन्म हुआ। यह बाल्कन में राष्ट्रीय शक्तियों के उदय का प्रारंभ था।

इसी समय मोल्डेविया और वैलेशिया को भी स्वायत्तता मिल गई थी। तीनों ही प्रदेश रूस के प्रति कृतज्ञ थे और इंग्लैंड की इच्छाओं के विरुद्ध बाल्कन प्रायद्वीप में रूस का

प्रभाव बढ़ रहा था। उसका भूमध्य सागर के निकट पहुंचते जाना इंग्लैंड की आंख का कांटा बनता जा रहा था। अन्य स्थितियां भी रूस के पक्ष में होती ही जा रही थीं।

मिस्र के पाशा मेहमत अली ने तुर्की के सुल्तान की मदद की थी। यह मदद कारगर साबित नहीं हुई, फिर भी पाशा बदले में तुर्की से सीरिया का प्रदेश चाहता था। वहां का सुल्तान नहीं चाहता था कि उसका साम्राज्य और अधिक भंग हो। पाशा ने जबरदस्ती की और उसकी सेनाओं ने सीरिया को रौंद डाला। अब खतरा यह पैदा हो गया कि सुल्तान की राजधानी पर भी मेहमत अली का अधिकार हो जाएगा। तुर्की असहाय हो गया। मौके का फायदा उठाकर रूस ने उसकी मदद करने का प्रस्ताव किया। मरता क्या न करता। सुल्तान ने प्रस्ताव मान लिया और रूस तथा तुर्कों के बीच 1833 में उनकियार स्केलेसी की संधि हो गई। इस संधि के अनुसार काला सागर और भूमध्य सागर को जोड़ने वाला दारदानेल का जलडमरूमध्य युद्ध काल में रूस और तुर्कों के युद्धपोतों के अतिरिक्त सब देशों के लिए बंद कर देने का प्रावधान कर दिया गया। यह रूस की अभूत-पूर्व कूटनीतिक विजय थी। क्योंकि अब उसकी नौसेना आक्रमण और सुरक्षा दोनों ही दृष्टि से बेहतर थी।

पूर्वी समस्या में दिलचस्पी लेने वाले अन्य बड़े देश, इंग्लैंड, फ्रांस और आस्ट्रिया अपने को ठगे गए से महसूस कर रहे थे। उन्होंने विरोध भी किया। पर यह तो दो स्वतंत्र देशों की आपसी समस्या थी। क्या हो सकता था? रूस के प्रति सभी शंकालु हो गए। इंग्लैंड में तो रूस के डर की महामारी ही फैल गई। रूस की योजनाओं के बारे में अट-कलें लगाई जाने लगीं।

उधर तुर्की और मिस्र में समझौता हो गया था और सीरिया पर मिस्र का कब्जा मान लिया गया था। लेकिन एक पतनोन्मुख और दूसरे उदीयमान पड़ोसी के बीच स्थाई समझौता हो भी कैसे सकता था। दोनों के बीच फिर संघर्ष शुरू हो गया। फ्रांस का शासक एक सक्रिय विदेशी नीति के मौके की तलाश में था। उसने मेहमत अली की मदद करने का निर्णय किया। अब मिस्र का हौसला और बुलंद था। उसके हाथ तुर्की फिर पराजित होने लगा। इंग्लैंड की दुविधा बढ़ गई। तुर्की की जीत से रूस का प्रभाव बढ़ता और मिस्र की जीत से फ्रांस का। ये दोनों ही स्थितियां इंग्लैंड को स्वीकार्य नहीं थीं। खासतौर से इसलिए कि पहली स्थिति में इंग्लैंड के उपनिवेश भारत पर स्थल मार्ग से खतरा बढ़ता और दूसरी स्थिति में भारत का ज़लमार्ग अवरुद्ध हो सकता था। रूस की सफलता मध्य एशिया और भारत के उत्तर पश्चिम में खतरा उत्पन्न करती और फ्रांस की सफलता नेपोलियन के मिस्र अभियान वाली स्थिति पैदा कर सकती थी। संयोग से इस समय इंग्लैंड का विदेशमंत्री पामर्सटन था जो एक दूरदर्शी और निर्भीक राजनीतिज्ञ था। उसने हस्तक्षेप करने का निर्णय किया।

रूस इंग्लैंड से युद्ध के लिए तैयार नहीं था। तुर्की में हुई संधि के बाद से ही रूस यूरोपीय ताकतों से युद्ध की संभावना के बारे में निश्चित सा था। उसने समझौते का रुख अपनाया। उसने पश्चिमी यूरोप के अन्य देशों के साथ मिलकर स्थितियों पर विचार करने में रुचि दिखाई। इस प्रकार उनकियार संधि का एक पक्ष समाप्त हो गया।

आस्ट्रिया और प्रशा भी इस तरह के समझौते के लिए तैयार थे। फिर तो रूस, इंग्लैंड, आस्ट्रिया और प्रशा ने समझौता कर लिया और तुर्की तथा मिस्र की समस्याओं का हल ढूंढ़ने का प्रस्ताव किया। मिस्र को फ्रांस के सहयोग के कारण बहुत विश्वास था और उसने समझौते से इंकार कर दिया। फलत: मिले जुले प्रयास से सीरिया मिस्र से छीन लिया गया।

1841 में लंदन में एक सम्मेलन हुआ जिसमें मिस्र को सीरिया पर अपना दावा छोड़ना पड़ा। बदले में उसे तुर्की की नाममात्र की प्रभुता के नीचे पूरी स्वतंत्रता दे दी गई। संधिकर्ताओं ने मिस्र की स्वतंत्रता की गारंटी दी। लूई फिलिप को असम्मानित होना पड़ा। साल भर बाद जलडमरू मध्यों में यातायात के संबंध में वार्ता शुरू हुई तो इसमें फ्रांस भी शामिल था। यहां उनकियार की संधि के विरुद्ध यह निश्चित हुआ कि दारदानेल और बासफोरस के जलडमरू मध्यों में किसी भी देश के युद्धपोत नहीं चलेंगे। इस तरह रूस को जो भी प्राथमिकता मिली थी वह समाप्त हो गई। यह पामर्सटन की नीतियों की सबसे बड़ी सफलता थी। इससे उसकी प्रतिष्ठा अपने देश में और इंग्लैंड की प्रतिष्ठा विश्व में बहुत बढ़ गई। अब तुर्की को रूस के सहयोग पर निर्भर रहने की जरूरत नहीं रह गई। रूस ने भी इंग्लैंड से संबंध सुधारने में ही अपना भला समझा। अप्रत्याशित रूप से जार ने इंग्लैंड की यात्रा की और तुर्की के खोखलेपन की चर्चा करके उसे इंग्लैंड के साथ मिलकर बांट लेने का प्रस्ताव किया। जार निकोलस ने ही तुर्की को 'यूरोप का बीमार' कहा था और कूटनीतिज्ञों के बीच यह प्रचलित मुहावरा सा बन गया। लेकिन यहां एक आधारभूत मतभेद था। जार बीमार तुर्की की संपत्ति के बंटवारे की बात सोचता था जब कि इंग्लैंड इस बीमार को लाइलाज नहीं मानता था और तुर्की को जीवत रखने में दिलचस्पी रखता था। इसलिए जार के कई प्रयत्नों के बावजूद कोई समझौता नहीं हो पाया और रूस तथा इंग्लैंड में महत्वपूर्ण सिद्ध हो सकने वाली मित्रता बढ़ नहीं पाई।

क्रीमिया का युद्ध : कुछ इतिहासकारों का मत है कि क्रीमिया का युद्ध शायद इतिहास का सबसे **'निरर्थक युद्ध'** था। वास्तविकता यह है कि यह युद्ध बिना किसी खास कारण के यों ही शुरू हुआ था लेकिन उसके परिणाम बेकार नहीं थे। वैसे लड़ाई का कारण निहायत मामूली था।

तुर्क साम्राज्य के विस्तार ने फिलिस्तीन को हड़प लिया था। फिलिस्तीन में बेथलहेम का चर्च ईसाइयों के लिए पवित्रमम तीर्थ है। तीर्थों की पवित्रता बनाए रखने और उसकी देखरेख के लिए प्रमुख ईसाई देशों और तुर्की के बीच समझौता हो गया था कि ईसाई पादरी नेटिविटी के चर्च का प्रबंध देखेंगे। 'कुचुक कैनार्दजी' की संधि (1774) के समय से तुर्की के आर्थोडाक्स ईसाइयों का संरक्षक रूस था। इसलिए नेटिविटी के चर्च की देखभाल का कार्य ग्रीक आर्थोडाक्स चर्च के प्रधान देश रूस और कैथोलिक चर्च के मुख्य देश फ्रांस को मिल गया था। लेकिन दोनों के बीच एक अंतर था। रूस के पादरियों के पास चर्च के प्रधान द्वार की चाभी रहती थी और कैथोलिक पादरियों के पास बगल के दरवाजे की। यही प्रबंध चला आ रहा था

और इसे सम्मान का प्रश्न नहीं बनाया गया था।

जब नेपोलियन तृतीय फ्रांस का राष्ट्रपति और फिर सम्राट बन गया तो उसे अपना प्रभाव जताने की आवश्यकता पड़ी। इसी बीच कैथोलिक पादरियों ने चर्च के प्रमुख द्वार की चाभी भी पाने की मांग की क्योंकि उनके अनुसार बगल के दरवाजे की चाभी रखने के कारण उनका महत्व कम हो जाता था। यह विवाद स्थानीय स्तर पर या थोड़े अंतर्राष्ट्रीय दबाव से तय हो जाता। लेकिन नेपोलियन ने इस समस्या में भी मौका देखा। उसने एक साथ कैथोलिक जनमत को खुश करने और अंतर्राष्ट्रीय प्रभाव बढ़ाने के लिए कैथोलिक पादरियों का पक्ष लिया।

अब मामला अंतर्राष्ट्रीय हो गया था। रूस के तुर्की स्थित राजदूत मेनशिकाफ ने फ्रांसीसी मांग का विरोध किया। लेकिन इंग्लैंड के राजदूत रेडक्लिफ ने इसका समर्थन कर दिया। समस्या और पेचीदा हो गई। अब तुर्की के लिए मुश्किल था कि किसको खुश और किसको नाराज रखे। इंग्लैंड के समर्थन के कारण वह फ्रांसीसी मांग की अवहेलना नहीं कर सकता था। इसी समय रूस ने एक और मांग की। उसे तुर्की स्थित आर्थोडाक्स चर्च के अनुयाइयों की देखरेख करने वाला ही नहीं संरक्षक भी मान लिया जाए। ऐसा मान लेने से राज्य के अंदर एक और राज्य जैसी स्थिति पैदा हो सकती थी। इसलिए रूसी प्रस्ताव ठुकरा दिया गया। बात बढ़ गई थी। रूसी राजदूत नाराजगी में रूस वापस चला गया और युद्ध की तैयारी शुरू हो गई। इस तरह बात का बतंगड़ बन गया और एक ऐसा युद्ध शुरू हुआ जिसका कोई भी समझ में आने वाला कारण नहीं था।

रूसी सेना द्वारा कालासागर के पश्चिमी तट पर हमला कर देने से इंग्लैंड और फ्रांस ने भी हस्तक्षेप करने का निर्णय किया और दोनों देशों की सेनाएं कालासागर की ओर चल पड़ीं। हालांकि युद्ध रोकने के लिए वियेना में एक सम्मेलन भी हुआ जिसका कोई परिणाम नहीं निकला। अंत में युद्ध अनिवार्य हो गया। रूसी नौसेना ने तुर्क नौसेना को बुरी तरह परास्त कर नष्ट कर दिया। तब तक इंग्लैंड और फ्रांस की नौसेनाएं कालासागर में पहुंच चुकी थीं। तुर्क भी बहादुरी से लड़ रहे थे। आस्ट्रिया के हस्तक्षेप की संभावना बनी हुई थी। ऐसी स्थिति में रूस ने अपनी सेनाएं और अधिक उत्तर की ओर हटा लीं तथा उसकी नौसेना भी सेबस्टोपोल के नौसैनिक गढ़ में वापस बुला ली गई। अब युद्ध समाप्त हो सकता था, लेकिन नेपोलियन का उद्देश्य अभी पूरा नहीं हुआ था। उसे तो एक विजय की आवश्यकता थी और वह भी रूस के खिलाफ। क्योंकि इससे नेपोलियन प्रथम की रूसी अभियान के समय हुई पराजय का प्रतिशोध लिया जा सकता था। इंग्लैंड का हित भी रूस को कमजोर बनाने में ही था। इसलिए रूसी नौसेना को नष्ट कर देने का फैसला किया गया।

कालासागर के उत्तर में क्रीमिया के दलदल से भरे प्रायद्वीप में अंगरेज सेनापति रैगलन और फ्रांसीसी जनरल सैंतारनो के नेतृत्व में सेनाएं रूसी सेना से आल्मा नामक स्थान पर पराजित हुईं। तत्काल सेबास्टोपोल पर हमला होता तो युद्ध का फैसला हो सकता था, लेकिन फ्रांसीसी सेनापति की दूसरी योजना के कारण रूसियों ने तैयारी पूरी कर ली और उनका गढ़ मजबूत हो गया। अब लड़ाई का भयंकर दौर शुरू हुआ।

सेवास्टोपोल के चारों ओर घेरा डाले सैनिक लड़ते रहे। दिन बीतते गए लेकिन रूसियों ने हार नहीं मानी। सैनिकों की स्थिति दयनीय थी। ठंडक और बीमारी की हालत में उनको पूरी रसद भी नहीं मिल पा रही थी। इंग्लैंड की राजनीति में हुए परिवर्तन से, स्थिति में सुधार आया। यह परिवर्तन मुख्यतः पामर्सटन को प्रधानमंत्री बनाए जाने से हुआ था। समाचारपत्रों में, विशेषकर 'दि टाइम्स' में क्रीमिया की अमानवीय स्थितियों का वर्णन पढ़कर ब्रिटिश जनता के रोंगटे खड़े हो जाते थे। पामर्सन के सक्रिय नेतृत्व में आक्रमण का नया दौर शुरू हुआ और 1855 में रूसियों को सेबास्टोपोल से हट जाना पड़ा। रूसी गढ़ को नष्ट भ्रष्ट कर दिया गया।

इसी समय जार निकोल्स की मृत्यु हो गई। उसका उत्तराधिकारी अलेक्जेंडर द्वितीय कुछ समय चाहता था। दूसरा पक्ष भी थक चुका था और उनका भी लक्ष्य पूरा हो चुका था---विशेषकर नेपोलियन का। इसलिए समझौता वार्ता शुरू हुई और अंत में पेरिस में सम्मेलन हुआ।

क्रीमिया के युद्ध के प्रत्यक्ष परिणामों से भी महत्वपूर्ण परिणाम परोक्ष रूप से यह हुआ कि कैवूर की दूरदर्शिता से, इटली के एकीकरण की पृष्ठभूमि बनी। इसी युद्ध ने अंगरेजी साहित्य को एक अमर कविता 'चार्ज आफ दि लाइट ब्रिगेड' दी, जो युद्ध में जूझते अंगरेज सैनिकों की जीवंत तस्वीर प्रस्तुत करती है। इसी युद्ध में फ्लोरेंस नाइटिंगेल की सेवाओं ने सारी दुनिया में एक आदर्श प्रस्तुत किया कि आहत व्यक्ति किसी का दुश्मन नहीं होता। इसी आदर्श से बाद में 'रेडक्रास' संस्था का जन्म हुआ।

1856 को पेरिस में एक संधि हुई। एक बार फिर नेपोलियन को सम्मान मिला लेकिन संधि में अंतर्राष्ट्रीय संबंधों की चर्चा थी, चर्च की चाभियों की नहीं। विजित भूमि वापस कर दी गई। रूस ने सेवास्टोपोल को फिर से गढ़ न बनाने का वादा किया। दारदानेल में किसी भी देश के युद्धपोत के जाने की मनाही कर दी गई परंतु हर देश के व्यावसायिक जहाजों को जाने का समान अधिकार दिया गया। कालासागर में रूस तथा तुर्की दोनों को नौसेना न रखने को कहा गया। डैन्यूब नदी व्यापार के लिए खोल दी गई। मोल्डेविया और वैलेशिया पर तुर्की का प्रभुत्व नाममात्र का रह गया। इनकी ओर सर्बिया की वास्तविक स्वतंत्रता की गारंटी पेरिस में एकत्र हुए राज्यों ने दी। मोल्डेविया का थोड़ा सीमा विस्तार हुआ क्योंकि उसे रूस से बेसारेबिया प्रांत का एक हिस्सा प्राप्त हो गया। तुर्की को भी संतुष्ट करने के लिए उसके मामलों में हस्तक्षेप न करने के वादे के साथ यूरोपीय परिवार में शामिल कर लिया गया। अब यह यूरोप के सम्मेलनों में हिस्सा ले सकता था। यह परंपरा सदा जीवित रही है। यूरोप से तुर्की का साम्राज्य समाप्त हो जाने तथा तुर्की के एशियाई देश होने के बावजूद तुर्की की यूरोपीय व्यवस्था का अंग समझा जाता रहा है। मुस्तफा कमाल पाशा के पश्चिमीकरण और तुर्की को पश्चिमी देशों के सैनिक संघ नाटो में सम्मिलित किए जाने से इसी परंपरा का निर्वाह हुआ है। मूल प्रश्न के बारे में बस इतना ही निर्णय हुआ कि रूस तुर्की के आर्थोडाक्स ईसाइयों के संरक्षण का दावा छोड़ दे।

इस संधि में पूर्वी समस्या का कोई स्थायी हल नहीं ढूंढ़ा गया। रूस की महत्वाकांक्षाओं पर पूरी तरह नियंत्रण न लग सका। वह कमजोर भी नहीं हुआ। केवल तुर्की के पतन को रोका गया। मृतप्राय: बीमार को दवा देकर जिलाने का प्रयास किया गया। वाल्कन प्रायद्वीप की मूल समस्या राष्ट्रवाद के विकास को भी पूरी तरह नहीं समझा गया। तुर्की के मामलों में हस्तक्षेप न करने का वादा करके उन ईसाइयों को हताश कर दिया गया जो तुर्क अत्याचारों के बढ़ने पर ईसाई देशों से मदद की आशा रखते थे। इस प्रकार पूर्वी समस्या का हल करने के स्थान पर पेरिस में लीपापोती की गई और मूल समस्या को कुछ वर्षों के लिए टाल दिया गया। संघर्षों के पुराने कारण मौजूद रहे और दो दशकों के बाद ही युद्ध की पुनरावृत्ति हुई।

पेरिस में एक अच्छी शुरुआत अवश्य हुई। अंतर्राष्ट्रीय कानून को सैद्धांतिक रूप से ग्रोशियस की पुस्तक 'युद्ध और शांति के कानून' के बाद से सत्रहवीं शताब्दी में ही स्वीकारा जाता था लेकिन उनपर अमल शायद ही कभी होता रहा हो। क्योंकि अंतर्राष्ट्रीय कानून के लागू होने के लिए राष्ट्रों के बीच सहमति जरूरी है। पेरिस में इस दिशा में एक समझौता हुआ। समुद्री क्षेत्रों पर इंग्लैंड की प्रभुता निर्विवाद थी। फ्रांस के विरुद्ध युद्धों में उसने नियम बना लिया था कि दुश्मन देश का सामान यदि तटस्थ देश के जहाजों में जा रहा है तब भी उस पर अधिकार कर लिया जाएगा। अब यह तरीका छोड़ दिया गया और नियम यह बना कि तटस्थ देशों के जहाजों पर न तो आक्रमण होगा, न वे रोके जाएंगे और न ही कोई देश किसी देश के व्यापार को क्षति पहुंचाने का किसी तरह प्रयत्न करेगा—चाहे प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से।

पेरिस की संधि के बाद बीस वर्षों तक दक्षिण पूर्वी यूरोप युद्ध की चपेट से बचा रहा। हर देश अपनी समस्याओं में उलझा हुआ था। इस दौरान इस क्षेत्र की सबसे महत्वपूर्ण घटना थी बाल्कन में बढ़ता हुआ राष्ट्रीय संकल्प। इसकी पहली अभिव्यक्ति मोल्डेविया और वेलेशिया में हुई। 1858 में ही इन दो प्रदेशों ने आपस में विलय की मांग की थी, लेकिन इसे स्वीकार नहीं किया गया था। जब सीधे आज्ञा नहीं मिली तो दोनों प्रदेशों ने बड़ी कुशलता से एक ही जैसे संविधान बना लिए और एक ही व्यक्ति को अपना राजा मान लिया। दोनों के वास्तविक एकीकरण के लिए यह कदम पर्याप्त था। 1862 में दोनों प्रदेशों की व्यवस्थापिका सभाओं का विलय हो गया और उन्होंने अपना संयुक्त नाम रूमानिया रख लिया। चार वर्षों के बाद आस्ट्रिया के राजपरिवार से संबद्ध चार्ल्स को रूमानिया का शासक बना दिया गया। कोई देश इस मामले में हस्तक्षेप नहीं कर सका और बाल्कन प्रायद्वीप में यूनान और सर्विया के बाद रूमानिया के रूप में एक नए स्वतंत्र देश ने जन्म ले लिया।

सेदां के युद्ध में नेपोलियन की पराजय और फ्रांस की दुर्गति के बाद रूस ने फिर सिर उठाया। रूस के जार अलेक्जेंडर तृतीय ने यह तय किया कि चूंकि अब पेरिस संधि पर हस्ताक्षर करने वाली एक सरकार का अंत हो गया है अत: उस संधि का कोई महत्व नहीं रहा। फ्रांस संकट में फंसा हुआ था। वहां सरकार का स्वरूप ही निश्चित नहीं हो

पाया था। इसलिए उसके विरोध का प्रश्न ही नहीं था। अब या तो इंग्लैंड रूस को संधि न तोड़ने के लिए अकेले ही मजबूर करता या फिर चुप हो जाता। इंग्लैंड अकेले उलझने की स्थिति में नहीं था। इसलिए उसने समय का इंतजार करना मुनासिब समझा। अनुकूल स्थिति देखकर रूस ने फिर कालासागर में नौसैनिक निर्माण शुरू कर दिया।

बाल्कन में राष्ट्रीय जागरण बढ़ रहा था और चेतना बढ़ने के साथ तुर्की का अत्याचारी शासन असह्य होता जा रहा था। छिटपुट वारदातें होती रहती थीं। 1875 में हर्जेगोविना प्रांत में तुर्क शासन के प्रति क्षोभ के कारण कर वसूल करने आए अमीनों के साथ संघर्ष में कई तुर्क कर्मचारी मार डाले गए। यह तो बस शुरुआत थी। धीरे धीरे सारे प्रायद्वीप में ऐसी घटनाओं की बाढ़ आ गई और अराजकता सी फैल गई। आस्ट्रिया के चांसलर ऐंड्रासी ने रूस और जर्मनी से परामर्श किया और तुर्की के सुल्तान के सामने एक प्रपत्र प्रस्तुत किया। उसने बाल्कन में कई सुधारों की अनिवार्यता बताई। सुल्तान ने प्रस्ताव मान लिए क्योंकि उनके लागू होने की कोई गारंटी ही नहीं थी। लेकिन राष्ट्रवादियों ने इस तरह के सुधारों के वादों के भुलावे में पड़ने से इंकार कर दिया। तब बर्लिन में एक और प्रपत्र तैयार हुआ जिसमें पहले तीन देशों के अतिरिक्त फ्रांस और इटली ने भी सहमति प्रकट की। बिस्मार्क तुर्की द्वारा सुधारों की गारंटी की बात बर्लिन प्रपत्र में शामिल करने पर सहमत हो गया। इस प्रपत्र पर इंग्लैंड ने अपनी सहमति नहीं दी। अब तुर्की आश्वस्त हो गया कि हस्तक्षेप हुआ तो इंग्लैंड की सहायता अवश्य मिलेगी। इसी भरोसे उसने सुधारों की गारंटी देने से इंकार कर दिया। कानून उसके हक में था क्योंकि यह उसके साम्राज्य का आंतरिक मामला था और दूसरे देशों को इतनी रुचि लेने की कोई जरूरत भी नहीं थी। पहले की संधि में यह भी स्वीकार किया गया था कि तुर्की के आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं किया जाएगा।

इसी समय स्थिति और बिगड़ी। बल्गेरिया में विद्रोह हुआ। इस बार तुर्कों ने कहर ढा दिया। नियमित सेना के अतिरिक्त पेशेवर बदमाशों का इस्तेमाल किया गया और भयानक ढंग से लोग मारे जाने लगे। संचार साधनों का प्रसार हो चुका था। अब बातें छिपाई नहीं जा सकती थीं। सारे यूरोप को पता चल गया कि तुर्क बाल्कन में साम्राज्यवाद का निर्मम और नंगा नाच नाच रहे हैं। लेकिन हस्तक्षेप कौन करे? इंग्लैंड का प्रधानमंत्री डिजरायली घोर प्रतिक्रियावादी था। वह तुर्की के विरुद्ध कुछ नहीं करना चाहता था। लेकिन विरोधी दल का नेता ओजस्वी ग्लैडस्टन अपनी मानवतावादी नीतियों के लिए प्रसिद्ध था। उसने इस समय हर तरफ भाषण देकर डिजरायली का विरोध किया था। वह पार्लमेंट में सरकार की निष्क्रियता की निंदा करता और सारे देश को बाल्कन के अत्याचारों के विरुद्ध जागरूक करता रहा। उसने तुर्की को यूरोप से सारे सामान के साथ बाहर फेंक देने की जोरदार वकालत की। सरकार पर इसका विशेष असर भले न हुआ हो, परंतु जनता की सहानुभूति पूरी तरह से बाल्कनवासियों की ओर हो गई और वह भी इस विषय में कुछ करने की मांग करने लगी।

बर्लिन कांग्रेस : 1876 में सुल्तान अब्दुल अजीज को हटा कर मुराद सुल्तान बन बैठा, लेकिन कुछ हफ्तों के बाद ही उसका तख्ता पलट दिया गया और अब्दुल हमीद

सुल्तान हो गया। इस हलचल से यह स्पष्ट होता है कि तुर्क साम्राज्य की आंतरिक स्थिति डांवाडोल थी। मौका देखकर सर्बिया और मोंटेनेग्रो ने तुर्की के विरुद्ध युद्ध छेड़ दिया। परंतु तुर्की की ताकत इतनी नहीं कम हो गई थी कि छोटे छोटे राज्य उसे दबा ले जाएं। यद्यपि तुर्की के विरुद्ध रूसी स्वयंसेवक भी लड़ रहे थे, और यह इस बात का सबूत था कि रूस युद्ध का परोक्ष रूप से समर्थन कर रहा था, तथापि तुर्की की ही विजय हुई। अब जार ने घोषणा कर दी कि बाल्कन में स्थिति संभालने के लिए यूरोपीय शक्तियों के लिए पहल करना जरूरी है। उसने अपनी यह इच्छा व्यक्त की कि बड़े देश मिल-जुलकर कुछ करें, और यदि उन्होंने कुछ नहीं किया तो रूस अकेले ही हस्तक्षेप करेगा। इस घोषणा का इतना परिणाम अवश्य निकला कि तुर्की की राजधानी में ही बड़े देशों का सम्मेलन हुआ जहां बाल्कन के लिए सुधारों का नया कार्यक्रम बनाया गया। सुल्तान ने विजय के नशे में इसे मानने से इंकार कर दिया। जब जार ने अपनी ओर से तुर्की पर हमला कर दिया। अन्य देश देखते रह गए और रूसी सेना तोदलेबेन के कुशल नेतृत्व में तुर्की में घुसती चली गई। तुर्की के साहसपूर्ण प्रतिरोध के बावजूद प्लेवना के युद्ध में रूसी जीत गए और वे एड्रियानोपुल तक पहुंच गए। रूसी सेना का और आगे बढ़ना रोकने के लिए सुल्तान समझौता करने के लिए तैयार हो गया।

सानस्टेफानो की संधि में सर्बिया, रूमानिया और मोंटेनेग्रो के स्वतंत्र राज्यों को पूरी मान्यता दे दी गई और तुर्की से नाममात्र के संबंध भी समाप्त हो गए। रूमानिया बेसारेबिया का प्रांत रूस को लौटा दिया। इस संधि की सबसे ऐतिहासिक शर्त थी नए राज्य बल्गेरिया का निर्माण जिस पर तुर्की की प्रभुता नाममात्र की रहती। इस संधि से तुर्की के यूरोप पर आधिपत्य का अंत भी निश्चित था।

इंग्लैंड को यह संधि किसी तरह स्वीकार्य नहीं थी। अन्य बड़ी शक्तियां भी इन शर्तों में अपने प्रभाव का अंत देख रही थीं। सानस्टेफानो पूर्णतया रूसी जीत को स्वीकार करती थी। रूस का प्रभाव और सम्मान असाधारण रूप से बढ़ रहा था। इसलिए पश्चिमी देशों का विरोध स्वाभाविक था। यूरोप की राजधानियों में गतिविधियों में तेजी आ गई। परस्पर विचारों का आदान प्रदान हुआ और तुर्की के साथ किसी संधि को अंतिम रूप देने के लिए यूरोप की बड़ी शक्तियों की सहमति आवश्यक बताई गई। रूस को पश्चिमी देशों पर विश्वास नहीं रह गया था। लेकिन जब उस समय के सबसे प्रसिद्ध और प्रतिष्ठित नेता बिस्मार्क ने कहा कि वह 'ईमानदार मध्यस्थ' (आनेस्ट ब्रोकर) बनने के लिए तैयार है तो रूस भी सहमत हो गया। परस्पर बातचीत में अधिकांश मुद्दों पर सहमति होने लगी। समझौते को औपचारिक स्वरूप देने के लिए बर्लिन में बड़े देशों की एक सभा (कांग्रेस आफ बर्लिन) बुलाई गई।

1878 में हुई बर्लिन कांग्रेस बिस्मार्क की कूटनीतिक जीत थी। इस संधि से बल्गेरिया का आकार छोटा कर दिया गया क्योंकि बल्गेरिया रूसी प्रभाव में था और वह जितना ही बड़ा होता उतना ही रूस को लाभ था। इसीलिए इतिहासकार गूच का मत है कि बर्लिन कांग्रेस का मुख्य काम बृहत्तर बल्गेरिया का विनाश था। एक तरफ रूसी प्रभाव कम करके दूसरी ओर यूरोप से समाप्त हो रहे तुर्की को नए सिरे से जीवित कर

दिया गया और मैसेडोनिया पर तुर्की का सीधा प्रमुत्व मान लिया गया। पूर्वी रूमानिया पर सुल्तान के आधीन एक ईसाई गवर्नर नियुक्त कर दिया गया। सार्विया और मोंटेनेग्रो की सीमा बढ़ाकर उनकी और रूमानिया की स्वतंत्रता बरकरार रखी गई, लेकिन बोस्निया और हर्जेगोविना आस्ट्रिया को शासन के लिए सौंप दिया गया। ईमानदार दलाल बिस्मार्क ने प्रत्यक्षतः कोई लाभ नहीं उठाया।

वास्तव में सबसे अधिक लाभ बिस्मार्क और जर्मनी को ही हुआ था। उसके चांसलर बिस्मार्क को सारे यूरोप में निर्णायक भूमिका सौंपी गई थी और पहली बार एक अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन लंदन या पेरिस में न होकर बर्लिन में हो रहा था। नवोदित जर्मनी के लिए ऐसा सम्मान और ऐसा प्रभाव बहुत महत्वपूर्ण था।

ब्रिटिश प्रतिनिधि प्रधानमंत्री डिजरायली ने बर्लिन से लौटकर कहा वह बर्लिन से सम्मानजनक शांति का प्रस्ताव लेकर लौटे हैं। यह सच था कि रूस से युद्ध टल गया और बातचीत से समाधान निकल आया था। साथ ही तुर्की का यूरोप से पूर्ण निष्कासन भी थम गया था। उसमें फिर एक बार प्राण फूंक दिया गया। इनाम में साइप्रस का द्वीप भी हाथ लगा था। इंग्लैंड को बिना गोली चलाए बिना एक भी पैसा खर्च किए यह सब मिल गया था। डिजरायली इस पर गर्व कर सकता था। रूस का प्रभाव कम हुआ और तुर्क साम्राज्य से लाखों ईसाइयों को मुक्ति मिली।

लेकिन 'बर्लिन कांग्रेस' का एक और भी पक्ष था। अभी भी लाखों ईसाई तुर्क साम्राज्य में अरक्षित थे। बल्गेरिया से रूमेलिया का प्रदेश छीना जाना उपयुक्त नहीं था क्योंकि उसे अलग नहीं रखा जा सकता था। बोस्निआ और हर्जेगोविना आस्ट्रिया को सौंपने का कोई औचित्य नहीं था। रूस का प्रभाव इधर बढ़ने से रोका गया तो यह प्रभाव एशिया में बढ़ने लगा और इंग्लैंड के लिए अब और बड़ा खतरा उत्पन्न हो गया। रूस का भय भारतीय सरकार को आक्रांत करने लगा।

कुछ लोगों का मत है कि बर्लिन कांग्रेस एक पूर्व नियोजित सुखांत नाटक था (द कांग्रेस आफ बर्लिन वाज ए प्री अरेंज्ड कामेडी)। यह एक भ्रामक मत है। ऐसा पश्चिमी देशों, विशेष रूप से इंग्लैंड को भले ही लगा हो वास्तव में रूस और बाल्कन राष्ट्रों के लिए उस समय भी त्रासद था। ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में तो वह पूरी तरह 'ट्रेजेडी' सिद्ध हुआ।

यहां हमें यह भी सोचना चाहिए कि कम से कम इंग्लैंड अनुकूल संधि की अपेक्षा नहीं कर सकता था। हालांकि 'पूर्वी समस्या' का बर्लिन में स्थाई हल नहीं ढूंढ़ा गया परंतु कुछ समस्याएं अवश्य सुलझ गईं। सच तो यह है कि बिस्मार्क की षड्यंत्रकारी कूटनीति, जिसके सहारे वह जर्मनी को निरापद रखना चाहता था, बर्लिन में पूरी तरह सफल हुई। रूस को 'तीन सम्राटों के संघ' में शामिल करने के बावजूद उसे छला गया था। रूस और आस्ट्रिया की बाल्कन में प्रतिस्पर्धा पुरानी थी। इन दोनों में बिस्मार्क ने आस्ट्रिया को निकटतम और अधिक उपयोगी समझा था। लेकिन प्रत्यक्षरूप से बोस्निआ और हर्जेगोविना का लाभ देकर उसे भी बाल्कन में बुरी तरह उलझा दिया गया था। असलियत यह थी कि बिस्मार्क की सारी ईमानदारी जर्मनी के प्रति थी। उसके हित के

लिए वह किसी से भी बेईमानी कर सकता था और किया भी। बर्लिन कांग्रेस बिस्मार्कीय व्यवस्था का पूर्वाभास प्रस्तुत करती है। लेकिन उस समय उसका सही अर्थ नहीं समझा गया।

बर्लिन कांग्रेस के बाद चार दशकों में अंतर्राष्ट्रीय शतरंज पर मोहरे बिछाए जाते रहे। पूर्वी समस्या का स्थान गौण होता गया। इस बीच एक नया तत्व अवश्य उभर रहा था। बाल्कन प्रायद्वीप में बड़ी शक्तियों की प्रतिस्पर्धा के साथ अब नवोदित राष्ट्रों का आपसी संघर्ष भी बढ़ने लगा। 1881 में थेस्साली का प्रांत यूनान को दिया गया। रूमानिया के शासक ने कैरोल प्रथम के नाम से पूर्ण स्वतंत्रता की घोषणा कर दी। 1885 में बाल्कन राज्यों के परस्पर संघर्ष का पहला विस्फोट हुआ : सर्बिआ ने बल्गेरिया पर एक विफल आक्रमण किया। इससे तनाव तेजी से बढ़ने लगा। 1894 से तुर्की साम्राज्य के एक दूसरे क्षेत्र अरमीनिआ में अत्याचार होने के समाचार मिलने लगे। अरमीनिआ एशिया में था और वहां की जनता न कैथोलिक थी और न आर्थेडाक्स। ऐसे में ईसाई देश उसमें क्यों दिलचस्पी लेते? यूरोप के बाहर तो मानवतावादी भी जुल्म करते थे और किसी को बोलने नहीं देते थे। इंग्लैंड ने भी अरमीनिआ में रुचि लेने में कोई लाभ नहीं देखा। रूस ने विशेष दिलचस्पी नहीं दिखाई। केवल कुछ विरोध प्रकट किया गया और तुर्की ने सुधारों का वादा कर सबको खामोश कर लिया। अत्याचार यथावत होता रहा।

1896 में क्रीट में विद्रोह हुआ। यूनान की नजर क्रीट पर थी। वह क्रीट को तुर्की से मुक्त करा कर स्वयं हड़पना चाहता था। यूनान ने क्रीट की मदद की। बड़ी शक्तियों ने तुर्की पर दबाव डालकर उसे स्वतंत्रता दिलवा दी। तुर्क संप्रभुता नाममात्र को ही बची रही। यूनान और तुर्की में संघर्ष छिड़ गया। फिर बड़ी शक्तियों के हस्तक्षेप से शांति हुई। यूनान को थेस्साली का एक भाग तुर्की को लौटाना पड़ा। क्रीट बाह्य प्रभाव समाप्त हो गया और वह पूरी तरह स्वतंत्र हो गया।

कुछ ही दिनों बाद तुर्की में भी अनपेक्षित परिवर्तन होने शुरू हो गए। 1908 में स्वेच्छाचारिता के विरुद्ध 'युवा तुर्क' आंदोलन को सफलता मिली। तुर्की में सुल्तान को इतिहास में पहली बार एक पार्लेमेंट की स्थापना के लिए सहमति देनी पड़ी। क्रांतिकारियों को सेना का भी समर्थन प्राप्त था। पश्चिमी यूरोप के देशों को चिंता हुई कि प्रजातांत्रिक तुर्की शक्तिशाली हो जाएगा और वह अपने खोए प्रदेशों की मांग कर देगा। घबड़ाकर आस्ट्रिया ने बर्लिन कांग्रेस में प्राप्त बोस्निआ और हर्जेगोविना का उसी कांग्रेस के अनुबंधी अवहेलना करके पूर्ण विलय कर लिया। सर्बिआ ने इसका विरोध किया। उसे रूस का समर्थन प्राप्त था। जर्मनी के सम्राट विलियम द्वितीय ने, जो आक्रामक विदेश नीति के लिए तैयार था, घोषित किया : 'यदि रूस सर्बिआ की मदद करेगा तो जर्मनी आस्ट्रिया की मदद करेगा।' धमकी ने काम किया और तनाव समाप्त तो नहीं हुआ, परंतु दब गया।

बाल्कन युद्ध : युवा तुर्क आंदोलन के बाद तुर्की का सुल्तान हटा दिया गया और 1909 में मुहम्मद पंचम नया सुल्तान बना। मेसीडोनिआ पर, जहां सभी राष्ट्रीयताओं

के लोग रहते थे, बाल्कन राज्यों की नजर थी। तुर्की के विरुद्ध बाल्कन के राज्यों ने आपसी झगड़े भुला दिए और 1912 में 'बाल्कन संघ' संगठित कर लिया। अपनी संयुक्त शक्ति और तुर्की की कमजोरी देखकर मैसीडोनिआ को आपस में बांटने की नीयत से उन्होंने तुर्की के विरुद्ध युद्ध छेड़ दिया। बाल्कन के प्रथम युद्ध में दो तरफ से हमला हुआ। उत्तर से बल्गेरिया और दक्षिण से यूनान और सर्बिआ ने। तुर्क बुरी तरह हार रहे थे। कुछ दिनों तक यह स्थिति रहने के बाद युद्ध फिर शुरू हुआ और तुर्क प्रदेश हड़पा जाने लगा। इंग्लैंड के प्रयास से 1913 में लंदन में एक सम्मेलन हुआ और यूरोप से तुर्क साम्राज्य प्रायः समाप्त हो गया।

अब लूट के बंटवारे के प्रश्न पर आपस में झगड़ा शुरू हो गया। मैसीडोनिआ के विभाजन का क्या आधार हो यह तय नहीं हो पा रहा था। वैमनस्य बढ़ता जा रहा था। लंदन संधि के तीन महीने के अंदर ही बाल्कन का दूसरा युद्ध शुरू हो गया। इस बार बाल्कन के राष्ट्र आपस में ही जूझने लगे। अंत में बुखारेस्ट की संधि के बाद निर्णय हुआ कि सर्बिआ को उत्तरी तथा मध्य मैसीडोनिआ मिलेगा और दक्षिणी हिस्सा सैलोनिका के बंदरगाह सहित यूनान को। बल्गेरिआ को पूर्वी हिस्सा और थ्रेस का एक भाग दिया गया। इस झगड़े में तुर्की को एड्रिआनोपुल, जिस पर बल्गेरिया ने कब्जा कर लिया था, वापस मिल गया।

इन युद्धों से सर्बिआ की ताकत और सम्मान में वृद्धि हुई। आस्ट्रिया के साम्राज्य में भी बहुत से स्लाव लोग रहते थे। उसे डर हुआ कि सर्बिआ ने स्लाव जाति को संगठित करने का प्रयास किया तो आस्ट्रिया में भी विद्रोह होंगे। इसलिए वहां सर्बिया के प्रति विद्वेष बढ़ने लगा। आस्ट्रिया जर्मनी और इटली के साथ हुई संधि के नाते अपने को सुरक्षित समझता था। इसलिए उसने आक्रामक रवैया अपनाया।

तनावपूर्ण स्थिति में, जबकि सारा यूरोप दो गुटों में बंटा हुआ था, जर्मन गुट अधिक आक्रामक होता जा रहा था। 1914 में आस्ट्रिया अधिकृत बोस्निआ के एक नगर सारोजेवो में आस्ट्रिया के राज कुमार फर्डिनेंड की हत्या कर दी गई। इसके लिए सर्बिया को जिम्मेदार ठहरा कर उसपर आस्ट्रिया ने आक्रमण कर दिया। रूस मदद के लिए तैयार था और धीरे धीरे सभी राज्य उलझते चले गए। बाल्कन में शुरू हुआ युद्ध विश्वयुद्ध बन गया। प्रथम महायुद्ध में पूर्वी समस्या के मुख्य आधार जलकर खाक हो गए। रूस, तुर्की, आस्ट्रिया और जर्मनी के साम्राज्य समाप्त हो गए और वेर्साई की संधि में बाल्कन के राष्ट्रों को स्वतंत्र राज्य की सत्ता मिल गई। इस तरह सौ वर्षों बाद पूर्वी समस्या का समाधान हो पाया।

बिस्मार्क कहता था : 'मैं जानता हूं कि अगला युद्ध बाल्कन में शुरू होगा।' लेकिन यह आग लगाकर जमालो की तरह दूर खड़ा रहने की ही नहीं आग लगाने वालों की मदद की भी नीति थी। परिणाम यह हुआ कि पूर्वी समस्या से प्रत्यक्ष रूप से संबद्ध न होते हुए भी उसे मूल्य चुकाना पड़ा। पूर्वी समस्या, जिसे इतिहासकार मैरियट एक जटिल और विस्फोटक समस्या मानता है, वास्तव में साम्राज्यवाद और राष्ट्रवाद के टकराव और राष्ट्रों की आकांक्षा के विजय का ज्वलंत उदाहरण है।

8

राष्ट्रीय एकीकरण

भावनाओं और विवेक के बीच शक्ति परीक्षा होने पर भावनाओं की प्रायः जीत होती रही है, क्योंकि भावनाओं में एक सहजता, उद्रेक और प्रवाह होता है जो वशीभूत करने की शक्ति रखता है, जबकि विवेक को अनुभव और अध्ययन से प्राप्त करना पड़ता है। राष्ट्रीयता ऐसी ही एक भावना है जो एक क्षेत्र विशेष के लोगों को इससे सहज और संपृक्त ढंग से जोड़ती है। यद्यपि मनुष्य की भावनाओं का सबसे उदात्त रूप उसका मानव प्रेम है परंतु व्यावहारिक जीवन में मनुष्य राष्ट्र से आगे प्रायः नहीं बढ़ पाता और व्यक्तिगत हित, धर्म, या सिद्धांत की उपेक्षा करके भी राष्ट्र के नाम पर जुड़ता है और सही गलत कार्य करता है। जन्मभूमि के प्रति प्रेम, जिसका इतिहास हजारों साल पुराना है, धीरे धीरे सोलहवीं शताब्दी तक राष्ट्रप्रेम में बदल गया और जन्मभूमि उस पूरे क्षेत्र को कहा जाने लगा, जहां भाषा, अतीत और सांस्कृतिक मूल्य प्रायः अभिन्न हों। पुनर्जागरण के बाद यूरोप में जब राष्ट्रीय राजतंत्र की प्रतिष्ठा हुई और राष्ट्रीय भाषा तथा साहित्य का विकास हुआ तो राष्ट्र और देश पर्यायवाची बनने लगे। फ्रांस, इंग्लैंड और स्पेन जैसे देशों ने इस क्षेत्र में पहल की। फ्रांस की राज्यक्रांति ने राष्ट्रवाद को न केवल सफल बल्कि गरिमामय भी बनाया। नेपोलियन ने इसके सहारे शक्ति अर्जित की और सारे यूरोप में विजय दुंदुभी बजाई। लेकिन जो फ्रांस के लिए सच था वह अन्यों के लिए भी तो सच था। धीरे धीरे यूरोप के अन्य क्षेत्रों में भी राष्ट्रीय चेतना सबल होने लगी और नेपोलियन के विरुद्ध अन्य राष्ट्रों ने संघर्ष छेड़ कर उसका पतन अनिवार्य बना दिया। जिन क्षेत्रों में राष्ट्रीय चेतना का उस काल में प्रसार हुआ उनमें इटली और जर्मनी प्रमुख थे। इस अध्याय में हम उस विकासक्रम का अध्ययन करेंगे जिसके कारण एकीकरण संपन्न हुआ।

इटली का एकीकरण

मेटरनिख इटली को 'एक भौगोलिक अभिव्यक्ति' कहा करता था और यह सत्य भी था कि उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में इटलीनाम का कोई देश नहीं था। यह भी सही है कि इस समय इटली भारत की तरह भौगोलिक दृष्टि से भी सुपरिभाषित इकाई था। उत्तर में आल्प्स पर्वत और तीन तरफ से सागरों से घिरे यूरोप के मध्य दक्षिण में स्थित यह प्रायद्वीप पूर्णतः सुरक्षित था। इतना ही नहीं, यहां सांस्कृतिक एकता भी मौजूद थी जो इटली को एक जीवंत नाम बनाए रखती थी, भले ही यूरोप में राजनीतिक दृष्टि से

इटली का कोई विशेष अस्तित्व न रहा हो।

इटली को जोड़ने वाले तत्व बहुतेरे थे। सबसे पहले तो इटली का समृद्ध और गरिमा-मय प्राचीन इतिहास था। रोमन साम्राज्य में इटली ही नहीं सारे दक्षिण पश्चिम यूरोप पर रोमन राजनीति और सभ्यता सदियों तक हावी रही। इटली के लोगों का वास्तव में वह गौरवकाल था और उसकी याद इटली में हमेशा आत्मविश्वास भरती थी। इसके अलावा सारे पश्चिमी यूरोप के साहित्य और धर्म की भाषा 'लातिन' इटली की भाषा थी। भाषागत एकता का इतिहास भी काफी पुराना था। भाषा के बाद यदि किसी नाम पर लोग जुड़ते हैं तो वह धर्म है। इटली में धर्म के स्तर पर भी एकता थी। जब से यूरोप में कैथोलिक धर्म आया और पोप का निवास रोम बना तबसे सारा इटली कट्टर रूप से कैथोलिक धर्म का अनुयायी हो गया था।

इस प्रकार इटली में हर तरह से एक सुसंगठित इकाई के तत्व मौजूद थे। इटली हजारों साल से विघटित था। अनेक छोटे बड़े राज्यों में विभक्त यह क्षेत्र केवल आपसी प्रतिस्पर्धा ही नहीं बल्कि पड़ोसी बड़े देशों—स्पेन, फ्रांस और आस्ट्रिया के संघर्ष का भी शिकार था। अठारहवीं शताब्दी के इटली की राजनीतिक स्थिति की तुलना सहज ही बारहवीं शताब्दी के भारत से की जा सकती है। इसी विघटन के बीच से संगठन और एकीकरण के बीज प्रस्फुटित हुए। कभी आंतरिक प्रयासों तथा कभी बाह्य परिस्थितियों के प्रत्यक्ष और परोक्ष परिणामों के कारण इटली संगठन की ओर बढ़ता गया।

इटली के एकीकरण में नेपोलियन की भूमिका

नेपोलियन की विजययात्रा में सबसे पहले इटली ही रौंदा गया, लेकिन इटली का ही सबसे पहले क्रांति की उपलब्धियों से परिचय भी हुआ। नेपोलियन ने पहले इटली में गणतंत्र की स्थापना की और सम्राट बनने के बाद अनेकों छोटे बड़े राज्यों को समाप्त कर उन्हें केवल तीन भागों में बांट दिया। एक हिस्से पर सीधे फ्रांस का शासन था और इटली के तथा नेपल्स के राज्य पर नेपोलियन के प्रतिनिधि और रिश्तेदार राज्य करते थे। इस प्रकार वास्तव में सारे इटली पर एक ही प्रकार के नियम-कानून लागू थे। हजारों साल बाद इटली में बाहर से थोपी गई व्यवस्था ने उसी तरह परोक्ष रूप से एकता की पृष्ठ-भूमि तैयार की थी जैसे ब्रिटिश साम्राज्य ने भारत में यद्यपि वह व्यवस्था नेपोलियन के पतन के बाद भंग हो गई, पर इसका परोक्ष प्रभाव इटली के एकीकरण में कारगर सिद्ध हुआ।

एकीकरण के मार्ग में बाधाएं : वियेना कांग्रेस में पुरातन व्यवस्था की हिमायत से इटली के देशभक्तों की आशाओं पर पानी फिर गया। इटली फिर छोटे छोटे सामंती राज्यों में विभक्त हो गया। वियेना कांग्रेस के बाद इटली में सिसिली, तुस्कनी, पोप की रियासत, लक्का, पारमा, मादेना तथा सवाय और पीडमांट-सार्डीनिया के राज्य थे। लोम्बार्डी और वेनेशिया पर आस्ट्रिया का प्रभुत्व था। राजनीतिक रूप से विघटित इटली सामाजिक रूप से भी टूट गया था। अधिकांश राज्यों में सामंती और निरंकुश

शासन था जिसमें कुछ कुलीनों के ही प्रभाव में थे। भ्रष्ट चर्च शोषण का भागीदार था और प्रतिक्रियावादी शक्तियां सन्नद्ध थीं कि कहीं कोई परिवर्तन की बात करे तो उसका गला घोंट दिया जाए।

इस समय एकीकरण के मार्ग में सबसे बड़ा व्यवधान यह था कि इटली की जनता अशिक्षित और पिछड़ी हुई थी। उसे एकीकरण से कुछ लेना-देना नहीं था। उसकी मूल समस्या रोजी-रोटी की थी। प्रबुद्ध लोग और मध्यमवर्ग के लोग, जो एकीकरण में देश का और अपना लाभ देख रहे थे, बिना जनता का साथ लिए कुछ कर नहीं सकते थे। विभिन्न राज्यों का शासन वर्ग एकीकरण का विरोधी था ही, क्योंकि उसकी अपनी स्वतंत्र सत्ता समाप्त हो जाती। आस्ट्रिया के कब्जे में इटली का एक हिस्सा था और कहीं भी वह किसी परिवर्तन को अपने हक में नहीं समझता था। यथास्थिति का सबसे बड़ा पहरेदार और रक्षक मेटरनिख बराबर इटली पर आंख रखता था, क्योंकि इटली में हुए परिवर्तन की लहर निश्चित ही आस्ट्रिया भी पहुंचती। स्वयं पोप एकीकरण का विरोधी था क्योंकि इटली के शासक के रूप में सारे इटली की राजनीतिक सत्ता सिमट जाती और पोप का प्रतिद्वंद्वी पैदा हो जाता। उसने धार्मिक सत्ता का भय बनाए रखना था। इस नाते यूरोप के अन्य कैथोलिक देश भी पोप के समर्थक और इटली में परिवर्तन के विरुद्ध थे। मेटरनिख के नेतृत्व में इन सभी शासकों ने हर तरह की स्वतंत्रता और अभिव्यक्ति पर प्रतिबंध लगा रखा था। लेकिन धीरे धीरे परिवर्तन हो रहा था।

एकीकरण का विकास क्रम : फ्रांस की क्रांति तथा अपने अतीत की गरिमा से प्रेरित और क्रांति के प्रति भावुक होकर समर्पित लोगों ने एक गुप्त संगठन कारबोनारी बना लिया था। नेपल्स में शुरू हुई यह संस्था धीरे धीरे इटली में फैलती जा रही थी। इस संस्था की विशेषता यह थी कि इसमें हर तरह और हर वर्ग के लोग शामिल थे। इसका संगठन बहुत दृढ़ नहीं था लेकिन इनकी क्रांतिकारी भावना परिवर्तन की मांग को जीवित रखे हुए थी। इन्हें कोई ठोस सफलता भले ही न मिली, लेकिन इन लोगों ने शासकों की नींद अवश्य हराम कर रखी थी। 1820 में जब नेपल्स में विद्रोह हुआ तो मेटरनिख ने चतुर्मुख संघ की आड़ लेकर भारी अत्याचार किया और सारे यूरोप के क्रांतिकारियों को सबक सिखाना चाहा कि अब क्रांति के दिन लद गए। क्रांति दब तो गई लेकिन यह भी ज्ञात हुआ कि अभी इसके लिए बहुत तैयारी और संगठन की जरूरत है।

स्थानीय विद्रोह का सिलसिला चलता ही रहा। फ्रांस में 1830 की क्रांति होते ही इटली में एक बार फिर विद्रोह शुरू हुआ। पोप की रियासतों में उग्र प्रदर्शन हुए। पारमा और मादेना के राज्यों से उसके शासक निकाल दिए गए। विद्रोहियों को आशा थी कि लूई फिलिप उनकी मदद करेगा, लेकिन फिलिप इतना उदार नहीं था। उसे अपनी ही गद्दी प्यारी थी। लूई के लिए ऐसे मौके पर आस्ट्रिया और मेटरनिख से पुरानी दुश्मनी पुनः मोल लेना घातक सिद्ध होता। नतीजा यह हुआ कि मेटरनिख ने एक बार फिर विद्रोह का कठोरता से दमन कर दिया और यह स्पष्ट हो गया कि बिना व्यापक संगठन और योजना के केवल स्थानीय स्तर पर विद्रोह करने से इटली में नए युग का सूत्रपात असंभव है। अंत में वह स्थिति भी पैदा हुई जो वास्तव में एकता के लिए जरूरी थी।

मात्सिनी : राष्ट्रीय एकीकरण के लिए राष्ट्रीय चेतना और भावात्मक जुड़ाव के साथ ही व्यापक स्तर पर एक ललक और संघर्ष की मानसिकता आवश्यक होती है। अभी तक इटली में इसका अभाव था। इसकी पूर्ति मात्सिनी ने की। उसका कवि हृदय मुक्ति की आकांक्षा से ओत-प्रोत था और उसने अपनी कविताओं को स्वतंत्रता और राष्ट्रीयता के आदर्शों का वाहक बनाया। उसने इटली निवासियों की आत्मा में जुझारू आदर्श भर दिया और इसीलिए उसे 'इटली की आत्मा' कहते हैं।

मात्सिनी की रचनाओं को खतरनाक समझकर उसे देश-निकाला की सजा दी गई। उसे विदेशों में ही भटकना पड़ा। उसका ज्यादातर समय लंदन में बीता जहां सारे यूरोप के क्रांतिकारी बुद्धिजीवी भागकर शरण पाए हुए थे। वहां उसकी भेंट मार्क्स से हुई थी लेकिन वह मार्क्स से अलग किसी दर्शन में विश्वास रखता था। उसका विश्वास था कि इटली के एकीकरण के मार्ग में सबसे बड़ा अवरोध विदेशी आधिपत्य और हस्तक्षेप है। आस्ट्रिया के इटली से निकलते ही स्थानीय शासकों का मनोबल टूट जाएगा और विदेशी हस्तक्षेप के अभाव में इटली के देशभक्त अपना उद्देश्य पूरा कर सकेंगे। यह काम इटली-वासियों को स्वयं अपने साहस और संगठन के बल पर करना पड़ेगा। विदेशों से मदद की उम्मीद में वे कभी अपनी तैयारी पूरी नहीं कर पाएंगे। इसी उद्देश्य के लिए इटली में गणतंत्र की स्थापना का लक्ष्य बनाकर एक संस्था 'युवा इटली' की नींव डाली गई। इंग्लैंड और फ्रांस में भटकता मात्सिनी बराबर लिखता रहा। तथा लेनिन की तरह विदेशों से अपने देशवासियों को संबोधित और प्रेरित करता रहा। युवा इटली भी एक गुप्त संस्था थी क्योंकि किसी भी संस्था को खुलकर काम नहीं करने दिया जाता था लेकिन वह कारबोनारी की तरह अस्पष्ट विचारों वाली संस्था नहीं थी। 'यंग इटली' के पास इटली के भविष्य की कल्पना थी और उसे प्राप्त करने के लिए सुनिश्चित कार्यक्रम था 'यंग इटली' की प्रेरणाप्रद भूमिका का प्रमाण इसी से मिलता है कि सारी दुनिया में राष्ट्रीय परिवर्तन के लिए इस तरह की संस्थाएं शुरू हुईं—भारत में 'यंग बंगाल', तुर्की में 'यंग टर्की' आदि।

बाद में एकीकरण का आंदोलन काफी विस्तृत और विविध हो गया। वह मात्सिनी की योजनाओं, तरीकों और लक्ष्यों से भटकता गया, लेकिन इटली में एक राष्ट्रीय चेतना और संघर्ष की मानसिकता लाने में मात्सिनी पूरी तरह सफल हुआ। सबने उसका योग-दान स्वीकार किया और यह सच है कि बिना उसके वह पृष्ठभूमि नहीं बन पाती जिसमें व्यावहारिक कदमों की सफलता संभव थी।

मात्सिनी के अलावा और भी साहित्यकार इसी दिशा में कार्यरत थे। यद्यपि उनके विचार भिन्न भिन्न थे, लेकिन सभी इटली को मुक्त और संगठित देखना चाहते थे। नेओगैल्फ दल का नेता जिओबर्ती एक पादरी था। उसने अपनी पुस्तक 'इटली की नैतिक और नागरिक श्रेष्ठता' में इटली के राज्यों के संघ की वकालत की थी। वह चाहता था कि आस्ट्रिया को इटली से निकालने के बाद पोप की अध्यक्षता में इटालियन राज्यों का एक संघ बने। इस प्रकार कुछ कठिनाइयां दूर हो जातीं और अंतर्राष्ट्रीय सहयोग भी

शायद मिल जाता। लेकिन समस्या यह थी कि नेतृत्व ऐसे राज्य को दिया जा रहा था जो इटली का सबसे भ्रष्ट राज्य था। पोप की अपनी रियासत जब इस कदर भ्रष्ट और कुशासित थी तो पूरे इटली का क्या होता। इसीलिए जिओवर्ती की बात का अधिक प्रचार नहीं हो पाया। कुछ ऐसे भी लेखक थे जिनका विचार था कि सारे राज्यों का सार्डीनिआ में विलय हो जाए तो एक शक्तिशाली और संगठित राजतंत्र के रूप में इटली का प्रादुर्भाव निश्चित है। यह विचार भी सबको स्वीकार्य नहीं था और शुरू में इसे अधिक महत्व नहीं दिया गया। लेकिन एक ही दशक में इटली का आंदोलन इसी मार्ग पर अग्रसर हो गया और इसी पर चलकर एकीकरण संपन्न भी हुआ।

इटली में 1848 की क्रांति के पहले ही एक क्रांतिकारी परिवर्तन शुरू हो गया था। पिअस नवम के पोप चुने जाने के बाद ही एक नई हवा बहने लगी। पिअस एक उदार व्यक्ति था। बहुत दिनों बाद एक ऐसा व्यक्ति पोप हुआ था जो अपने चरित्र और स्वभाव से लोगों को नेतृत्व प्रदान कर सकता था। उसे इटली में परिवर्तन चाहने वालों से सहानुभूति थी। उसने स्वयं ही पहल की। उसकी रियासत में राजनीतिक बंदी छोड़ दिए गए और प्रशासन में कई तरह के सुधार किए गए। मेटरनिख की आंखें खुली रह गईं। उसने कहा : 'एक उदार पोप ? यह असंभव है।' लेकिन पिअस की नीति वास्तविकता थी। उसके इस कदम का अन्य राज्यों में भी अनुसरण हुआ। उत्साह की एक लहर दौड़ने लगी। पीडमांट में सैंसर समाप्त कर दिया गया और एक उदार संविधान लागू किया गया। नेपल्स में भी यही नीति अपनाई गई।

1848 की क्रांति के साथ सारा इटली धधक उठा। देशभक्तों ने इसे निर्णायक घड़ी मानकर अंतिम और निर्णायक संघर्ष शुरू करना चाहा। लोम्बार्डी में मिलान नगर के निवासियों ने आस्ट्रिया द्वारा तंबाकू पर लगाए गए कर के विरोध में सिगरेट पीनी छोड़ दी। जो भी सिगरेट पीता दिखाई पड़ता उस पर प्रहार कर दिया जाता। एक प्रकार से 'तंबाकू दंगे' शुरू हुए। लेकिन यह स्वत: स्फूर्त आंदोलन आसानी से दबा दिया गया। वेनेशिया में एक बार फिर गणतंत्र की स्थापना कर दी गई। तुस्कनी, नेपल्स, पीडमांट और पोप की रियासतों से लोम्बार्डी में सहायता भेजी जाने लगी। जहां निरंकुशता का अंत हो चुका था वहां के लोग औरों की सहायता के लिए एक होने लगे। मेटरनिख भाग चुका था। उसके पतन के बाद आस्ट्रिया स्वयं संकट में था। सारे इटली में पहली बार आंदोलनों का स्वरूप राष्ट्रीय हो चुका था। लगता था सफलता अवश्य मिलेगी, लेकिन अभी देर थी।

बूढ़े आस्ट्रियाई फील्ड मार्शल राडेस्की ने पासा पलट दिया। उसने अन्य स्थानों से सेनाएं लाकर इटली में लगा दीं और इटली के राज्यों में फूट पड़ने का इंतजार करने लगा। थोड़े ही दिनों में उसकी कल्पना सही साबित हुई। लोम्बार्डी से अन्य राज्यों ने सेनाएं वापस बुला लीं। केवल पीडमांट की सेना वहां बची और उसे पराजित करना मुश्किल नहीं था। उत्तरी इटली पर एक बार फिर आस्ट्रिया का प्रभुत्व स्थापित हो गया। एक बार फिर क्रांतिकारी स्थितियों पर काबू पा लिया गया और इटली ही नहीं सारे यूरोप में प्रतिक्रियावाद विजयी हो गया।

पोप ने घटनाओं का रुख देखा तो घबरा गया। उसने अपने सुधार वापस ले लिए। वह किसी भी तरह कैथोलिक आस्ट्रिया से युद्ध के लिए तैयार नहीं था। कुछ रोमन लोगों ने खून खराबी शुरू कर दिया। पोप भाग खड़ा हुआ और रोम में एक बार फिर गणतंत्र की स्थापना हो गई जिसके तीन शासकों में मात्सिनी भी रखा गया। तुस्कनी में भी गणतंत्र की घोषणा हो गई, लेकिन आस्ट्रियाई सेना ने उन्हें उखाड़ फेंका। आस्ट्रिया की इटली पर पकड़ पहले से भी अधिक मजबूत हो गई। एक बार फिर इटली में निराशा की लहर दौड़ गई। फ्रांस के राष्ट्रपति लूई नेपोलियन ने अपने देश की कैथोलिक जनता की तुष्टि के लिए पोप और उसकी रियासत के रक्षार्थ एक सेना रोम भेज दी। इटली ऊपर से शांत हो गया, लेकिन ऐसा था नहीं।

कावूर : पीडमांट का राज्य इटली में एक अपवाद था। सारे इटली में क्रांति और प्रतिक्रांति के दौर आते जाते रहते थे। लेकिन पीडमांट के शासक चार्ल्स अलबर्ट ने सुधारों का क्रम बंद नहीं किया था और आस्ट्रिया से समझौते के लिए भी राजी नहीं हुआ था। आस्ट्रिया की सेनाओं से कई बार परास्त होने के बाद उसने पदत्याग कर दिया और उसका लड़का विक्टर इमैनुएल गद्दी पर बैठा। उसमें अपने पिता से कम उत्साह नहीं था। सारे इटली की आंख इस युवक और उत्साही इमैनुएल पर लगी थी, लेकिन वास्तव में इटली का उद्धारक कोई और था।

1852 में जब काउंटर कावूर को पीडमांट का प्रधानमंत्री बनाया गया तो इटली का नेतृत्व एक व्यावहारिक और दूरदर्शी राजनेता के हाथों में आया। शुरू में एक सैनिक इंजीनियर और स्वच्छंद एकतंत्र का विरोधी कावूर अपने समय का सबसे योग्य प्रशासक और नेता सिद्ध हुआ। उसने पहले रिसार्जिमेंतो नामक समाचारपत्र के माध्यम से संवैधानिक एकतंत्र का प्रचार किया था। अब उसने इटली के एकीकरण की एक सुनिश्चित रूपरेखा तैयार की और उसके अनुसार सुनियोजित ढंग से काम करने लगा। उसने तय कर लिया था कि इटली का एकीकरण पीडमांट के शासक के नेतृत्व में ही होगा। इसीलिए सबसे पहले पीडमांट को एक शक्तिशाली राष्ट्र बनाना जरूरी था। अपने बचपन से ही वह जिज्ञासु व्यक्ति था। उसने यूरोप और इटली में कई बार यात्राएं की थीं और पश्चिमी समाज को वह समझता था। विशेष रूप से इंग्लैंड और फ्रांस की संस्थाओं से वह बहुत प्रभावित था। प्रधानमंत्री होते ही उसे अपने विचार क्रियान्वित करने का मौका मिला।

जिस समय उसके हाथ में शासन आया उस समय पीडमांट कर्ज से लदा हुआ था और अर्थतंत्र लड़खड़ा रहा था। कावूर ने किफायत करने के बदले पूंजी लगा कर आर्थिक विकास की नीति अपनाई। राज्य में भारी पैमाने पर रेल बिछाई जाने लगी। सड़कों, पुलों और अन्य जनहित के निर्माण कार्य तेजी से शुरू किए गए। कृषि और उद्योग को राजकीय संरक्षण तथा सहायता दी गई। आवश्यक धन के लिए धर्म विहारों को समाप्त कर दिया गया। दूसरे देशों से व्यावसायिक संधियां की गईं। धीरे धीरे राज्य में समृद्धि के लक्षण उभरने लगे। न केवल घाटे का बजट संतुलित हो गया बल्कि बचत भी होने लगी। अब कावूर ने सेना का पुनर्संगठन [illegible] नामक कुशल

सेनापति की मदद से शुरू किया ताकि आर्थिक शक्ति सैनिक शक्ति में परिवर्तित हो जाए। उसने इटली में हर तरह के लोगों से सहयोग प्राप्त किया। समान लक्ष्य तथा विविध विचारों के लोग, भावनाप्रधान तथा गणतंत्रवादी कवि मात्सिनी, उत्साही सैनिक और क्रांतिकारी गैरीवाल्डी और कुशल राजनेता कावूर मिलकर इटली के एकीकरण के लिए सचेष्ट हो गए।

आंतरिक तैयारी पूरी करने के वाद कावूर ने पैंतरा वदला। पूर्वी समस्या उलझ जाने के कारण काला सागर के तट पर 'क्रीमिया का युद्ध' चल रहा था। नेपोलियन के पतन के वाद पहली वार अंतर्राष्ट्रीय युद्ध शुरू हुआ था, जिसमें रूस, आस्ट्रिया, तुर्की, फ्रांस और इंग्लैंड जैसे शक्तिशाली देशों का हित फंसा हुआ था। दूरदर्शी कावूर ने यहां एक अवसर देखा। रूस के विरुद्ध पड़ती हुई इंग्लैंड तथा फ्रांस की सेनाओं की मदद के लिए कावूर ने अपने सैनिक भेज दिए। यद्यपि युद्ध निर्णायक सिद्ध नहीं हुआ पर कावूर के सैनिकों ने अपनी योग्यता की छाप अवश्य डाल दी। युद्ध के वाद पेरिस में सम्मेलन बुलाया गया। इसमें कावूर को भी निमंत्रण मिला। कावूर को यह एक महत्वपूर्ण औपचारिक मान्यता थी। कावूर को पेरिस में इटली की समस्या प्रस्तुत करने का अवसर दिया गया। आस्ट्रिया के क्षोभ और विरोध के वावजूद इटली के एकीकरण और इटली से आस्ट्रिया के निष्कासन का प्रवक्ता कावूर पेरिस में आशातीत सम्मान पा रहा था। उसने नेपोलियन तृतीय की भी इस समस्या में दिलचस्पी पैदा कर दी। पेरिस में कोई फैसला नहीं हुआ और इटली का एकीकरण अव यूरोप की समस्या वन गई, क्योंकि सभी शक्तियों का ध्यान इस ओर आकर्षित हो गया था। आस्ट्रिया से प्रतिद्वंद्विता रखने वाले राज्यों ने सहानुभूति दिखानी शुरू कर दी। इस तरह एक प्रखर कूटनीतिक चाल से कावूर ने अपने लक्ष्य की ओर एक निर्णायक कदम रख दिया। इसीलिए कहा जाता है कि इटली का जन्म क्रीमिया के कीचड़ में हुआ था।

कावूर ने अव पूरी तरह नेपोलियन तृतीय का सहयोग प्राप्त करना शुरू कर दिया। वह कहता था: 'हम चाहें या न चाहें, हमारा भाग्य फ्रांस पर निर्भर करता है।' उसे नेपोलियन की मानसिकता का पता था। दूसरी ओर नेपोलियन को भी इटली में दिलचस्पी थी। युवावस्था में उसका कारवोनारी से भी निकट का संपर्क था। जो कुछ भी हो, वह राष्ट्रीयता के सिद्धांत को एक कारगर उपकरण मानता था और एक जाति, भाषा और धर्म के लोग एक राज्य में रहें इसमें उसकी सहानुभूति और नीति दोनों ही शामिल थीं। वह यह भी जानता था कि उसके चाचा नेपोलियन ने आस्ट्रिया पर विजय से ही अपनी महिमा की पृष्ठभूमि तैयार की थी। वह यह भी जानता था कि फ्रांसीसी जनता गरिमा की भूखी है और यदि उसे विजय मिलती है तथा फ्रांस की सीमाओं का थोड़ा भी विस्तार हो पाता है तो उसकी स्थिति मजवूत हो जाएगी। उसने गणतंत्र का गला घोंटकर दूसरी वार साम्राज्य की स्थापना की थी, परंतु साम्राज्य के लिए पहले जैसी शान-शौकत और सम्मान की जरूरत थी। इसीलिए उसने कावूर के आस्ट्रिया विरोध का समर्थन किया। इसी वीच एक इटालियन काउंट ने उस पर हमला किया जिससे संदेह था कि वह इटली से क्षुब्ध न हो जाए, पर इटली में उसकी रुचि बनी ही रही।

स्थिति अनुकूल देखकर कावूर ने चुपके से नेपोलियन से प्लम्बिए नामक स्थान पर भेंट की और दोनों में गुप्त समझौता हो गया। कोई औपचारिक संधि तो नहीं हुई लेकिन नेपोलियन आस्ट्रिया के विरुद्ध पीडमांट की मदद करने को तैयार हो गया, बशर्ते कि आस्ट्रिया को आक्रामक करार दिया जा सके। समझौते के अनुसार आस्ट्रिया के निष्कासन के बाद लोम्बार्डी वेनेशिआ और पोप के राज्य का कुछ हिस्सा पीडमांट में मिलाकर इटली का राज्य बनाने की बात तय हुई। मध्य इटली में पोप और तुस्कनी का मिला-जुला एक राज्य बनाना निश्चित हुआ। रोम पोप के कब्जे में ही रहता। पोप शायद अपने नुकसान के लिए तैयार नहीं होता इसलिए इटली के राज्यों का एक संघ बनाकर पोप को उसका अध्यक्ष बनाने का निर्णय हुआ। नेपोलियन को मदद के बदले कावूर ने फ्रांस को नीस और सवाय के प्रदेश देने का वादा किया। इस प्रकार व्यावसायिक ढंग से समझौते की शर्तें तय हुईं लेकिन दोनों में से किसी को विश्वास नहीं था कि यह स्थाई व्यवस्था होगी। नेपोलियन बाद में पूरे इटली पर आस्ट्रिया की जगह फ्रांस का प्रभाव स्थापित करने की नीति अपना सकता था। कावूर जानता था कि फ्रांस को निमंत्रण देना खतरनाक साबित हो सकता है, पर उसके पास यह जोखिम उठाने के अलावा फिलहाल कोई और चारा भी नहीं था।

अब कावूर के सामने यह समस्या थी कि युद्ध कैसे शुरू किया जाए जिससे परिणाम अपने पक्ष में तो रहे ही आस्ट्रिया ही आक्रमक प्रतीत हो। ऐसे में भड़काने वाली नीति अपनाना ही एकमात्र तरीका था। कावूर ने सीमाओं पर अपनी सेना खड़ी करना शुरू किया। छोटी मोटी वारदातें होने लगीं। सीधे शब्दों में कह सकते हैं कि आस्ट्रिया को चिढ़ाया जाने लगा। आस्ट्रिया ने स्थिति बिगड़ती देख अन्य देशों का ध्यान आकर्षित किया। इंग्लैंड ने मध्यस्थता का प्रस्ताव किया। यदि यह प्रस्ताव मानने में शीघ्रता की जाती तो कावूर भी उसे स्वीकार करने को मजबूर हो जाता और उसकी योजना अधूरी रह जाती। लेकिन आस्ट्रिया ने देर कर दी और पीडमांट को चेतावनी दे दी कि वह अपनी सेनाओं को हटाकर निरस्त्र कर दे। कावूर की मुराद पूरी हुई। उसने चेतावनी की अवहेलना की और आस्ट्रिया ने युद्ध की घोषणा कर दी। अब सब कुछ कावूर की योजनाओं के अनुकूल होने लगा।

1859 के युद्ध में पीडमांट को सफलता मिलने लगी। मजेन्ता की जीत के बाद इटली की रियासतों में जनविद्रोह शुरू हो गए और वहां के शासकों में भगदड़ मच गई। साल्फेरिनो की विजय के बाद लोम्बार्डी पर कब्जा हो गया और वेनेशिआ का भी पतन निकट आने लगा। तभी एक अप्रत्याशित घटना घटी। नेपोलियन ढुलमुल नीति का व्यक्ति था। उसकी आस्ट्रिया के सम्राट से वियाफ्रांका में भेंट हुई और उसने वादे और कार्यक्रम छोड़कर आस्ट्रिया से ज्यूरिख की संधि कर ली। उसने अपने स्वभाव के अनुरूप ही अपनी नीति के परिणामों की पूरी तरह परीक्षा नहीं की थी। उसने देखा कि उसकी नीति से पोप की अध्यक्षता में संघ बनने के स्थान पर शक्तिशाली राज्य बन जाएगा, जो फ्रांस का प्रतिद्वंद्वी बन सकता है। पोप की सत्ता कमजोर होने के कारण कैथोलिक लोगों में उसकी लोकप्रियता घट सकती थी। उसको यह भी भय था कि वह

इटली में व्यस्त रहे और कोई दूसरा हमला न कर दे। इसलिए बिना पीडमांट की राय लिए ही उसने आस्ट्रिया से संधि कर ली। विश्वासघात करने में भी उसने कोई संकोच नहीं किया। इस संधि के अनुसार वह युद्ध से अलग हो गया। लोम्बार्डी का पीडमांट में विलय मान लिया गया। लेकिन वेनेशिआ पर आस्ट्रिया का ही कब्जा माना गया। मध्य इटली के शासकों को वापस जाने का अधिकार दे दिया गया। लेकिन जैसा कि इतिहासकार हर्नशा का मत है अब इटली का भाग्य धीरे धीरे जनता के हाथों में चला गया था।

कावूर के हाथ के तोते उड़ गए। अब वह क्या करे। उसकी सारी योजनाएं ध्वस्त हो गई थीं। उसने अकेले लड़ाई जारी रखना चाहा पर जब इमैनुएल तैयार नहीं हुआ तो कावूर ने इस्तीफा दे दिया। स्थिति संभलने पर उसे फिर वापस बुला लिया गया।

नेपोलियन ने नीस और सवाय लेने के लिए दबाव नहीं डाला क्योंकि समझौता पूरा नहीं हुआ था। दूसरी ओर लोम्बार्डी पर पीडमांट का कब्जा हो ही गया था। मध्य इटली के राज्यों में जनता इतनी उग्र हो चुकी थी कि वह अपने सामंती शासकों को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं थी और उन शासकों में इतनी हिम्मत तथा शक्ति नहीं थी कि वे स्वयं लौट सकें। इन रियासतों में क्रांति परिषदें स्थापित हो गई थीं और वे पीडमांट में विलय के लिए आतुर थीं। आस्ट्रिया का हस्तक्षेप ही अब स्थिति को बदल सकता था। लेकिन अब नेपोलियन आस्ट्रिया के प्रभाव के पुनर्स्थापन के लिए तैयार नहीं था। इंग्लैंड ने प्रस्ताव किया कि इन रियासतों को अपने भाग्य का स्वयं निर्णय करने दिया जाए। नेपोलियन फिर तैयार हो गया था कि यदि फ्रांस को नीस और सवाय मिल जाते हैं तो इन रियासतों को पीडमांट में मिलने पर उसे कोई एतराज नहीं होगा।

अब एक नया प्रयोग शुरू हुआ। 1860 में लोकनिर्णय के लिए मतदान हुआ। मध्य इटली के राज्यों ने प्रायः सर्वसम्मति से पीडमांट में और नीस तथा सवाय ने फ्रांस में विलय स्वीकार कर लिया। इटली के हाथ से नीस और सवाय निकल जाने की कटु आलोचना हुई। इटली के लोग भूल गए कि सांस्कृतिक रूप में ये प्रांत फ्रांस के अधिक करीब थे और इनके निकल जाने से इटली की एकरूपता बनी रहती तथा उसका कोई विशेष नुकसान भी नहीं था। फिर भी गैरीबाल्डी ने कावूर की आलोचना करते हुए कहा, 'तुमने मुझे अपनी ही मातृभूमि में परदेशी बना दिया है।'

गैरीबाल्डी : इटली अधिकांशतः संगठित हो चुका था लेकिन बहुत कुछ अभी बाकी था। नेपल्स, सिसली और पोप की रियासत का एक हिस्सा अब भी अलग था। वेनेशिआ पर आस्ट्रिया का कब्जा था। इस अधूरे काम को पूरा करने का श्रेय उत्कट देशभक्त गैरीबाल्डी को मिला। गैरीबाल्डी ने सारी दुनिया के राष्ट्रवादियों को अपनी देशभक्ति से प्रेरित किया है। वह नीस में पैदा हुआ था इसलिए जब कावूर ने नीस फ्रांस को दे दिया तो उसे दुख हुआ था। बचपन से ही वह इटली के हित के प्रति समर्पित था और उसे मुक्त करने के लिए तरह तरह के आंदोलनों में सम्मिलित हुआ था। बचपन से ही उसने समुद्र छान मारे थे और समुद्री डाकुओं से भी लोहा लिया था। उसने कितनी ही

बार जोखिम उठाकर विद्रोह किया था और एक बार तो पकड़े जाने पर उसे मौत की सजा सुना दी गई थी। कैद से भागकर वह इधर उधर भटकता रहा। लेकिन वह जहां भी रहा, हर कहीं उसने अपने नेतृत्व की छाप छोड़ी थी। वह बारह वर्षों तक अमेरिका में रहा और लातिनी अमेरिकी लोगों के स्वतंत्रता संग्राम में हिस्सा लेता रहा। 1848 में आस्ट्रिया के विरुद्ध वह बड़ी बहादुरी से लड़ा। रोम में फ्रांसीसी सेना से लड़ते हुए उसने अपनी पत्नी तक गंवा दी थी। किसी तरह वहां से बचकर वह फिर अमेरिका गया और न्यूयार्क से धन कमाकर जब वह इटली लौटा तो उसने एक छोटा सा टापू खरीद कर कुछ दिनों शांति से रहने की योजना बनाई। लेकिन इटली के बिना मुक्त हुए उसे शांति कहां से मिलती। 1856 में वह मात्सिनी के प्रभाव से मुक्त होकर कावूर का पक्षधर हो गया। एक ही भेंट में कावूर ने उसे अपना अनुयाई बना लिया था। मतभेदों के बावजूद उसने कावूर का साथ दिया। क्योंकि इसी में उसने इटली की भलाई समझी। उसे बहादुर, अदम्य साहसी और सूझबूझ वाला व्यक्ति समझा जाता था। उसका नेतृत्व लोग सहज ही स्वीकार कर लेते थे।

नेपोलियन से हुई संधि जब असफल हो गई तो कावूर ने कहा था, 'मुझे उत्तरी छोर से कूटनीति की सहायता से इटली का निर्माण नहीं करने दिया गया है। अब मैं दक्षिण से क्रांति की सहायता से करूंगा।' सिसली में जब विद्रोह हुआ तो यह अवसर आ पहुंचा। गैरीवाल्डी ने 1150 विश्वस्त और सरफरोश अनुयाइयों की छोटी टुकड़ी संगठित कर ली थी जो 'द थाउजेंड' के नाम से विख्यात थी। उसने जब सिसली के टापू में विद्रोह की बात सुनी तो अपने इन्हीं सहयोगियों के साथ वह जेनोआ से सिसली के लिए चल पड़ा। समुद्र से जूझते हुए वे जब सिसली पहुंचे तो कोई भी इन्हें बलि का बकरा कह सकता था। एक राज्य की सत्ता से टकराने के लिए उत्साह ही काफी नहीं होता। फिर भी अपने अदम्य उत्साह, कौशल और राजा से असंतुष्ट जनता के अपूर्व सहयोग के कारण गैरीवाल्डी को सफलता मिली। जब मैसीना के किले के अलावा सारे सिसली पर उसका कब्जा हो गया तो जिसने भी सुना स्तब्ध रह गया। उसने तुरंत अपने को इमैनुएल का प्रतिनिधि घोषित कर सिसली का पीडमांट में विलय कर दिया। यहां इस बात पर ध्यान देना चाहिए कि नेपोलियन तृतीय ने इंग्लैंड के साथ मिलकर गैरीवाल्डी का मार्ग अवरुद्ध करना चाहा था लेकिन इंग्लैंड ने इटली के साथ सहानुभूति दिखाई और गैरीवाल्डी का अभियान सफल हो गया। थोड़ी तैयारी और संगठन के बाद उसने नेपल्स पर हमला किया। पहले से उसकी स्थिति बेहतर थी क्योंकि अपार जन समूह का उसे समर्थन प्राप्त था और सफलता ने उसकी सेना का हौसला बढ़ा रखा था। लेकिन विरोध में एक लाख की सेना खड़ी थी जिसमें असंतुष्ट सैनिक भी थे। असंतुष्ट सेना हमेशा नुकसान पहुंचाती है। ये असंतुष्ट सैनिक गैरीवाल्डी के साथ मिलने लगे और जब युद्ध हुआ तो अपनी संख्या के बावजूद नेपल्स की सेना टिक नहीं सकी। राजा भाग चला और विजयी गैरीवाल्डी ने नेपल्स में नायक की तरह प्रवेश किया।

कावूर अपना काम एक दूसरे देशभक्त इटैलियन के हाथों पूरा होते देख संतुष्ट था लेकिन जब गैरीवाल्डी ने रोम पर हमले की योजना बनाई तो वह चौकन्ना हो गया।

रोम में नेपोलियन तृतीय की सेना पोप की रक्षा के लिए मौजूद थी। कावूर को भय था कि कहीं नेपोलियन हस्तक्षेप न कर दे। वैसे वह यह जानता था कि रोम को छोड़कर पोप की सारी रियासत ले ली जाए तो भी नेपोलियन को एतराज न होगा। इसके अलावा उसे यह भी संदेह था कि कहीं गैरीवाल्डी के अनुयाई गणतंत्र के समर्थक न हो जाएं। इसलिए इसके पहले कि उत्साह में गैरीवाल्ड़ी कुछ कर बैठे उसने स्वयं सेना दक्षिण की ओर भेज दी। पोप की रियासत को जीतती यह सेना गैरीवाल्डी की सेना से जा मिली। मैसिना का किला भी तब तक फतह हो चुका था। विजित क्षेत्रों में हर जगह जनमत संग्रह के बाद भारी बहुमत से लोगों ने पीड़मांट में विलय का निर्णय किया।

सारे इटली में वेनेशिआ और रोम के आसपास के इलाकों को छोड़कर हर जगह एक ही सत्ता कायम हो चुकी थी। 1861 में एमैनुएल को इटली का राजा 'किंग आफ इटली' घोषित किया गया और सपना एक हद तक साकार हो गया। कुछ ही दिनों बाद कावूर की मृत्यु हो गई। वह एकीकरण संपन्न होते नहीं देख सका, लेकिन इटली उसके जीवन में यथार्थ बन चुका था। अपने जीवन के अभियान की पूर्ति का उसे संतोष अवश्य होगा। इंग्लैंड के प्रधानमंत्री पामर्सटन ने उसे भावभीनी श्रद्धांजलि अर्पित की और कहा, 'कावूर की बुद्धि, उत्साह और देशभक्ति ने असंभव को भी संभव बनाया है और हमेशा उसके जीवन से लोगों को शिक्षा मिलती रहेगी।' रोम का विलय न होने के कारण इटली का राज्य अपूर्ण लगता था और गैरीवाल्डी के धैर्य की सीमा टूट रही थी। उसने अपने मन से रोम पर हमला कर दिया। यह गलत कदम हो सकता था इसलिए इटली की सेना ने उसे रोका और गैरीवाल्डी घायल हुआ। वह पकड़ा भी गया। इटली का एकीकरण पूर्ण होने में बाह्य शक्तियों ने बहुत मदद पहुंचाई। उत्तर में जर्मनी का एकीकरण का भी प्रयास समानांतर रूप से चल रहा था। प्रशा का चांसलर बिस्मार्क भी कावूर की तरह आस्ट्रिया को जर्मनी का मुख्य दुश्मन समझता था। उसने आस्ट्रिया को परास्त करने की योजना में इटली को भी शामिल कर लिया। एमैनुएल ने दूरदर्शता दिखाई और आस्ट्रिया पर जब उत्तर से प्रशा ने हमला किया तो दक्षिण से उसकी सेना ने वेनेशिआ पर हमला कर दिया। फलतः आस्ट्रिया की सेनाएं बंट गईं और 1866 में साडोवा में आस्ट्रिया की भारी पराजय हुई। जब संधि हुई तो अन्य शर्तों के साथ यह भी शामिल किया गया कि वेनेशिआ इटली को वापस दिया जाए।

इधर नेपोलियन की स्थिति फ्रांस में बिगड़ती जा रही थी और रोम में उसकी टुकड़ी की हालत भी अच्छी नहीं थी। पहले उसकी संख्या कम हुई, स्थान बदला गया पर 1870 में जब प्रशा ने फ्रांस पर भी हमला कर दिया तो टुकड़ी वापस बुला ली गई। एमैनुएल ने फौरन रोम में प्रवेश किया। जनता खुश थी। पोप के सैनिकों ने थोड़ा विरोध किया लेकिन अंत में रोम संपूर्ण इटली की राजधानी घोषित हो गया। जनमत संग्रह में भी भारी बहुमत पोप के विरुद्ध राजा के पक्ष में रहा। एमैनुएल ने घोषित किया : 'लक्ष्य पूरा हो गया है। अब हमें अपने देश को खुशहाल और महान बनाना है।' इस तरह इटली ने अपने इतिहास के नए दौर में प्रवेश किया।

पोप अत्यंत असंतुष्ट था। उसने अपने आपको महलों में सीमित कर लिया और इस नए राज्य से कोई संबंध रखने से इंकार कर दिया। पोप कैथोलिक धर्म के केंद्र में ही निर्वासित सा रहने लगा। यह स्थिति पचासों वर्ष तक चलती रही और कोई समझौता नहीं हो सका। जब 1822 में सत्ता मुसोलिनी के हाथों आई तो अपनी फासिस्ट सत्ता को मजबूत करने के लिए उसने पोप से समझौता कर लिया और पोप के महलों को एक स्वतंत्र देश की मान्यता मिल गई। उसे मुआवजे और खर्च के लिए भारी रकम मिलने लगी। इस तरह दुनिया के सबसे छोटे और एकमात्र पुरुष राज्य, जहां एक भी महिला नागरिक नहीं है, का जन्म हुआ। कुछ छोटे छोटे प्रदेश सीमाओं पर अब भी थे जिनको इटली अपना समझता था। इसलिए आंदोलन भी चलता रहा जिसने फासिज्म के विकास को मदद पहुंचाई। लेकिन वास्तव में एकीकृत और संगठित इटली राज्य का जन्म 1870 में ही हो चुका था।

1815 में असंभव लगने वाली बात लगभग 50 वर्षों के बाद ही सच्चाई बन गई। समस्या इतनी जटिल थी कि उसे हल करने के लिए साम, दाम, दंड, भेद हर तरह की नीति आवश्यक थी। कावूर कहता था : 'इटली के लिए जो कुछ करना पड़ रहा है वही कोई व्यक्ति अपने लिए करे तो अत्यंत क्षुद्र माना जाएगा।' और यह सच है कि कावूर ने सारी जटिलता को समझकर राजनीति, कूटनीति, युद्ध और क्रांति हर तरीके का इस्तेमाल किया। जहां जरूरत पड़ी उसने जनता के समर्थन का इस्तेमाल किया और जब जरूरत हुई तो विदेशी सहायता भी ली। इस संदर्भ में यदि किसी एक व्यक्ति को ही श्रेय दिया जाना हो तो कावूर का नाम ही प्रथम होगा।

इतिहास को विभूतियों के माध्यम से समझने वाले लोग कहते हैं कि मात्सिनी इटली की आत्मा, कावूर बुद्धि और गैरीवाल्डी हाथ की तरह थे। एमैनुएल स्वयं शरीर था। यह रूपक किसी हद तक सच है। मात्सिनी ने ही इटली को एक सजीव कल्पना बनाकर प्रस्तुत किया जिसे कावूर की प्रखरता और कुशलता ने शरीर प्रदान किया। गैरीवाल्डी ने उसे बल और विस्तार दिया था। इसीलिए तीनों को श्रेय मिलता ही है। साथ ही चार्ल्स तथा उसके लड़के और इटली के राजा एमैनुएल को भी उनकी उदार और दूरदर्शी नीतियों के लिए याद किया जाता है। लेकिन वास्तविकता यह है कि इटली के एकीकरण में तात्कालिक स्थितियों का ही हाथ था। उन्नीसवीं शताब्दी बूजुर्आ वर्ग के विकास की शताब्दी रही है। इस वर्ग ने सारे यूरोप में सामंती साम्राज्यों का विरोध और उससे संघर्ष किया। उसने हर उदारवादी आंदोलन का समर्थन किया और समय आने पर नेतृत्व अपने हाथों ले लिया। औद्योगिक क्रांति, राष्ट्रवाद और मध्यवर्ग का विकास एक साथ हुआ। राष्ट्रीयता के नाम पर संगठित और शक्तिशाली देशों में आर्थिक विकास और लाभ की संभावना थी इसलिए मध्यमवर्ग ने उसे उकसाया, बढ़ाया और अपने हाथों में रखा।

राष्ट्रवादी भावना का प्रसार होने से जनसमूह भी उसमें सम्मिलित हो जाता था। उसकी शक्ति ही वास्तव में कभी कभी निर्णायक शक्ति होती थी, लेकिन उसकी चेतना बढ़ने न पाए और वह अपनी शक्ति को जानकर सत्ता के लिए संघर्ष न करने लगे इसलिए

हमेशा आंदोलनों को वहीं रोक दिया जाता रहा जहां से वे जनता के हाथों में जाने लगते हैं। इटली में भी मात्सिनी का नेतृत्व जनता को जागृत कर सकता था और वहां उदारपंथी पराजित हो सकते थे, लेकिन कावूर और अन्य उदार लोगों ने हमेशा आगे बढ़कर राजतंत्र और उदारतंत्र का झंडा गणतंत्र और समाजवाद के आगे आगे रखा और इटली का एकीकरण तथा विकास एक विशुद्ध मध्यमवर्गीय संवैधानिक तरीके से किया गया।

इटली में जनता और समाजवाद को भले ही आगे न आने दिया गया हो वहां प्रशा और जर्मनी जैसी निरंकुशता और आक्रामकता नहीं थी। पीडमांट में स्वयं उदारतावादी संविधान बनाकर और वहीं से सुधारों का क्रम शुरू करके जहां तक संभव हुआ संविधान और जनमत का सम्मान किया गया। इसलिए सारी दुनिया में इटली के नेताओं को जो सम्मान मिला वह जर्मनी के नेताओं को नहीं मिला। लेकिन दूसरी ओर यह भी सच है कि इटली के एकीकरण से केवल समाज के उच्च वर्ग को ही लाभ मिला। दक्षिणी इटली और संपूर्ण इटली के सामान्य लोगों की समस्याएं पुरानी ही बनी रहीं। नया प्रजातांत्रिक ढांचा भी उनकी स्थिति बदल नहीं सका। उसने नए नए करों के माध्यम से उनका शोषण ही किया। ऐसे ही गरीव देश में जहां प्रजातांत्रिक समस्याएं पूरी तरह असफल हो गई थीं, प्रथम महायुद्ध के बाद नए नारों और नए सपनों के साथ फासिज्म का प्रादुर्भाव हुआ और इटली दुनिया का पहला फासिस्ट राज्य बन गया। द्वितीय महायुद्ध के बाद ही इटली में वास्तविक परिवर्तन शुरू हुए हैं। सही अर्थों में एकीकरण का लाभ जनता को एक शताब्दी बाद भी पूरी तरह नहीं मिला है। जनता अब सचेत और संघर्षरत है।

जर्मनी का एकीकरण

जर्मनी का एकीकरण प्राय: उसी समय संपन्न हुआ जिस समय इटली का, इसलिए एक को समझने में दूसरे की मदद लेनी पड़ती है। दोनों में समानताओं के साथ मौलिक अंतर भी है। दोनों ही एक दूसरे से प्रभावित हुए थे। राष्ट्र की आधुनिक परिभाषाओं के अनुसार यूरोप में जर्मन राष्ट्र है जिसके पास अपनी भाषा, अपना अतीत और अपनी परंपराएं हैं। लेकिन इस पूरे प्रदेश पर कभी एक व्यक्ति का राज नहीं रहा। पहले पवित्र रोमन सम्राट शार्लमन को फ्रांसीसी और जर्मन दोनों ही अपना कहते हैं। पवित्र रोमन साम्राज्य का स्वरूप जर्मन से अधिक जर्मनेतर था इसलिए वह जर्मन भावनाओं के पक्ष में होने के बदले उनका सबसे बड़ा विरोधी बन जाता था। पुनर्जागरण के बाद जब राष्ट्रीयता की भावना पनपी तो मार्टिन लूथर का सुधारवादी विद्रोह जर्मन राज्यों के पवित्र रोमन साम्राज्य के प्रति भी विद्रोह बन गया था। जर्मन राष्ट्रीयता की जड़ें तभी से फैलने लगी थीं। लेकिन सबसे बड़ी कठिनाई यह थी कि सदियों से जर्मनी छोटे बड़े राज्यों में बंटा हुआ था और इन राज्यों के शासक वर्ग ने अपनी प्रच्छन्न प्रभुता स्थापित कर ली थी। इन सबको एक सूत्र में बांधने वाले पवित्र रोमन साम्राज्य में जर्मनेतर हितों की प्रधानता थी और सम्राट किसी भी तरह की स्वायत्तता या स्वतंत्रता

की मांगों का विरोध करता था। लेकिन तीस वर्षीय युद्ध में भारी विनाश के बाद जब वेस्टफेलिया की संधि हुई तो एक नए जर्मनी का जन्म हो रहा था। जर्मनी में आस्ट्रिया के समानांतर नेतृत्व उभरने लगा था और साहित्य में जर्मन अस्मिता मुखरित होने लगी थी।

इस दिशा में सबसे व्यावहारिक कदम तब उठा जब नेपोलियन ने संपूर्ण मध्य यूरोप को कुचलकर मनमाने ढंग से उसकी पुनर्रचना की। उसने पवित्र रोमन साम्राज्य को भंग कर दिया और इस प्रकार वह वटवृक्ष ध्वस्त हो गया जिसके नीचे कुछ पनप ही नहीं सकता था तथा उसकी छाया में पड़ने वाले राज्य अब सिर उठाने लगे। इसके साथ ही राइन नदी के आसपास के राज्यों का उसने एक संघ बना दिया। वेस्टफेलिया के नए राज्य का निर्माण किया। इस प्रकार जर्मनी में राज्यों के एक सूत्र में पिरोए जाने का क्रम शुरू हुआ। वियेना कांग्रेस ने नेपोलियन की व्यवस्था भंग कर दी लेकिन तब तक राष्ट्रीयता की भावना जड़ पकड़ चुकी थी। जर्मन क्षेत्र में नजदीक आने की तड़प बढ़ती जा रही थी।

इस भावना के पीछे आर्थिक कारण भी थे। जर्मनी में आर्थिक विकास हो रहा था और व्यापक संगठन के बिना पूरा लाभ संभव नहीं था। इसलिए एक तरफ बूजुर्आ ताकतों ने जन समर्थन के सहारे निकट आने का क्रम शुरू कर दिया दूसरी तरफ प्रमुख शासकों ने मेटरनिख की शह पाकर किसी भी परिवर्तन की आकांक्षा का दमन शुरू किया। वियेना में जर्मन राज्यों के किसी निकट संबंध का मेटरनिख ने विरोध किया और एक जर्मन कानफेडरेशन की स्थापना हुई जिसमें आस्ट्रिया की प्रमुखता निर्विवाद थी। अड़तीस राज्यों की 'डायट' में आस्ट्रिया की अध्यक्षता थी। फ्रैंकफर्ट में जनता नहीं, शासकों के प्रतिनिधियों का अधिवेशन बुलाने का प्रावधान हुआ। यहां साधारण प्रस्ताव दो तिहाई बहुमत से पास हो सकते थे। संवैधानिक या मौलिक परिवर्तनों की खातिर सर्वसम्मति जरूरी थी। जाहिर था कि कभी भी सब एकमत नहीं हो सकते थे। ऐसे समय में जबकि छोटे छोटे राज्यों के एकीकरण के बाद शासकों को अपना प्रभाव समाप्त होने का डर था, कोई एक राज्य इस दिशा में पहल करने की स्थिति में नहीं था और आस्ट्रिया का इस मसले पर सतत विरोध था। जर्मन देशभक्तों की एकीकरण की आकांक्षा मूर्तरूप नहीं ले सकती थी।

लेकिन जहां 1819 के कार्ल्सबाड के अध्यादेशों के द्वारा विद्यार्थियों और शिक्षकों पर कठोर नियंत्रण लागू करके चेतना का विस्तार रोकने का प्रयास किया गया वहीं कुछ आर्थिक तत्व जर्मन राज्यों को करीब भी ला रहे थे। 1818 में जर्मन राज्यों ने प्रशा के नेतृत्व में सीमा करों का एक संगठन (त्साल-वेराइन) बनाया था जिसके अनुसार इनके बीच आपसी व्यापार और आयात निर्यात को आवश्यक बल मिलता था। इन क्षेत्रों की आर्थिक एकता की यह शुरुआत थी। इससे यह भी स्पष्ट हो गया था कि इस कार्य में प्रशा को पहल करनी पड़ेगी और आस्ट्रिया इसका विरोध करेगा। वह इस संगठन में था भी नहीं।

1848 की क्रांति के समय जर्मन उदारवादी एक तरफ संवैधानिक सुधार चाहते थे

वहीं दूसरी तरफ उनका लक्ष्य जर्मनी का एकीकरण भी था। मार्च में हाइडेलवर्ग में उदारपंथियों की एक सभा हुई और एकीकरण के विषय पर विचार किया गया। जनमत के लोकप्रिय संसद का निर्वाचन हुआ और फ्रैंकफर्ट में अधिवेशन बुलाया गया। शासक वर्ग असहाय था। 'डायट' को भी इस लोकसभा को मंजूरी देनी पड़ी। इस सभा के सामने दो प्रमुख कठिनाइयां थीं। जर्मन राज्य की सीमा क्या हो अर्थात कौन कौन से राज्यों का विलय हो तथा इस राज्य की अध्यक्षता कौन करे। मुख्य समस्या आस्ट्रिया को लेकर थी। यदि संपूर्ण आस्ट्रिया साम्राज्य इसमें शामिल होता तो निश्चित था कि यह राष्ट्रीय एकीकरण नहीं होता क्योंकि इस प्रकार बहुत से गैर जर्मन राज्य इसमें शामिल हो जाते। यदि केवल जर्मन क्षेत्रों को इसमें शामिल किया जाता तो आस्ट्रियाई साम्राज्य को भी विभाजित करना पड़ता। यह आस्ट्रिया को किसी भी शर्त पर मंजूर नहीं हो सकता था। यदि सभा में दूरदर्शी नेतृत्व होता तो उसे तत्काल निर्णय लेने के महत्व का पता होता, लेकिन यहां भाषणों और बहसों में बहुमूल्य समय बीत गया और प्रतिक्रियावादी शक्तियां संगठित होती गईं। सभा ने अंत में आस्ट्रिया को निष्कासित करके प्रशा के शासक को जर्मन सम्राट बनाने का निर्णय किया। जर्मनी के एकीकरण की संभावना साकार होने लगी। लेकिन प्रशा के शासक फ्रेडरिक विलियम ने निमंत्रण अस्वीकार कर दिया। कई कारण थे। निमंत्रण शासकों ने नहीं जनप्रतिनिधियों ने दिया था। यह उसे स्वीकार्य नहीं था। ऐसी स्थिति में केवल संवैधानिक सम्राट बनना उसे पसंद नहीं था। इसके अतिरिक्त यह कार्य बिना आस्ट्रिया के सम्राट को नाराज किए और बिना युद्ध के संभव ही नहीं था।

फ्रैंकफर्ट में बना संविधान कई राज्यों ने स्वीकार कर लिया पर प्रशा और आस्ट्रिया के साथ हैनोवर, सैक्सनी, बवारिया और वुर्टेमवर्ग के शासकों ने भी उसे नहीं माना। फ्रैंकफर्ट की पार्लमेंट का दूसरा अधिवेशन हुआ। दूसरी ओर प्रशा ने शासकों का संघ बनाकर राज्यों को निकट लाने का प्रयास किया। लेकिन आस्ट्रिया और प्रशा हर स्थिति में प्रतिद्वंद्वी बन जाते थे और स्थिति यह थी कि बिना दोनों में संघर्ष हुए किसी बात का निबटारा नहीं हो सकता था। इसके लिए दोनों ही तैयार नहीं थे। इसलिए एकीकरण का पहला दौर आकांक्षाओं और प्रयासों का दौर बनकर रह गया। इस बीच कोई ठोस कदम नहीं उठ सका जिसस जर्मन का एकीकरण हो पाता। इस दौर की कुल उपलब्धियां यह थीं कि एकीकरण का स्वतः कोई समाधान नहीं निकल सकता यह स्पष्ट हो गया। इसे ऊपर से थोपना पड़ेगा और इसके लिए प्रशा को ही, चाहे जब संभव हो, नेतृत्व करना पड़ेगा। यह भी स्पष्ट हो गया था कि स्वतः स्फूर्त संवैधानिक और उदारवादी तरीके, जिनको फ्रैंकफर्ट पार्लमेंट ने आधार बनाया था, कारगर नहीं होंगे। इसी तरह यह भी स्पष्ट था कि शासकों का संघ, जैसा प्रशा ने बनाना चाहा था सफल नहीं होगा क्योंकि आस्ट्रिया उसका विरोध करेगा। ऐसी स्थिति में उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में ऐसा लगता था कि जर्मनी के एकीकरण का प्रश्न दबा दिया गया है और सदियों से स्थापित आस्ट्रिया का प्रमुत्व और प्राथमिकता बनी रहेगी। जर्मन देशभक्त निराश हो

चले थे कि तभी एक ऐतिहासिक परिवर्तन हुआ और इसका श्रेय विलियम और बिस्मार्क को है।

विलियम : प्रशा में नाममात्र का संविधान था लेकिन शासक फ्रेडरिक विलियम की सत्ता व्यापक थी। लोकसभा और जनप्रतिनिधियों को न कोई विशेष अधिकार प्राप्त थे और न सम्मान। राजा अभी भी मनमाने ढंग से शासन कर रहा था। वह न तो संविधान भंग कर एकदम निरंकुश हो पा रहा था, न शासन छोड़ करके एक संवैधानिक शासक बनना चाह रहा था। एकीकरण का स्वत स्फूर्त तरीका उसे पसंद नहीं था और उसका अपना तरीका सफल नहीं हो रहा था। ऐसे में जब उसका स्वास्थ्य गिरने लगा तो उसका भाई विलियम संरक्षक बन गया। फ्रेडरिक की मृत्यु के बाद वही प्रशा का शासक बना। विलियम का शासनकाल प्रशा और जर्मनी के लिए ऐतिहासिक सिद्ध हुआ। धीरे धीरे औद्योगिक क्रांति जर्मनी भी पहुंची जहां साधन उपलब्ध थे और तेजी से औद्योगीकरण हो रहा था। रेलें बिछाई जा रही थीं। कारखाने बढ़ते जा रहे थे। खानों में खुदाई कई गुना बढ़ गई थी और जर्मनी, विशेषकर प्रशा, समृद्ध होता जा रहा था। मध्यमवर्ग और पूंजीपतियों की शक्ति बढ़ रही थी। वे संगठित भी हो रहे थे।

विलियम एक कुशल शासक था। उसने नेपोलियन के विरुद्ध युद्ध किया था और विशेष रूप से प्रशा की सेना का पुनर्संगठन करना चाहता था। तीन वर्ष के लिए सैनिक शिक्षा अनिवार्य थी। उसके बाद व्यक्ति को सेना के लिए सुरक्षित समझा जाता था। प्रशा में हर वर्ष 40 हजार सैनिक भर्ती होते थे। लेकिन सुरक्षित लोगों की संख्या लाखों में थी। इसलिए या तो कुछ लोगों को सैनिक सेवा से मुक्त करना पड़ता था या फिर उनका सेवा काल घटाकर दो वर्ष कर दिया जाता था। विलियम ने फान रुन को अपना युद्ध मंत्री नियुक्त किया। रुन को प्रशा की सेना को एक आदर्श सेना बनाने का आदेश हुआ।

रुन ने सेना के विस्तार की योजना रखी। उसने उन्तालीस नए रेजिमेंट और नौ घुड़सवार रेजिमेंट संगठित करने का आदेश दिया। लेकिन इतने व्यापक विस्तार के लिए धन की जरूरत थी। पार्लमेंट को अतिरिक्त धन देने का अधिकार था। पार्लमेंट के सदस्य साधारणतया राजा की आलोचना नहीं करते थे लेकिन इस मुद्दे पर आलोचना शुरू हुई। बड़ी मुश्किल से एक वर्ष के लिए धन स्वीकृत हुआ। दूसरे वर्ष स्वीकृति नहीं मिली, तो राजा और पार्लमेंट के बीच ठन गई। क्योंकि अचानक सत्ता के अधिकार का प्रश्न उठ खड़ा हुआ था।

विलियम संकट में पड़ गया क्योंकि वह अन्य निरंकुश शासकों की तरह विरोध होने पर पार्लमेंट भंग नहीं करना चाहता था। ऐसा चाहता तो सेना उसका साथ देती और संविधान तथा पार्लमेंट को तत्काल समाप्त किया जा सकता था। ऐसा न करने पर सेना संबंधी सुधारों का परित्याग करना अनिवार्य था। विलियम इसके लिए भी तैयार नहीं था। क्योंकि उसकी सारी योजनाएं सेना के विस्तार पर ही आधारित थीं। अब तो एक ही रास्ता था कि वह पदत्याग करके इस समस्या से मुक्त हो जाए। इसी समय उसने प्रशा के कुशल और प्रसिद्ध कूटनीतिज्ञ बिस्मार्क को बर्लिन बुलाया। बिस्मार्क पेरिस में

राजदूत था। उसकी और विलियम की वातचीत का परिणाम यह हुआ कि दोनों ने एक दूसरे का साथ देने का निर्णय किया। विलियम ने अपनी और विस्मार्क की योजना में साम्य पाया और विस्मार्क प्रशा का चांसलर वना दिया गया। दोनों का सहयोग जर्मन एकीकरण के लिए निर्णायक सिद्ध हुआ।

विस्मार्क : आटोफान विस्मार्क प्रशा के प्रतिष्ठित सामंत परिवार का था और राज्य तथा राजा के वारे में उसकी अपनी कल्पना थी। वह जर्मनी की महान भूमिका के स्वप्न देखता और यह भी सोचता कि 'जर्मनी अपने राजाओं के कारण ही महान था, अपनी जनता के कारण नहीं' ? सारे यूरोप में बढ़ते उदारवादी और संवैधानिक दौर का वह विरोधी था। इसलिए जव फ्रैंकफर्ट की पार्लमेंट के निमंत्रण पर जर्मन सम्राट वनने का प्रस्ताव प्रशा के राजा ने ठुकरा दिया तो उसे प्रसन्नता हुई थी।

वह अत्यंत योग्य और कुशल व्यक्ति था। प्रजातंत्र में उसकी कोई आस्था नहीं थी। कुछ अर्थों में वह माइकियावेली की नीति का समर्थक था। एक वार लक्ष्य निर्धारित कर लेने के वाद उसकी पूर्ति के लिए वह कुछ भी करने को तैयार रहता था। वह जर्मन महासंघ में प्रशा का प्रतिनिधि था और जर्मन एकीकरण के प्रयत्नों से परिचित था। उसने यह देख लिया था कि आस्ट्रिया से संघर्ष के विना एकीकरण असंभव है। इस संघर्ष के लिए जिस शक्ति की आवश्यकता थी वह सेना का विस्तार किए वगैर प्राप्त नहीं हो सकती थी, इसलिए वह भी फानरुन के सुधारों का समर्थक था। उसका स्पष्ट मत था कि 'वड़े सवाल भाषणों से नहीं सुलझते' उसके लिए एक लौह नीति जरूरी है।

चांसलर वनते ही उसने विलियम की प्रतिनिधि सभा भंग न करने की नीति स्वीकार कर ली। लेकिन वह इस नीति की अवहेलना करता रहा। हर साल नए कर लगाने की अनुमति सभा नहीं देती और हर साल कर वसूल किए जाते तथा सेना के विस्तार में पर्याप्त धन लगाया जाता। प्रशा की सर्वांगीण उन्नति का प्रयास होता रहा। प्रशा को आर्थिक और सैनिक दृष्टि से सुदृढ़ करते हुए वह उसे भावी संघर्षों के लिए तैयार करता रहा।

फानरुन की योजनाएं क्रियान्वित होती रहीं और फान मोल्टके नामक जनरल के नेतृत्व में सेना का विस्तार होता गया। विस्मार्क जर्मनी के एकीकरण के लिए प्रशा का वलिदान करने को तैयार नहीं था, जैसा कि पीडमांट ने इटली के एकीकरण के लिए किया। वह प्रशा में ही जर्मनी को समाहित कर लेना चाहता था। इसके लिए उसने तीन युद्धों की योजना बनाई। डेनमार्क के विरुद्ध शक्ति परीक्षण के लिए, आस्ट्रिया के विरुद्ध एकीकरण के विरोधियों को निष्कासित करने के लिए और फ्रांस के विरुद्ध जर्मन शक्ति के प्रदर्शन और मान्यता के लिए।

डेनमार्क से युद्ध : विस्मार्क कितना वड़ा शतरंज का खिलाड़ी था और चालें कितनी पहले सोच लेता था इसका परिचय प्रारंभ में दिया गया है। उसने आस्ट्रिया से अच्छे संवंध स्थापित किए और डेनमार्क के प्रमुत्व में स्थित श्लेसविग और हालस्टाइन नामक क्षेत्रों पर अधिकार करने की मिली जुली योजना बनाई। उसे विश्वास था कि बाद में बंटवारे को लेकर युद्ध का बहाना अवश्य मिल जाएगा।

श्लेसविग और हालस्टाइन नामक दो रियासतें डेनमार्क के शासन के अधीन तो थीं लेकिन डेनमार्क का हिस्सा नहीं थीं। हालस्टाइन जर्मन संघ का सदस्य था और यहां की जनता भी जर्मन थी। श्लेसविग में जर्मन बहुमत था लेकिन वहां डेन लोग भी बहुत बड़ी तादाद में रहते थे। डेनमार्क का शासक धीरे धीरे इन रियासतों का डेनमार्क में पूरी तरह विलय चाहता था। डेनमार्क की जनता इसका समर्थन करती थी, लेकिन जर्मन लोग इसके खिलाफ थे। 1852 में लंदन में हुए सम्मेलन में यूरोप के शासकों ने इन रियासतों पर डेनमार्क की सत्ता इसी शर्त पर मानी थी कि इनका कभी पूरी तरह विलय नहीं होगा। इसी शर्त को आगस्टेनवर्ग के ड्यूक ने स्वीकार कर इन पर अपना दावा छोड़ दिया था। 1863 में डेनमार्क ने एक नया संविधान बनाया जिसके अनुसार हालस्टाइन पूरी तरह डेनमार्क में मिला लिया गया और श्लेसविग को स्वायत्तता दे दी गई। आगस्टेनवर्ग के नए ड्यूक ने इसे लंदन सम्मेलन की शर्तों की अवहेलना समझा और अपने बाप द्वारा छोड़े गए दावे को फिर से उठा कर संघर्ष के लिए तैयार हो गया। इधर जर्मन डायट ने डेनमार्क के विरुद्ध एक सेना भेजने का निर्णय भी कर लिया।

बिस्मार्क भी यही चाहता था लेकिन कूटनीतिक ढंग से उसने डायट की बात नहीं मानी। उसने आस्ट्रिया के सामने लंदन की संधि की रक्षा करने का प्रस्ताव रखा। आस्ट्रिया दुविधा में पड़ गया। अस्वीकार करने पर सारा श्रेय प्रशा को मिल जाता और स्वीकार करने के बाद अतिरिक्त भार और तैयारी के लिए आस्ट्रिया तैयार नहीं था। फिर भी अनिच्छापूर्वक उसने सहयोग किया। डेनमार्क बुरी तरह पराजित हुआ और वियेना में एक संधि हुई। इसमें उसने दोनों ही प्रदेशों पर से अपना अधिकार छोड़ दिया। बिस्मार्क को प्रशा की सेना की योग्यता और आस्ट्रिया की कमजोरियों का अच्छी तरह पता अवश्य चल गया। वह आश्वस्त हुआ कि उसकी योजना सही दिशा की ओर बढ़ रही है।

आस्ट्रिया से युद्ध : जैसा कि बिस्मार्क ने सोचा था, युद्ध के बाद की स्थिति पेचीदा हो गई। आस्ट्रिया चाहता था कि दोनों ही प्रांत आगस्टेनवर्ग के ड्यूक को दे दिये जाएं। बिस्मार्क ने सोचा कि इस तरह समस्या ठीक ठीक सुलझ जाएगी यह उसकी योजना के विरुद्ध था। आखिर युद्ध से प्रशा को क्या फायदा हुआ ? उसने ऐसी शर्त रखी जिसे ड्यूक ने मानने से इंकार कर दिया। अब आस्ट्रिया और प्रशा में तनाव बढ़ने लगा। इतनी जल्दी युद्ध के लिए कोई तैयार नहीं था। इसलिए गास्टाइन में एक समझौता हुआ और व्यवस्था बनाए रखने के लिए श्लेसविग का प्रबंध प्रशा को सौंपा गया और हालस्टाइन का आस्ट्रिया को। यह एक अस्थाई समझौता था। बिस्मार्क की योजना का दूसरा चरण यहीं से शुरू होता था। उसने आस्ट्रिया के विरुद्ध युद्ध की तैयारी कर दी। सैनिक संगठन के साथ उसने कूटनीति के स्तर पर भी अभियान शुरू किया। उसने पोलेंड में हुए विद्रोह को दबाने में रूस की मदद की थी। इसलिए वह आश्वस्त था कि रूस उसके विरुद्ध नहीं जाएगा। उसे नेपोलियन तृतीय के बारे में चिंता थी। उसने स्वयं नेपोलियन से भेंट की। बिआरिट्ज में हुई भेंट के समय कोई और मौजूद नहीं था। इस भेंट का कोई औपचारिक दस्तावेज भी उपलब्ध नहीं है। लेकिन मैक्सिको की समस्याओं

में उलझे होने के कारण नेपोलियन ने शायद तटस्थ रहना स्वीकार किया था। उसे यह आशा अवश्य रही होगी कि उसकी तटस्थता का बिस्मार्क कोई न कोई मूल्य अवश्य देगा। शायद फ्रांस को बेल्जियम का या और कोई उत्तर पूरब का क्षेत्र मिल जाए। लेकिन इस विषय में कोई औपचारिक समझौता नहीं हुआ था। दोनों में बिस्मार्क निश्चित ही होशियार और कुशल कूटनीतिज्ञ था। इसलिए उसने नेपोलियन को भुलावे में रखने में सफलता प्राप्त कर ली।

पीडमांट अब भी वेनेशिया पर आस्ट्रिया के प्रभुत्व के कारण क्षुब्ध था। बिस्मार्क ने इसका लाभ उठाया और आस्ट्रिया के विरुद्ध सहयोग के लिए पीडमांट और प्रशा में एक गुप्त समझौता हो गया। युद्ध के बाद इटली में वेनेशिया के विलय का निश्चय हुआ। इसी तरह यूरोप में आस्ट्रिया को अकेला करने के बाद बिस्मार्क आस्ट्रिया पर आक्रमण का रास्ता ढूंढ़ने लगा। युद्ध का बहाना ढूंढ़ना सबसे आसान कामों में से एक होता है। बिस्मार्क ने देखा कि हालस्टाइन की जनता खुश नहीं है और आगस्टेनबर्ग में मिलने के लिए आंदोलित है। बिस्मार्क ने आस्ट्रिया के सामने यह बात उठाई। उसे दो टूक जवाब मिला कि यह आस्ट्रिया का मामला है और बिस्मार्क बिलावजह परेशान है। आस्ट्रिया ने दोनों प्रांतों का प्रश्न जर्मन डायट के सामने रख दिया। बिस्मार्क ने इसे फौरन गास्टाइन के समझौते का उल्लंघन करार दिया और बिना आस्ट्रिया की प्रतिक्रिया का इंतजार किए हालस्टाइन में प्रशा की सेना भेज दी। इस प्रकार दोनों ही रियासतों पर प्रशा का कब्जा हो गया। क्षुब्ध आस्ट्रिया ने डायट में प्रस्ताव रखा कि मिलीजुली सेना प्रशा का मुकाबला करे। डायट में प्रशा के प्रतिनिधियों ने साफ कह दिया कि इस प्रस्ताव पर बातचीत करना ही प्रशा के विरुद्ध युद्ध की घोषणा माना जाएगा। आस्ट्रिया ने ध्यान नहीं दिया। प्रस्ताव पारित हो गया लेकिन साथ ही प्रशा ने डायट को भंग मानकर युद्ध शुरू कर दिया।

आस्ट्रिया का पक्ष सही था। जर्मनी के अधिकांश राज्य उसके साथ थे लेकिन प्रशा की तैयारी सुनियोजित थी और प्रशा की सेना युद्ध के लिए पूर्णतः तैयार थी। माल्टके के नेतृत्व में प्रशा की सेना हर स्थिति के लिए तैयार थी। प्रशा ने दोतरफा हमले की योजना बनाई और आस्ट्रिया दोनों सेनाओं को मिलने नहीं देना चाहता था। साडोवा में निर्णायक युद्ध हुआ। आस्ट्रिया का तोपखाना निश्चय ही बेहतर था। प्रशा के पास ऐसी राइफलें थीं जो कई फायर कर सकती थीं जबकि आस्ट्रिया की सेना में एक बार ही चलने वाली राइफलें थीं। पलड़ा बराबर था, लेकिन राजकुमार चार्ल्स के नेतृत्व में प्रशा की दूसरी सेना आ पहुंची और आस्ट्रिया बुरी तरह पराजित हुआ। इटली ने वादे के अनुसार वेनेशिया पर हमला किया था और वहां उसकी पराजय हुई थी, परंतु आस्ट्रिया की सेना को विभाजित रखकर इटली ने उसकी पराजय को आसान बना दिया था। जर्मनी के शेष राज्यों को पराजित करना मुश्किल नहीं था। शीघ्र ही अधिकांश जर्मनी पर प्रशा का कब्जा हो गया।

सभी चकित थे। नेपोलियन ने सोचा था कि आस्ट्रिया के विरुद्ध निर्णायक दौर में युद्ध पहुंचने तक बहुत समय लगेगा। लेकिन यहां एक ही युद्ध में फैसला हो गया था।

उसने शांति और समझौते के लिए मध्यस्थता का प्रस्ताव रखा। बिस्मार्क को मध्यस्थता की जरूरत नहीं थी, लेकिन वह कुशल कूटनीतिज्ञ था। अभी भी नेपोलियन का रुतबा बना हुआ था और उसे रुष्ट करना आसान नहीं था। उसने शांति का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया और प्राग की संधि से युद्ध समाप्त हो गया।

प्राग की संधि में बिस्मार्क ने एक वार फिर अपना कौशल दिखाया। इटली को तो वेनेशिया दे दिया गया लेकिन स्वयं प्रशा ने एक इंच भूमि भी नहीं ली। पराजित आस्ट्रिया को बस एक छोटी सी रकम हर्जाने के रूप में देनी पड़ी। जर्मन संघ भंग कर दिया गया और उसके स्थान पर राइन नदी के उत्तर में स्थित सभी जर्मन राज्यों का एक उत्तरी जर्मन संघ गठित हुआ जिसमें आस्ट्रिया को शामिल नहीं किया गया। उसका नेतृत्व प्रशा को मिल गया। दक्षिण के राज्यों को स्वतंत्र छोड़ दिया गया। राइन नदी से पोलेंड के बीच संपूर्ण क्षेत्र पर प्रशा का प्रभुत्व स्थापित हो गया। हनोवर, श्लेसविग, हालस्टाइन, हेस-कासेल, नास्साउ आदि राज्य प्रशा में मिल गए।

बिस्मार्क ने आशातीत ढंग से आस्ट्रिया को सम्मान दिया। उसने आस्ट्रिया के साथ एक पराजित देश जैसा व्यवहार नहीं किया। इस बात के लिए उसकी आलोचना भी हुई, लेकिन बिस्मार्क की नीति तर्कपूर्ण थी। वह जर्मनी से आस्ट्रिया को निष्कासित करना चाहता था और ऐसा हो ही गया था। अधिक कठोर होने पर यूरोप के अन्य देशों, विशेषकर फ्रांस, के हस्तक्षेप की संभावना थी। यह बिस्मार्क की नीति के विरुद्ध था कि एक साथ एक से अधिक दुश्मन पैदा किए जाएं। इसके अलावा अभी तो उसे फ्रांस से भी हिसाव करना था। अंतिम युद्ध होना बाकी ही था। इस युद्ध में उसे आस्ट्रिया के तटस्थ रहने की जरूरत थी। इस समय कठोर होकर वह आस्ट्रिया को हमेशा के लिए नाराज कर सकता था। बाद की घटनाओं ने भी सिद्ध कर दिया कि बिस्मार्क ने स्थितियों का कितना सही आकलन किया था।

फ्रांस से युद्ध : बिस्मार्क कहता था कि फ्रांस से युद्ध तो इतिहास की तर्कसंगत परिणति है (ए वार विथ फांस ले इन दि लाजिक आफ हिस्ट्री)। इससे स्पष्ट होता है कि बिस्मार्क शुरू से ही फ्रांस के विरुद्ध युद्ध की तैयारी कर रहा था। नेपोलियन तृतीय को अपनी गलती तब महसूस हुई होगी जब बिस्मार्क ने साडोवा की जीत का भरपूर फायदा उठा लिया और उत्तरी जर्मनी को प्रशा के ढंग के प्रशासन में बांधकर सैनिक तैयारी शुरू कर दी। अब बिस्मार्क के पास लगभग दस लाख की एक आक्रामक सेना थी। नेपोलियन ने 'साडोवा के बदले की बात' शुरू कर दी। परंतु अब क्या होना था ? फ्रांस प्रशा की बढ़ती ताकत से आक्रांत होने लगा था। दोनों देशों में तेजी से एक दूसरे के खिलाफ प्रचार होने लगा। नेपोलियन क्षुब्ध था कि साडोवा के समय फ्रांस की तटस्थता के बदले उसे कुछ नहीं मिला। वह बार बार बिस्मार्क से किसी क्षेत्र की मांग करता। वह कभी पैलेटिनेट की मांग करता कभी बेल्जियम की तो कभी लुक्सेमबुर्ग की। बिस्मार्क मजे ले लेकर बच निकलता और इन मांगों का कूटनीतिक लाभ उठा लेता। नेपोलियन द्वारा पैलेटिनेट की मांग को उसने बवेरिया के शासक को दिखाया। उसी के राज्य में पैलेटिनेट पड़ता था। जाहिर था कि इससे वह नेपोलियन से क्षुब्ध हुआ होगा। सारे

दक्षिणी जर्मन राज्यों में इससे नेपोलियन के प्रति अविश्वास बढ़ने लगा। बेल्जियम की मांग को बिस्मार्क ने उसके मित्र और उसकी तटस्थता के संरक्षक इंग्लैंड को बताया और इंग्लैंड भी नेपोलियन के इरादों से चौकन्ना हो गया। उसका भावी युद्ध में तटस्थ होना सुनिश्चित हो गया। रूस की तटस्थता के लिए बिस्मार्क ने जार को दूसरा तर्क दिया। उसने कहा कि पेरिस की 1856 में हुई संधि के बाद रूस के काला सागर में नौसेना रखने पर प्रतिबंध लगा दिया गया था। बिस्मार्क ने कहा कि यदि फ्रांस और प्रशा में युद्ध छिड़ गया तो रूस आसानी से पेरिस संधि की अवहेलना कर सकेगा, क्योंकि तब अकेले इंग्लैंड संधि मनवाने के लिए युद्ध मोल नहीं लेगा। इस प्रकार रूस का तटस्थ रहना भी तय हो गया। इटली को प्रशा से सहयोग करने का फल मिल चुका था। यह सच था कि नेपोलियन ने भी इटली की मदद की थी। लेकिन उसने विश्वासघात भी किया था, और अभी भी उसकी सेना रोम में थी। इसे इटली के लोग अपने एकीकरण में अवरोध मानते थे। इसलिए इटली की ओर से कोई खतरा नहीं था। अंत में आस्ट्रिया से अच्छे संबंध और फ्रांस का साथ देने पर रूस की ओर से आने वाले खतरे के डर से आस्ट्रिया की तटस्थता निश्चित सी हो गई। इस प्रकार बिस्मार्क ने फ्रांस को हर ओर से एकाकी और मित्रविहीन बना दिया।

अब बस एक उचित कारण का बहाना चाहिए था ताकि फ्रांस जर्मनी पर आक्रामक और प्रशा उसका रक्षक साबित हो सके। बहाना भी मिल गया। स्पेन के राजनीतिक परिवर्तनों के बाद स्पेन के सिंहासन के लिए जर्मन राजकुमार लिओपोल्ड को आमंत्रित किया गया। वह प्रशा के राजपरिवार से संबंधित था। इससे प्रशा का प्रभाव अवश्य ही बढ़ जाता। यह उपहार पहले अस्वीकार करने के बाद लिओपोल्ड ने अंततः स्वीकार कर लिया। नेपोलियन बहुत क्षुब्ध हुआ। उसने प्रशा स्थित अपने राजदूत बेनेदेती को हिदायत दी और राजदूत ने प्रशा के शासक को बताया कि यह बात नेपोलियन की पसंद नहीं है। यह सरासर हस्तक्षेप था और इस बात पर युद्ध हो सकता था। लेकिन ऐन वक्त पर लिओपोल्ड ने सिंहासन ग्रहण करने से इंकार कर दिया। यह फ्रांस की जीत थी। और बात वहीं पर खत्म हो जाती तो कुछ नहीं बिगड़ता लेकिन बेनेदेती ने प्रशा के शासक से एलम्स नगर में मिलकर एक आश्वासन मांगा कि स्पेन के लिए कभी कोई मांग नहीं की जाएगी। राजा ने विनम्रतापूर्वक इंकार कर दिया। यहां भी बात खत्म हो सकती थी। इस बात की सूचना तार से बिस्मार्क को भेज दी गई। बिस्मार्क ने दूसरी चाल चली। वह जानता था कि दोनों देशों में संबंध कितने तनावपूर्ण हैं और थोड़ा सा उकसाने पर आग भड़क सकती है। उसने एलम्स से भेजे गए तार को इस तरह प्रकाशित कर दिया कि फ्रांस को लगे कि बेनेदेती को प्रशा के शासक ने बेइज्जत कर दिया है और प्रशा को ऐसा लगे कि उसके शासक के प्रति फ्रांस के राजदूत ने असम्मानपूर्ण व्यवहार किया है। अब दोनों देशों में तनाव बढ़ने लगा। नेपोलियन किसी भी तरह युद्ध के लिए तैयार नहीं था। पर फ्रांस की भावना प्रधान जनता का उफान रोकना मुश्किल था। मजबूर नेपोलियन को स्वयं एक अवांछित युद्ध मोल लेना पड़ा।

सामान्य स्थिति में फ्रांस प्रशा का मुकाबला कर सकता था लेकिन यहां तो सब कुछ

विपरीत था। फ्रांस मित्रविहीन था तो प्रशा को जर्मन राज्यों का सहयोग प्राप्त था। फ्रांस युद्ध के लिए बिल्कुल तैयार नहीं था। यहां तक कि उसकी सेना के पास पर्याप्त रसद और कपड़े तक नहीं थे। प्रशा की सेना लड़ाकू तौर पर एकदम लैस थी। फ्रांस पर तीन तरफ से हमला हुआ। फ्रांस की हर तरफ पराजय होने लगी। अंत में जब नेपोलियन स्वयं अपनी घिरी हुई सेना की मदद के लिए चला तो सेदां में घेर लिया गया जहां उसे लाखों व्यक्तियों के साथ आत्मसमर्पण कर देना पड़ा। यह एक ऐतिहासिक हार थी।

इस हार के बाद न केवल नेपोलियन का बल्कि फ्रांस के इतिहास से हमेशा के लिए राजतंत्र का पतन हो गया। 1870 में स्थापित गणतंत्र थोड़े बहुत परिवर्तनों के साथ आज तक विद्यमान है। फ्रैंकफर्ट में एक संधि हुई जिसके अनुसार फ्रांस को एलसास और लोरेन के प्रदेश, बेलफोर्ट के किले को छोड़कर, जर्मनी को दे देने पड़े और इस प्रकार दोनों देशों के बीच शत्रुता के बीज बो दिए गए। फ्रांस ने पांच अरब फ्रांक हर्जाने के रूप में देने का वादा किया। जब तक हर्जाना प्राप्त न हो जाए प्रशा की सेना फ्रांस में मौजूद रहती। इसी बीच नेपोलियन प्रथम के दमन से क्षुब्ध प्रशा ने फ्रांस से पुराना बदला लेना चाहा। बिस्मार्क ने फ्रांस के प्रसिद्धतम महल वेर्साई के शीशकक्ष में जर्मन साम्राज्य की स्थापना की घोषणा की। इस प्रकार जर्मन एकीकरण संपन्न हो गया।

तुलना

बिस्मार्क की आंतरिक नीति

जर्मनी का संविधान बिस्मार्क ने इस तरह बनाया कि धनिकों तथा भूस्वामियों की प्रमुखता बनी रहे। साम्राज्य पचीस राज्यों का संघ था जिसमें प्रशा सबसे बड़ा राज्य था। प्रशा का राजा जर्मनी का सम्राट घोषित किया गया। अन्य राज्यों के शासकों की आंतरिक स्वायत्तता बनी रही। साम्राज्य की राजधानी बर्लिन घोषित की गई जहां पर दो सदनों वाली व्यवस्थापिका का प्रावधान हुआ—'बुंडेसराथ' जिसमें शासकों के प्रतिनिधि होते थे और 'राइखस्टाग' जिसमें जनता के निर्वाचित प्रतिनिधि होते थे बुंडेसराथ में हर शासक अपने अपने राज्य के महत्व के अनुसार सदस्य नियुक्त करता था। अधिक सदस्य (17) प्रशा के थे। इस सदन को ही निर्णायक अधिकार प्राप्त थे और इस पर प्रशा का नियंत्रण था। सेना संबंधी किसी भी प्रस्ताव पर प्रशा को निषेध का अधिकार था। संविधान में संशोधन के प्रस्ताव पर भी प्रशा का ही अंतिम निर्णय था। नए कर लगाने के लिए राइखस्टाग की सहमति आवश्यक थी। किसी नए कानून के लिए दोनों सदनों की स्वीकृति आवश्यक थी। सम्राट द्वारा नियुक्त मंत्री केवल उसी के प्रति उत्तरदायी थे, व्यवस्थापिका के प्रति नहीं। चांसलर पर सम्राट की नीतियों को क्रियान्वित करने की सीधी जिम्मेदारी थी। अन्य मंत्री उसके मातहत होते थे। लेकिन यह चांसलर के व्यक्तित्व पर निर्भर था। बिस्मार्क के बाद कोई चांसलर उतना शक्तिशाली नहीं हुआ। वास्तविक सत्ता सम्राट के ही हाथों में थी। वही युद्ध या शांति की घोषणा कर सकता था, नियुक्तियां कर सकता था और व्यवस्थापिका उसका विरोध नहीं कर सकती थी।

बिस्मार्क ने जर्मन साम्राज्य के आंतरिक संगठन पर बहुत बल दिया। साम्राज्य में कई लाख फ्रांसीसी, डेन और पोलैंडवासी रहते थे। इनके जर्मनीकरण के लिए उसने जर्मन भाषा को एकमात्र और अनिवार्य भाषा घोषित कर दिया। अल्पमत के लोग संगठित नहीं थे। इसलिए उन्हें पूरी तरह जर्मन बनाने में किसी कठिनाई की आशंका नहीं थी। साथ ही उसने साम्राज्य की भव्यता के लिए साम्राज्यीकरण की नीति भी अपनाई। बड़े पैमाने पर संस्थाएं खोली जाने लगीं। संस्थाओं के आगे 'इम्पीरियल' का विशेषण जोड़ा जाता था—जैसे इम्पीरियल बैंक, ताकि साम्राज्य की गरिमा हर जगह जीवंत रूप से दिखाई पड़े।

बिस्मार्क के समय जर्मनी का असाधारण आर्थिक विकास हुआ। लोरेन के लोहे, रुर के कोयले और एक नई पद्धति के आविष्कार के कारण शीघ्र ही जर्मनी भारी मात्रा में इस्पात का उत्पादन करने लगा। कपड़ा बनाने का उद्योग बढ़ा। राजकीय संरक्षण में अन्य नए उद्योग शुरू किए गए। पहली बार तेजी से रेल और यातायात के साधनों का विस्तार हुआ। बैंकों का पुनर्गठन हुआ, और तकनीकी शिक्षा के विकास के द्वारा उद्योग के लिए आवश्यक तकनीशियन पैदा करने का प्रबंध किया गया।

शुरू में जर्मनी में राजकीय नियंत्रण और हस्तक्षेप कम था। सीमा कर कम लिए जाते थे। एक तरह से मुक्त व्यापार की स्थिति थी, लेकिन बिस्मार्क को सेना और सुधार के लिए अधिक धन की आवश्यकता थी। उसने यह भी देखा कि जिन देशों में राज्य का नियंत्रण है वहां अधिक उन्नति हुई है। इसलिए बिना किसी सैद्धांतिक पचड़े में पड़े उसने राजकीय नियंत्रण बढ़ाना शुरू कर दिया और जर्मनी में उद्योग तेजी से उन्नति की ओर बढ़ता चला गया।

बिस्मार्क प्रारंभ में उपनिवेशों की आवश्यकता नहीं समझता था। यह साबित करता है कि बिस्मार्क सारी योग्यता के बावजूद बहुत ज्यादा दूरदर्शी नहीं था। जब औद्योगिक विकास बढ़ा तो कच्चा माल और बाजार आवश्यक हो गया। परिणाम यह हुआ कि बिस्मार्क को अपने अंतिम दिनों में उपनिवेशों की तलाश करनी पड़ी। लेकिन तब तक अधिकांश दुनियां बंट चुकी थी। फिर भी उसे टोगोलेंड, कैमरुन और पश्चिम अफ्रीका प्राप्त हो गए।

बिस्मार्क के सामने सबसे पहली कठिनाई कैथोलिकों ने प्रस्तुत की। लूथर के प्रादुर्भाव के बाद से ही जर्मन क्षेत्र कैथोलिकों और प्रोटेस्टेंटों में बंट गया था। बहुत से शासक प्रोटेस्टेंट हो गए थे। फिर भी जर्मन एकीकरण के पहले जर्मन संघ में कैथोलिक आस्ट्रिया की प्रमुखता के कारण जर्मनी में कैथोलिकों का प्रभुत्व बना हुआ था। प्रशा के नेतृत्व में जर्मन साम्राज्य में प्रोटेस्टेंटों को प्रमुखता मिलने लगी। कैथोलिक लोगों में असंतोष बढ़ना स्वाभाविक था। कैथोलिक लोगों ने 'सेंटर' नाम से एक राजनीतिक दल स्थापित कर लिया, और राइखस्टाग में उसके उतने सदस्य तो पहुंच ही गए थे कि कैथोलिक राजनीति में हस्तक्षेप कर सकें। बिस्मार्क इससे बहुत क्षुब्ध था।

कुल्टुरकाम्प्फ : इसी समय कैथोलिक लोगों में फूट पड़ गई। 1870 में चर्च ने 'पोप के अमोघत्व' का सिद्धांत प्रतिपादित किया था। इसके अनुसार पोप को किसी भी प्रकार

के पाप या त्रुटि से ऊपर समझा जाना जरूरी था। इसे सामान्य कैथोलिकों ने स्वीकार कर लिया। लेकिन बुद्धिजीवियों, विशेषकर विश्वविद्यालय के लोगों ने इसे तर्कसंगत नहीं माना। उनके अस्वीकार से क्षुब्ध होकर चर्च से उन्हें बहिष्कृत किया गया, उन संस्थाओं से निकाला गया जो चर्च के हाथ में थीं, और छात्रों को उनकी कक्षा में प्रवेश से रोका गया। इन लोगों ने अपने को 'पुरातन कैथोलिक' कहकर एक दल बनाया और चर्च की मूलभूत बातों के अतिरिक्त नई जोड़ी गई बातों को मानने से इंकार कर दिया।

नए दल ने त्रस्त होकर सरकार से सहायता चाही। बिस्मार्क धार्मिक पचड़े में नहीं पड़ना चाहता था। लेकिन इसी बहाने उसे साम्राज्य विरोधी कार्यवाही करने वाले चर्च से निपटने का मौका मिला था। धर्म संस्थाओं के लोगों को शिक्षण संस्थाओं से अलग कर दिया गया और जेसूट लोगों को, जो कैथोलिक लोगों के आधार थे, साम्राज्य से निष्कासित कर दिया गया। पोप की राजधानी वैटिकन से जर्मन राजदूत को वापस बुला लिया गया। स्कूलों पर राजकीय कर्मचारियों का नियंत्रण हो गया। विवाह को एक नागरिक कार्य मानकर अधिकारियों के सामने उनके रजिस्ट्रेशन की भी व्यवस्था कर दी गई। इसे सर्वथा मान्य करार दिया गया। 1875 से 77 के बीच मई महीने में प्रशा की व्यवस्थापिका ने 'मई कानून' बनाए जिनके अनुसार चर्च को किसी को बहिष्कृत करने का अधिकार नहीं रह गया। पादरी लोगों के लिए राजकीय विश्वविद्यालय में पढ़ना और परीक्षा देना अनिवार्य कर दिया गया। पादरियों की नियुक्ति पर भी राज्य का नियंत्रण हो गया। कैथोलिक विश्वविद्यालयों में राजकीय निरीक्षण का प्रबंध किया गया। कट्टर धार्मिक संस्थाओं पर प्रतिबंध लगा दिया गया।

चर्च पर किसी भी देश में इतना खुला प्रहार नहीं हुआ था। इसके बाद जो संघर्ष चला उसे ही जर्मन में कुल्टुरकाम्प्फ या सांस्कृतिक संघर्ष कहा गया। पोप ने मई कानूनों को अवैध घोषित किया। बिस्मार्क ने इसे अपनी नीति के पक्ष में ही माना क्योंकि किसी भी देश के आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप किसी को ही सहन नहीं होता। दूसरी ओर कैथोलिक पादरियों ने 'मई कानून' मानने से इंकार कर दिया। उन पर जुर्माना लगा, सजा हुई, देश निकाला मिला, पर वे झुके नहीं। अपने को राज्य द्वारा प्रताड़ित दिखाकर उन्होंने समर्थन पा लिया। उसने इतिहास के उस संदर्भ को दुहराते हुए, जब जर्मन शासक को पोप से क्षमा याचना के लिए कानोसा नामक नगर में जाना पड़ा था, कहा था: 'मैं कानोसा नहीं जाऊंगा' अर्थात बिस्मार्क चर्च के सामने कभी नहीं झुकेगा। लेकिन इस संघर्ष का अंत ही नहीं था। उधर दूसरी कठिनाइयां खड़ी हो गई थीं। समाजवादी सर उठाने लगे। बिस्मार्क ने इस्तीफा देने का भी प्रस्ताव किया, लेकिन सम्राट का उस पर पूर्ण विश्वास था। उसने दृढ़तापूर्वक केवल एक शब्द कहा 'कभी नहीं' और बिस्मार्क को जूझने के लिए तैयार होना पड़ा। 1878 में नया पोप चुना गया। लूई तेरहवें ने समझौतापूर्ण रुख अपनाया। जर्मन प्रतिनिधि वैटिकन गया और वार्ता के बाद मई कानून निरस्त कर दिए गए। 1886 में उन्हें समाप्त कर दिया गया। जेसूट के अतिरिक्त अन्य कैथोलिकों को जर्मनी वापस आने की आज्ञा मिल गई। नागरिक विवाह और

स्कूलों का राजकीय निरीक्षण जारी रहा। चर्च की आंशिक जीत हुई थी। लेकिन बिस्मार्क को यह बर्दाश्त करना पड़ा। क्योंकि उसे समाजवादियों के विरुद्ध कैथोलिकों की 'सेंटर पार्टी' का समर्थन चाहिए था। समाजवादियों के प्रादुर्भाव से कैथोलिकों को भी खतरा था। इसलिए उन्होंने इस मुद्दे पर बिस्मार्क का पूरा समर्थन किया। बिस्मार्क और समाजवादी मार्क्स ने अपने सिद्धांतों के प्रतिपादन के बाद उन्हें क्रियान्वित करने के लिए लासाल की मदद से एक सोशल डेमोक्रेट्स का दल संगठित किया था। इस दल का लक्ष्य समाज के आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक संरचना में मूलभूत परिवर्तन करना था। तत्कालीन व्यवस्था का यह घोर विरोधी था और उसे आमूल नष्ट करना चाहता था। बिस्मार्क के जीवन के सारे कार्य और लक्ष्य दांव पर लगे थे। वह जानता था कि जिस अनुपात में समाजवादी सफल होंगे उसी अनुपात में उसका तंत्र कमजोर भी होगा। इसलिए उसने सारी ताकत लगाकर समाजवादियों पर प्रहार किया।

उसने दोहरी नीति अपनाई। एक ओर उसने दमन की नीति अपनाई और जासूसों और पुलिस की मदद से तरह तरह की यंत्रणा देने लगा। लेकिन वह जानता था कि यह तरीका पर्याप्त नहीं है। इसलिए उसने उन आधारों पर भी प्रहार किया जिनके कारण समाजवाद पनपता है। वह जानता था कि मजदूरों के बीच ही समाजवादी दल आगे बढ़ रहा है। उसने चार चार वर्षों के लिए दमन कानून बनाने शुरू किए। हर तरह की बैठकों, सम्मेलनों और जनसंपर्क के साधनों तथा प्रकाशनों पर नियंत्रण लगा दिया। इससे निपटने के लिए पुलिस को व्यापक अधिकार दे दिए गए। सैकड़ों लोग गिरफ्तार किए गए। बहुतों को देश से निकाल दिया गया। बहुतों की पुस्तक पुस्तिकाएं जब्त कर ली गईं। सेंसर बहुत कठोर कर दिया गया। बाहर से आने वाले साहित्य पर भी नियंत्रण लगा दिया गया। मजदूरों में आतंक फैल गया। शिक्षण संस्थाओं पर कठोर प्रतिबंध लगाए गए। लेकिन दमन को सफलता नहीं मिली।

बिस्मार्क के साथ ही उन कारणों को भी दूर करने का प्रयास किया जिनके कारण समाजवाद की जड़ें मजबूत होती हैं। मजदूरों के असंतोष का सबसे बड़ा कारण अरक्षा की भावना हो सकती थी। और यह अरक्षा बीमारी, दुर्घटना और बुढ़ापे में रोजी की अनिश्चितता से थी। इनका निवारण करने के लिए उसने 'राजकीय बीमा' पद्धति लागू की। उसने सबसे पहले बीमारी का बीमा करना शुरू किया और अपने अंत के कुछ ही पहले तीनों ही स्थितियों में बीमा पद्धति लागू हो गई। यद्यपि इसका खर्च मुख्यतः मालिकों और मजदूरों को ही देना पड़ता था, राज्य भी अंशतः सहयोग करता था। बिस्मार्क ने अपने 'राजकीय समाजवाद' (स्टेट सोशलिज्म) द्वारा अपने को मजदूर हितैषी सिद्ध करना चाहा। इस तरह उसने सोचा कि राज्य की ओर से लागू किया गया यह नया समाजवाद वैज्ञानिक समाजवाद को रोक लेगा। लेकिन उसका यह भ्रम था।

समाजवादी आंदोलन बढ़ता ही गया। बिस्मार्क के पतन के समय उसके अथक प्रयास के बावजूद समाजवादियों को 15 लाख मत मिले और उनकी शक्ति बढ़ती गई।

इस तरह न वह कैथोलिकों के विरुद्ध सफल हुआ न समाजवादियों के, लेकिन उसकी देखरेख में जर्मन जहाज तूफानों से गुजर कर प्रगति की ओर अग्रसर होता गया। अपने तीस वर्षों के शासन में बिस्मार्क ने जर्मनी का एकीकरण किया, एक समृद्ध साम्राज्य की नींव रखी और उसकी इमारत खड़ी की तथा जर्मनी को उस महाद्वीप का सबसे शक्तिशाली देश बनाया; लेकिन साथ ही उसने एक विष वृक्ष भी रोपा जिसका जहर जर्मनी ही नहीं सारे यूरोप के लिए घातक सिद्ध हुआ।

9

अंतर्राष्ट्रीय संबंध 1871-1914

आधुनिक इतिहास की यह विडंबना रही है कि यूरोप का इतिहास विश्व इतिहास समझा जाता रहा हैं और यूरोप के देशों के आपसी संबंध अंतर्राष्ट्रीय संबंधों की जानकारी के लिए पर्याप्त समझे जाते रहे हैं। इसका कारण यह है कि, प्रथम महायुद्ध तक, विश्व-राजनीति का प्रधान केंद्र यूरोप ही था। वहां की घटनाओं का विश्वव्यापी प्रभाव हुआ क्योंकि सारा विश्व पश्चिमी यूरोप के उपनिवेशों और प्रभाव क्षेत्रों में बंटा हुआ था। अन्य किसी काल में यह बात भले ही पूरी तरह स्पष्ट न रही हो परंतु जर्मनी के एकीकरण के बाद से प्रथम महायुद्ध तक यूरोप के आपसी संबंधों का इतिहास पर इतना निर्णायक असर हुआ है कि आज भी दुनिया उसके प्रभाव से मुक्त नहीं हो पाई है। इस युग का निर्णायक मस्तिष्क बिस्मार्क के पास था। उसने प्रशा के नेतृत्व में जर्मनी का एकीकरण बड़ी कुशलतापूर्वक संपन्न किया। वह जर्मन साम्राज्य तथा अपने वर्ग के हितों को अक्षुण्ण बनाए रखना चाहता था। इसके लिए उसने एक सुनियोजित कार्यक्रम बनाया था और मित्र-शत्रु की पहचान कर दोनों के बीच दीवार खड़ी कर दी थी। जो बर्लिन की दीवार आज जर्मनी की छाती पर विभाजित विश्व के प्रतीक के रूप में खड़ी हैं उसकी नींव में भी जर्मनी के निर्माता बिस्मार्क की विभाजक नीति है।

जर्मनी के एकीकरण के बाद करीब बीस वर्षों तक अपने सम्राट का पूर्ण विश्वास प्राप्त कर जर्मनी के निर्माण और सुरक्षा में व्यस्त रहा। वह जानता था कि जर्मनी का स्थायित्व उसकी प्रगति और अन्य देशों के साथ उसके संबंधों पर निर्भर होगा। दोनों ही दिशाओं में असाधारण कौशल के साथ उसने अपनी योजना क्रियान्वित की।

बिस्मार्क की नीति

1871 में बिस्मार्क ने घोषित किया था कि अब जर्मनी एक संतुष्ट राष्ट्र है। इस घोषणा से उसने सबको आश्वस्त करना चाहा था कि अब जर्मनी का विस्तार नहीं होगा। वास्तव में उसके शासनकाल में जर्मनी ने विस्तारवादी नीति नहीं अपनाई। बिस्मार्क ने जर्मन सुरक्षा को ध्यान में रखते हुए जर्मनी के आर्थिक विकास का व्यापक कार्यक्रम बनाया। उसके अनुकूल अंतर्राष्ट्रीय वातावरण बनाने के लिए उसने यूरोप के देशों से संबंधों की एक रूपरेखा नियोजित की। 1870 के पहले शस्त्रों का और उसके बाद कूटनीति का युद्ध बिस्मार्क ने लड़ा और दोनों में विजयी रहा। इतिहासकार हनेंशा के अनुसार बड़ी बुद्धिमत्ता और सावधानीपूर्वक बिस्मार्क जर्मनी के उत्कर्ष का प्रदर्शन करने के बजाय

उसे छिपाकर रखना चाहता था। इस योजना के अनुसार उसने तय किया था कि :

1. फ्रांस को इतना एकाकी बना दिया जाए कि वह सर न उठा सके और जर्मनी के हाथों हुए असम्मान का बदला न ले सके। इंग्लैंड और जर्मनी के हित नहीं टकराते क्योंकि जर्मनी एक महाद्वीपीय देश है तथा इंग्लैंड औपनिवेशिक साम्राज्य है। इंग्लैंड और जर्मनी दोनों ही के लिए फ्रांस शत्रुवत था। इस समीकरण के कारण भी इंग्लैंड और जर्मनी निकट आ सकते थे। इसलिए इंग्लैंड से मित्रतापूर्ण संबंध बनाए रखे जाएं। इसके लिए उपनिवेशों और नौसैनिक विस्तार से बचा जाए।

2. आस्ट्रिया को पराजित करने और जर्मन क्षेत्र से निष्कासित करने के बावजूद उससे निकट से संबंध रखे जाएं क्योंकि सांस्कृतिक रूप से वह जर्मनी के निकट है और फ्रांस का पड़ोसी होने के नाते जर्मनी के निकट नहीं रहा तो फ्रांस के निकट हो सकता है।

3. इटली और जर्मनी का एकीकरण समानांतर हुआ था और दोनों को एक दूसरे से लाभ पहुंचा था। इसलिए इटली से मित्रता रखी जाए ताकि जर्मनी, आस्ट्रिया और इटली की मित्रता मध्य यूरोप में दीवार बन जाए और पूरब तथा पश्चिम, विशेष रूप से फ्रांस और रूस मिल न सकें।

4. रूस से जहां तक हो सके और जब तक हो सके संबंध बनाए रखा जाए लेकिन यदि प्रतिस्पर्धी रूस और आस्ट्रिया में से एक को चुनना हो तो निश्चित ही आस्ट्रिया का पक्ष लिया जाए।

5. पूर्वी समस्या में प्रत्यक्ष हिस्सा न लिया जाए पर यदि लाभ हो सके तो उठाया जाए।

तीन सम्राटों का संघ (ड्राइकैंजरबुंड) : इतने स्पष्ट लक्ष्य निर्धारित करने के बाद उसका कारगर क्रियान्वयन बिस्मार्क ने बड़ी सूझबूझ के साथ किया। वह चाहता था कि फ्रांस बहुत अपमानित हुआ है और बदला लेना भी चाहेगा। लेकिन वह आंतरिक समस्याओं में उलझा होने के कारण अकेले कुछ नहीं कर सकेगा और मित्रों की तलाश करेगा। इसलिए पहले ही उसके संभावित मित्रों से समझौता कर लिया जाए। 1871 में फ्रांस का गणतंत्र समाजवादी रास्ते पर जा रहा था और पेरिस की कम्यून ने साम्यवादी तरीके अपनाने शुरू कर दिए थे। यह सारे यूरोप के प्रतिक्रियावादी साम्राज्यों के लिए खतरा बन सकता था। बिस्मार्क ने आस्ट्रिया और रूस के सम्राटों को जर्मन सम्राट के निकट लाने के लिए बर्लिन में आमंत्रित किया।

1872 में तीनों सम्राटों में एक समझौता हो गया और तीन सम्राटों का संघ बन गया। इनके बीच कोई औपचारिक संधि तो नहीं हुई लेकिन तीनों ने तय किया कि वे समवेत रूप से यूरोप में यथास्थिति में परिवर्तन का विरोध करेंगे। उन्होंने पूर्वी समस्या में भी एक ही जैसी नीति अपनाने और क्रांतिकारी तत्वों का विरोध करने का फैसला किया। बिस्मार्क ने बड़े गर्व के साथ कहा था : 'मैंने वियेना के रास्ते पर एक पुल बना लिया है, बिना सेंट पीटर्सबर्ग वाला पुल तोड़े ही।' उसे एक ही साथ आस्ट्रिया और रूस जैसे प्रतिस्पर्धी देशों से मित्रता करने पर गर्व था। वह यह भी जानता था कि दो पुलों

पर एक साथ यातायात नहीं हो सकता और एक का टूटना अनिवार्य था। परंतु बिस्मार्क ने अपने जीते जी ऐसा नहीं होने दिया। यह एक तरह से नया 'होली एलायंस' था और पहले होली एलायंस की ही तरह अव्यावहारिक और अस्थाई था।

बिस्मार्क ने जर्मनी के लिए हस्तक्षेपों से बचने की नीति निर्धारित की थी और आस्ट्रिया तथा रूस के हितों और महत्वाकांक्षाओं की प्रतिस्पर्धा बनी रहती थी। ऐसी स्थिति में दोनों एक जैसी नीति किस प्रकार अपना सकते थे? जर्मनी के लिए दोनों के बीच संतुलन बनाए रखना आसान नहीं था और कभी न कभी एक का पक्ष लेने की अनिवार्यता थी। इसी क्रम में 1877 में जब तुर्की और रूस में युद्ध हुआ तो संधि के लिए बर्लिन में सम्मेलन बुलाया गया। वहां अपनी ईमानदारी का ढिंढोरा पीटने के बावजूद बिस्मार्क ने आस्ट्रिया का पक्ष लिया। रूस द्वारा निर्मित बृहत्तर बल्गेरिया को विभाजित कर दिया गया और तुर्की के विरुद्ध युद्ध में बिना शामिल हुए ही आस्ट्रिया को बोस्निआ और हर्जेगोविना के प्रदेश दे दिए गए। रूस बुरी तरह ठगा गया। उसे यह शिकायत थी कि बिस्मार्क ने पक्षपातपूर्ण कार्य किया है।

इन घटनाओं को देखते हुए यह निश्चित था कि तीन सम्राटों का समझौता दृढ़ नहीं होता, लेकिन बिस्मार्क ने अपने कौशल से रूस को पूरी तरह जर्मनी से अलग नहीं होने दिया। वह जानता था कि रूस अकेला होते ही वह फ्रांस के निकट जाएगा। ऐसा हुआ भी। (बिस्मार्क के अलग होते ही विलियम द्वितीय ने रूस से संबंधों की परवाह नहीं की और शीघ्र ही रूस और फ्रांस की संधि हो गई।) बहरहाल बिस्मार्क ने आस्ट्रिया और इटली से संबंध दृढ़ कर लेने के बाद रूस को राजी करके तीन सम्राटों का संघ फिर से जीवित कर लिया। यह तय हुआ कि यदि तीनों देशों में से किसी एक का किसी बाहरी देश से युद्ध हुआ तो अन्य दो तटस्थ रहेंगे। यह समझौता तीन वर्षों के लिए था। समय समाप्त होने पर इसे फिर तीन वर्षों के लिए लागू किया गया। तब तक यूरोप में गुटबंदी स्पष्ट होने लगी। इसलिए 1887 में फिर से विश्वास और आश्वासन देने का एक नया समझौता (रीइंश्योरेंस ट्रीटी) कर लिया गया। लेकिन जब जर्मनी का सम्राट महत्वाकांक्षी विलियम द्वितीय हुआ तो बिस्मार्क के लिए कार्य कर पाना असंभव हो गया और वह अलग हो गया। विलियम ने सम्राटों की लीग को समाप्त कर दिया। नतीजा यह हुआ कि आस्ट्रिया अन्य गुप्त संधियों के कारण जर्मनी में संबद्ध रह गया, पर कुछ ही वर्षों में फ्रांस और रूस की मित्रता हो गई।

तीन सम्राटों का संघ जितना ही अव्यावहारिक रहा हो वह बिस्मार्क की कूटनीतिक योग्यता का जीवंत प्रमाण था। अपने समय में बिस्मार्क ने सारी शंकाओं और द्वंद्वों के बावजूद रूस को बांध रखा था। साथ ही यह भी मानना पड़ेगा कि यह संघ यूरोप में बढ़ती गुप्त संधियों और गुटबंदी का परिणाम था। एक लक्ष्य के लिए प्रतिक्रांति के समर्थकों की एकजुटता इससे प्रकट होती थी। लेकिन राष्ट्रीय हितों के लिए समझौते यदि किए जा सकते थे तो उन्हें तोड़ा भी जा सकता था।

त्रिगुट संधि (ट्रिपल एलायंस) : एक तरफ बिस्मार्क अनौपचारिक समझौता किए हुए था, दूसरी ओर उसने आस्ट्रिया से एक गुप्त औपचारिक संधि कर ली थी। बिस्मार्क

कितना दूरदर्शी था इसका प्रमाण उसने तभी दे दिया था जब उसने साडोवा में आस्ट्रिया को बुरी तरह परास्त करने के बाद भी उसे असम्मानित न कर उसकी ओर दोस्ती का हाथ बढ़ा दिया था। उसका तत्काल लाभ फ्रांस के विरुद्ध युद्ध में आस्ट्रिया की तटस्थता में मिल गया था। जर्मनी का एकीकरण स्पष्ट रूप से आस्ट्रिया की परंपरागत जर्मन राष्ट्रवादिता विरोधी नीति की पराजय थी। फिर भी जर्मन और आस्ट्रियाई सम्राटों ने एक साथ एक संघ में शामिल होना स्वीकार कर लिया था। 1878 में बिस्मार्क ने आस्ट्रिया को जर्मनी से दोस्ती का प्रत्यक्ष प्रमाण दिया जब बर्लिन में आस्ट्रिया को अकारण ही दो प्रांतों का लाभ हो गया।

अब परस्पर विश्वास दृढ़ हो गया था। इसलिए बिस्मार्क ने संबंधों को दृढ़तर करने के लिए एक गुप्त संधि का प्रस्ताव किया। एक छलपूर्ण गुप्तसंधि हुई जिसमें दोनों देशों ने यह तय किया कि दोनों में से किसी एक पर रूस का हमला होने पर दूसरा साथ देगा और यदि रूस के अतिरिक्त कोई अन्य देश इन दोनों में से किसी एक पर हमला करता है तो दूसरा तब तक तटस्थ रहेगा जब तक रूस युद्ध में न शामिल हो जाए।

एक तरफ रूस से स्पष्ट रूप से समझौता किए रहना और गुप्त रूप से उसे शत्रु मानकर उसके विरुद्ध तैयारी करना एक ऐसी कूटनीतिक चाल थी जो घातक सिद्ध हुई। अब बिस्मार्क ने इटली की ओर ध्यान दिया। फ्रांस और इटली कैथोलिक देश थे और इटली के एकीकरण में फ्रांस की थोड़ी सहायता एक स्तर पर मिली ही थी। वैसे भी फ्रांस मित्रों की तलाश में था ही। लेकिन उनमें मित्रता हो नहीं पा रही थी क्योंकि फ्रांस की कैथोलिक पार्टी इटली में पोप की वापसी की मांग कर रही थी जिसे इटली की सरकार अपने आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप समझती थी। बिस्मार्क के लिए इतना काफी था। उसने दरार को खाई में बदल देने की कला पाई थी। बर्लिन कांग्रेस में उसने फ्रांसीसी प्रतिनिधि को चुपके से प्रोत्साहित कर दिया कि उत्तरी अफ्रीका स्थित ट्यूनीशिया के प्रदेश पर यदि वह कब्जा कर ले तो जर्मनी को कोई ऐतराज नहीं होगा। फ्रांस ने ऐसा ही किया और ट्यूनीशिया को हड़प लिया। इंग्लैंड को इस क्षेत्र में दिलचस्पी नहीं थी। इसलिए उसने फ्रांस के विस्तार की पुष्टि कर दी। अब इटली को डर हुआ कि फ्रांस इटली का छोटा सा उपनिवेश त्रिपोली (आधुनिक लीबिया) भी न हड़प जाए। इस आतंक में इटली की सरकार ने फ्रांस के विरोधियों से संबंध बनाना जरूरी समझा। बिस्मार्क तो यही चाहता था। उसने फौरन संधि का जाल फेंका और इटली स्वतः उसमें फंस गया।

1882 में द्विराष्ट्र संधि अब इटली के प्रवेश के बाद त्रिराष्ट्र संधि बन गई। यह व्यवस्था पांच ही वर्षों के लिए थी लेकिन चली प्रथम महायुद्ध तक। इससे बिस्मार्क ने जर्मनी की सुरक्षा तो बढ़ाई ही, इटली को भी फ्रांस के आक्रमण का डर नहीं रह गया क्योंकि ऐसी स्थिति में उसे मित्रों की सहायता मिलती। पोप को भी अब आस्ट्रिया से मदद नहीं मिल सकती थी। सबसे बड़ी बात यह कि इटली अब स्वयं बड़ी शक्ति होने का भ्रम पाल सकता था। बिस्मार्क ने मध्य यूरोप में बाल्टिक से भूमध्यसागर तक एक शक्तिशाली व्यवस्था बना ली थी जिसके एक ओर अकेला फ्रांस था दूसरी ओर

अवास्तविक समझौतों के बावजूद वास्तव में रूस भी अकेला ही था।

बिस्मार्क का मूल्यांकन : जब तक सत्ता की बागडोर बिस्मार्क के हाथ में रही जर्मनी विभिन्न संधियों से सुरक्षित हो गया था और फ्रांस मित्रविहीन। महाद्वीप से तटस्थ इंग्लैंड जर्मनी से कोई खतरा नहीं महसूस करता था और ब्रिटिश महारानी विक्टोरिया अपनी ससुराल जर्मनी से स्नेह करती थीं। अपनी सीमाओं में सुरक्षित जर्मनी प्रगति कर रहा था और समृद्ध हो रहा था। लेकिन क्या वास्तव में जर्मनी सुरक्षित था ? क्या इस समृद्धि का आधार स्थाई था ? क्या इस तरह की गुप्त संधियों से जर्मनी अपनी प्रमुखता बनाए रख सकता था ? बाद की घटनाओं ने इन प्रश्नों का नकारात्मक उत्तर दिया। बिस्मार्क और उसके नए सम्राट विलियम द्वितीय के बीच मतभेद होना आवश्यक था क्योंकि नया सम्राट स्वयं महत्वाकांक्षी और सक्रिय शासक था तथा नाम मात्र की महानता वहन करना उसके स्वभाव के विरुद्ध था। अकबर जैसे बैरम खां के प्रति कृतज्ञ होते हुए भी अपने विकास और स्वतंत्रता के मार्ग में उसे अवरोध समझता था वैसे ही विलियम भी बिस्मार्क की उपस्थिति को प्रतिकूल समझने लगा। बिस्मार्क उसी साम्राज्य में, जिसे उसने खड़ा किया था और यूरोप का सबसे शक्तिशाली राज्य बना दिया था, अब कैसे एक गौण स्थान स्वीकार करता ? उसने सम्मानपूर्वक हट जाना उचित समझा। उसके इस्तीफा देने पर प्रसिद्ध ब्रिटिश पत्र 'पंच' ने एक कार्टून प्रकाशित किया था। चित्र में प्रदर्शित झंझावात में जर्मनी रूपी जहाज से उसका चालक बिस्मार्क हटाया जा रहा था। शीर्षक था, 'चालक का हटना' (ड्रापिंग द पाइलट)। वास्तव में जर्मन जहाज का बिस्मार्क एक कुशल चालक था। 1890 में जर्मनी की स्थिति की कल्पना तीस वर्षों पूर्व असंभव थी। जर्मनी के साथ ही इटली का भी अभ्युदय हुआ। लेकिन इटली अभी भी एक गौण देश था।

बिस्मार्क की कूटनीति से ही इतिहासकार म्योर के अनुसार ब्रिटेन ने भी यूरोप की स्थितियों की वही व्याख्या स्वीकार कर ली जो बिस्मार्क ने की थी और जर्मनी को मित्र तथा फ्रांस को शांति का विरोधी मान लिया। गूच के अनुसार बिस्मार्क फ्रांस को अकेला बंद रखने में (कीपिंग फ्रांस इन क्वारंटीन) ही अपनी नीति की सफलता समझता था और इस काम में वह सफल भी हुआ। उसे बाल्कन में कोई रुचि नहीं थी। रुचि थी तो इतनी कि आस्ट्रिया और रूस परस्पर विरोधी हितों के बावजूद जर्मनी से जुड़े रहें। वह वास्तव में एक बाजीगर था। वह इंग्लैंड, फ्रांस, इटली, आस्ट्रिया और रूस रूपी पांच गेंदों को इस तरह उछालता रहता था कि कम से कम दो हरदम हवा में रहते थे। इनमें से कोई कभी ठीक से नहीं समझ सका कि वास्तव में बिस्मार्क चाहता क्या है। इतनी सारी सफलताओं के बावजूद यह मानना पड़ेगा कि बिस्मार्क की जर्मनी ही नहीं यूरोप के भावी विनाश की पृष्ठभूमि बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका थी। उसने जिस गुप्त कूटनीति की शुरुआत की उससे यूरोप में एक शीतयुद्ध शुरू हो गया। सारा यूरोप गुटों में बंट गया। शंका और तनाव के वातावरण में भावी युद्ध की तैयारी होने लगी। यूरोप पर बारूद का ढेर चढ़ता गया और प्रथम महायुद्ध का जब विस्फोट हुआ

तो मानवता त्रस्त हो गई और बिस्मार्क भी इस असाधारण विनाश के लिए दोषी ठहराया गया।

19वीं शताब्दी की घटनाओं में तीन महारथियों का नाम जुड़ा हुआ है। पहले नेपोलियन ने अपनी महत्वाकांक्षाओं का यूरोप को शिकार बनाया। दूसरे में मेटरनिख ने इतिहास की धारा रोकने के लिए प्रतिक्रियावादी सेतु का निर्माण किया जिसके टूटने पर वह स्वयं बह गया और अंत में बिस्मार्क ने लूथर, फिक्टे और नीत्शे की परंपरा में जर्मन महानता की प्रतिष्ठा में सारे यूरोप को परस्पर शंकालु और आक्रामक दलों में बांटकर विनाश की ओर ढकेल दिया। बिस्मार्क की जीवनी लिखने वाले वान बुलो का मत है कि जर्मन राष्ट्र को राजनीतिक कुशलता नहीं मिली है। इसका अर्थ यह है कि जर्मन राजनीति दूरदर्शी नहीं थी। द्वितीय महायुद्ध तक की जर्मन राजनीति भी स्वयं इस कथन की पुष्टि करती है। बिस्मार्क भी जर्मनी के तात्कालिक हितों तक ही सीमित रहा था जबकि एक युगनिर्माता भविष्य और अधिक दूरगामी परिणामों को ध्यान में रखता है। बिस्मार्क उसी कोटि का महान था जिस कोटि के शासक वर्तमान और तात्कालिक स्थितियों के दवाव में एक अल्पमत के हितों का ध्यान रखकर देश को व्यवस्थित शासन और गरिमा प्रदान करते हैं। ऐसा देश अपने को अग्रणी मानता है लेकिन भविष्य में उसी देश को अपने उसी नायक की नीतियों का भारी मूल्य चुकाना पड़ता है। हिटलर के नृशंस नात्सी राज्य को भोगने और आज विभाजित जर्मनी को एक वास्तविकता के रूप में मानने के बाद बिस्मार्क का जर्मनी में पुनर्मूल्यांकन हो रहा है।

विलियम द्वितीय : विलियम द्वितीय एक उत्साही और सक्रिय शासक था। उसने जर्मन राज्य की प्रसव पीड़ा नहीं देखी थी। इतिहास से वह अनभिज्ञ था। एक शक्तिशाली और औद्योगिक रूप से उन्नत जर्मन देश का शासक होते हुए वह अपनी सीमाओं में ही कैसे रह सकता था? उसने 'संतुष्ट राष्ट्र' की नीति छोड़कर 'विश्व राजनीति' (वेल्टपालिटक) चलाने की शुरुआत की और यहीं से यह व्यवस्था टूटने लगी जिसे बिस्मार्क ने काफी परिश्रम से बनाया था।

ट्राइट्स्के कहता था कि हम फ्रांस और आस्ट्रिया से तो निवट चुके हैं और इंग्लैंड से निबटना बाकी है। जर्मन मानसिकता भी यही बनती जा रही थी। 1891 में 'पैन जर्मन लीग' कहने लगा था कि चार चरणों में जर्मनी को विश्व में प्रभुत्व स्थापित करना है। यह हिटलर के नाजी दर्शन का पूर्वाभास था।

जर्मनी ने तेजी से अपनी नौसेना का विस्तार करना शुरू किया। इससे अंगरेज चौंके। विक्टोरिया और उसके जर्मन पति अलवर्ट के कारण अंगरेज जर्मनों से मधुर संबंध की आशा करते आए थे लेकिन सामुद्रिक प्रतिस्पर्द्धा उन्हें कैसे बर्दाश्त होती? कूटनीतिक स्तर पर जर्मनी और इंग्लैंड के बीच वार्ता हुई लेकिन कोई परिणाम नहीं निकला। इंग्लैंड ने जर्मनी से संधि का प्रस्ताव किया जिसे विलियम ने ठुकरा दिया।

दक्षिण अफ्रीका में अंगरेजों के विरुद्ध युद्ध में विलियम ने दिलचस्पी लेनी शुरू कर दी। उसने ट्रांसवाल के राष्ट्रपति क्रूगर को एक सहानुभूति से भरा तार भेजा। ऐसा लगा कि जर्मनी बोअर युद्ध में हस्तक्षेप करेगा। जर्मनी और इंग्लैंड के संबंधों में तनाव बढ़ने

लगा। इधर जर्मनी ने नौसैनिक निर्माण का कार्य इतना तेज कर दिया कि जर्मन नौसेना यूरोप में इंग्लैंड के बाद सबसे अधिक शक्तिशाली हो गई और इंग्लैंड की आशंका पुष्ट होने लगी। अब दोनों देशों की प्रतिस्पर्द्धा बढ़ी। जर्मन नौसेना का शस्त्रीकरण अत्याधुनिक ढंग से होने लगा। जहाजों की संख्या और वजन बढ़ने लगे। उनके तोपों की मारक क्षमता भी बढ़ी। अपने शासन के अंतिम दिनों में तो विलियम ने दुनिया में सबसे पहले पनडुब्बियों का इस्तेमाल शुरू कर दिया था। 1901 में जब विक्टोरिया की मृत्यु हुई तो विलियम लंदन गया। मौके का लाभ उठाकर ब्रिटिश राजनेताओं ने उसे फिर समझौते के लिए तैयार करना चाहा, लेकिन विलियम ने खुले तौर पर आक्रामक रवैया अपनाए रखा और ब्रिटिश प्रतिस्पर्द्धा की परवाह नहीं की। यह पर्याप्त संकेत था कि अब इंग्लैंड को दूसरा रुख अपनाना पड़ेगा।

अब विलियम ने खुलेआम हस्तक्षेप करना शुरू किया। एशिया और अफ्रीका में भी जर्मनी अपनी टांग अड़ाने लगा। विलियम ने मोरक्को संकट के समय शक्ति प्रदर्शन की नीति अपनानी शुरू कर दी। उसने बिस्मार्क की बाल्कन संबंधी नीति भी उलट दी। बिस्मार्क कहा करता था कि 'बाल्कन का बड़े से बड़ा क्षेत्र भी जर्मनी की एक गोली के मूल्य का नहीं है।' वह बाल्कन में हस्तक्षेप निरर्थक समझता था। विलियम ने बाल्कन के उन राज्यों में प्रभाव बढ़ाना शुरू कर दिया जिनमें जर्मन परिवारों के राजा थे; जैसे रूमानिया और बल्गारिया। यूनान का राजपरिवार भी जर्मनी से संबंधित था। इन देशों में जर्मनी की पूंजी लगी। तुर्की के साथ जर्मनी के संबंध बहुत अच्छे हो गए। उसने बर्लिन से बगदाद तक रेलवे लाइन बिछाने की योजना क्रियान्वित करनी शुरू कर दी। इस प्रकार जर्मनी भूमध्यसागर से लेकर फारस की खाड़ी तक एक शक्ति बन गया। यह इंग्लैंड के हितों के सर्वथा विरुद्ध था। युद्ध होने तक तुर्की और बल्गेरिया जर्मनी के पक्ष में चले गए। इस समय यूरोप में द्वितीय महायुद्ध के पहले का वातावरण था। लोग हर कीमत पर शांति बनाए रखना चाहते थे। जर्मनी को अफ्रीका में पूर्वी और पश्चिमी तट पर छोटे छोटे उपनिवेश भी दे दिए गए ताकि विलियम शांत हो जाए, लेकिन यह संभव नहीं था।

कारण यह है कि जर्मन उद्योग उत्पादन के उस स्तर पर पहुंच गया था कि अब उसे अंतर्राष्ट्रीय बाजार चाहिए था। औपनिवेशिक दौड़ में वह पिछड़ गया। जर्मनी के देर से जागने के पहले ही, जिसे इतिहासकार 'देर से जवानी की शुरुआत' (डिलेड एडालसेंस) कहते हैं, सारा विश्व लगभग बंट चुका था। अब विश्व व्यापार में जर्मनी हिस्सा कैसे बंटाए ? समझ बूझकर इंग्लैंड ने दूसरों से जर्मनी को उपनिवेश दिलाने में पहल तो की लेकिन जर्मनी औद्योगिक और सामरिक दृष्टि से गौण स्थान कैसे स्वीकार करता ? उसे बराबर का हिस्सा चाहिए था। जर्मन पूंजीवाद की सुरक्षा और विकास के लिए यह आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी था। इसलिए विलियम के लिए आक्रामक परराष्ट्र नीति अपनाना जरूरी था। वह अपने देश के आर्थिक सत्ताधारी वर्ग के अनुकूल नीति अपनाने के लिए बाध्य था।

धीरे धीरे उसका हस्तक्षेप देखकर पुराने साम्राज्यवादी इंग्लैंड, रूस और फ्रांस

निकट आते गए और आर्थिक स्पर्द्धा में यूरोप बंटकर टूटने लगा। विलियम का रवैया आक्रामक था इसलिए उसे ही प्रथम महायुद्ध के लिए जिम्मेदार ठहराया गया।

ब्रिटेन की परराष्ट्र नीति

किसी भी देश की परराष्ट्र नीति उसके राष्ट्रीय हित को ध्यान में रखकर निर्धारित होती है और यह राष्ट्रीय हित वास्तव में उस देश के आर्थिक हितों से संबंध रखता है। इंग्लैंड ने विश्व के अन्य देशों में सबसे पहले औद्योगिक और पूंजीवादी विकास किया और उसके उपनिवेश सारी दुनिया में फैल गए। उसके साम्राज्य में मानो सूरज कभी डूबता ही नहीं था। उसका साम्राज्य इंग्लैंड की आबादी और उसके क्षेत्रफल से कई सौ गुना बड़ा था। यह साम्राज्य उसके लिए जीवन मरण का प्रश्न था। औद्योगिक विकास सीधे उपनिवेशों के बाजारों से जुड़ा हुआ था और दोनों के लिए सामुद्रिक यातायात ही जीवन स्रोत था। सामुद्रिक मार्गों की सुरक्षा भी आवश्यक थी। इसलिए इंग्लैंड की व्यावसायिक प्रतिष्ठा और नौसेना धीरे धीरे दुनिया में सर्वश्रेष्ठ बन गई। अन्य देशों से संबंध का आधार यह श्रेष्ठता बनाए रखना और निर्बाध व्यापार करते रहना बन गया था। कोई प्रतिरोध पैदा होने पर इंग्लैंड तदनुकूल कूटनीति, हस्तक्षेप या युद्ध से स्थिति यथावत रखना चाहता था। नेपोलियन का प्राणप्रण से विरोध करने का कारण यह था कि नेपोलियन इंग्लैंड की राजनीतिक और व्यावसायिक सर्वोच्चता को चुनौती दे रहा था। उसकी पराजय के बाद वियेना की व्यवस्था में इंग्लैंड की रुचि इसलिए थी कि इस स्थिति की पुनरावृत्ति न हो सके। जैसे जैसे उसे अनुभूत हुआ कि यूरोप अपनी ही समस्याओं में उलझता जा रहा है और यूरोप का कोई देश विश्वव्यापी फलक पर अपनी राजनीति स्थापित नहीं करना चाहता, वैसे वैसे वह निश्चिन्त होने लगा। यूरोप हर अर्थ में इंग्लैंड से पिछड़ा हुआ था और इंग्लैंड से व्यापार पर निर्भर था। जब यूरोप से सहज ढंग से व्यापार चल रहा था तो उलझने से फायदा?

इसका परिणाम यह हुआ कि कैनिंग ने घोषणा कर दी, 'हर देश अपने लिए और ईश्वर हम सबके लिए' अर्थात हस्तक्षेप की नीति का विरोध। धीरे धीरे इंग्लैंड महाद्वीप की राजनीति से अलग होता गया। यूरोप का सबसे शक्तिशाली और सबसे बड़ा राजनेता मेटरनिख भी इंग्लैंड के व्यापक हितों के सामने बौना सा था। यूरोप की ओर से आश्वस्त होकर इंग्लैंड अपना पूंजीवादी विकास चरमोत्कर्ष की ओर ले जाने लगा। इसके लिए शांति और एकाग्र प्रयास की जरूरत थी और इंग्लैंड इसी में व्यस्त हो गया। फलतः ऐसा लगा कि इंग्लैंड अपने घेरे में ही वापस चला गया है और एकाकीपन की नीति लागू कर रहा है। उसका यह 'गरिमामय एकाकीपन' (स्प्लेंडिड आइसोलेशन) थोपा हुआ नहीं, सुनियोजित नीति का परिणाम था।

19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में इंग्लैंड ने यूरोप के देशों से संधि या समझौते नहीं किए। कुल मिलाकर पूर्वी समस्या में उसकी रुचि थी और वह भी साम्राज्य के हितों को ध्यान में रखकर। क्रीमिया के युद्ध और बर्लिन कांग्रेस में किन स्थितियों में इंग्लैंड ने हिस्सा लिया यह हम देख चुके हैं। वहां भी इंग्लैंड ने एक दूरी बनाए रखी और जहां

तक हुआ असंपृक्त भाव से अपना लाभ उठाकर दूर हट जाने की नीति अपनाए रहा।

शती के पूर्वार्द्ध में जिस तरह मैटरनिख की नीति उसे आश्वस्त करती थी उसी तरह उत्तरार्द्ध में बिस्मार्क की नीति। बिस्मार्क बराबर कहता था कि इंग्लैंड और जर्मनी का क्या झगड़ा ? एक स्थल शक्ति है तो दूसरा सामुद्रिक। दोनों एक दूसरे के मामलों में हस्तक्षेप नहीं करते थे। बिस्मार्क की महत्वाकांक्षा यूरोप की सीमाओं में सीमित थी और यूरोप उसकी मुट्ठी में था। इंग्लैंड को और क्या चाहिए था ? उसका एकाकीपन बढ़ता गया। दो पीढ़ियों की इस तरह की नीति अपनाने का परिणाम यह हुआ कि सामुद्रिक मामलों में इंग्लैंड की स्थल सेना उतनी तैयार और आधुनिक नहीं रह गई। इसकी जरूरत भी नहीं समझी जा रही थी। अंत में स्थिति बदलने लगी। फ्रांस से परंपरागत मतभेद फिर पैदा होने लगा। इंग्लैंड ने मिस्र पर कब्जा कर लिया था और फ्रांस ने सूडान स्थित फाशोदा पर। ऐसा लगता था फाशोदा की समस्या को लेकर इंग्लैंड और फ्रांस के बीच युद्ध छिड़ जाएगा। लेकिन दोनों देशों के सेनापतियों, किचनर और मार्शां ने दूरदर्शिता से काम लिया और युद्ध टल गया। फिर भी अफ्रीकी प्रभाव क्षेत्रों को लेकर तनाव बढ़ा। दोनों ही देशों की सरकारें एक दूसरे को शंका की दृष्टि से देखती थीं—ऐसी शंका जो घृणा की सीमा तक पहुंचती थी। इसके पीछे सदियों के वैमनस्य का इतिहास था। स्थितियां जितनी तेजी से बदल रही थीं उतनी तेजी से दोनों देशों के राजनेता अपनी मानसिकता नहीं बदल पा रहे थे। रूस से फिर तनाव बढ़ रहा था क्योंकि रूस का एशियाई विस्तार भारत के लिए खतरा पैदा कर रहा था। पूरब में मंचूरिया और दक्षिण में अफगानिस्तान की ओर बढ़ती रूसी सीमाएं इंग्लैंड को आतंकित कर रही थीं। रूस से निबटने के लिए घेरे से बाहर आना जरूरी होता जा रहा था।

पर वास्तव में जर्मनी के सम्राट विलियम द्वितीय ने समस्या पैदा की थी। बिस्मार्क की नीतियों को उलट देते ही जर्मनी सीधे इंग्लैंड का प्रतिद्वंद्वी बन गया। बाजार की तलाश करता तो इंग्लैंड से टकराता। नौसैनिक विस्तार करता तो भी इंग्लैंड सामने था। शक्ति बढ़ाता तो इंग्लैंड को बुरा लगता। फिर भी इंग्लैंड अपनी नीति छोड़ना नहीं चाहता था। लेकिन दो बातों ने उसे मजबूर कर दिया कि वह नए ढंग से आकलन करे। दक्षिण अफ्रीका के ब्रिटिश उपनिवेशों में डच जाति के लोग भी रहते थे। वहां इंग्लैंड का विरोध बढ़ रहा था। ट्रांसवाल का राष्ट्रपति क्रूगर इस विरोध का प्रमुख केंद्र बनता जा रहा था। विलियम ने उसे तार देकर बधाई दी और इस तरह परोक्ष रूप से उसे इंग्लैंड के विरुद्ध जाने के लिए प्रोत्साहित किया। 19वीं शताब्दी के अंत में जब बोअर युद्ध शुरू हुआ तो ऐसा लगा कि विलियम उसमें हस्तक्षेप करेगा। इधर जर्मनी की सामरिक तैयारी भी आतंकित कर रही थी। विलियम किसी तरह भी समझौते के लिए तैयार नहीं हुआ और उसका रवैया आक्रामक होता गया। जर्मन में उद्योगों की प्रगति भी एक चुनौती बनने लगी थी।

इंग्लैंड जैसा एकाकीपन यूरोप में फ्रांस और रूस भी झेल रहे थे। लेकिन जब रूस और फ्रांस में समझौता हो गया तो इंग्लैंड ने अब अपनी स्थिति समझी। उधर गुप्त

संधियों की वास्तविकता का भंडाफोड़ हो चुका था। सभी जानने लगे थे कि जर्मनी, आस्ट्रिया और इटली की मैत्री का आधार सैनिक संधि ही है। रूस और फ्रांस भी सैनिक न सही राजनीतिक स्तर पर मित्र हो गए थे। इन दोनों ही गुटों से इंग्लैंड को खतरा हो सकता था। क्योंकि एक साथ दो दुश्मन कभी अच्छे नहीं होते।

फ्रांस और रूस की संधि : बिस्मार्क ने पहले फ्रांस को मित्रहीन बनाया। उसने रूस के विरुद्ध षड्यंत्र किया और मित्रता का स्वांग भी भरता रहा। विलियम ने यह स्वांग भी उतार फेंका और अब रूस अकेला पड़ गया। फ्रांस और रूस दोनों ही जर्मनी की नीति से विलग हो गए थे। फ्रांस का अकेले में दम घुट रहा था और रूस का विकास अवरुद्ध था। दोनों ही आतंकित थे। इसलिए दोनों में निकटता स्वाभाविक थी।

आर्थिक कारणों ने इस निकटता को बढ़ावा दिया। रूस का औद्योगिक विकास बहुत पिछड़ा हुआ था। उसके पास पूंजी की भारी कमी थी। फ्रेंच बैंकर रूस में पैसा लगा रहे थे तथा और भी पैसा लगाने के लिए तैयार थे। राजनीतिक स्थिति देखते हुए 1891 में फ्रेंच नौसेना के एक जहाजी बेड़े ने रूसी बंदरगाह क्रांसटाट की यात्रा की। उसका वहां हार्दिक स्वागत हुआ। फ्रांस का उत्साह बढ़ा। एक वर्ष बाद जब रूसी बेड़े ने तूलों की यात्रा की तो फ्रांस ने भी उसका अभिनंदन किया।

दोनों ही देश आश्वस्त हो गए कि उनके प्रति दूसरे देश में सद्भावना है। फ्रांसीसी पूंजी और उद्योग के लिए रूस जैसा विस्तृत बाजार कहां मिलता ? रूस के भूखे अर्थतंत्र को तकनीकी और आर्थिक सहायता इंग्लैंड के अतिरिक्त फ्रांस ही दे सकता था। इससे अधिक क्या चाहिए था। दोनों देशों में निकटता का एक सांस्कृतिक इतिहास भी था, जिसे नेपोलियन ने आक्रमण कर तोड़ दिया था। 18वीं शताब्दी तक रूस के विशिष्ट लोगों के समाज में फ्रेंच भाषा और संस्कृति को सबसे अधिक सम्मान मिलता था। सभा सोसाइटी में फ्रेंच भाषा में बातचीत कर लोग अपनी श्रेष्ठता प्रदर्शित करते थे। फ्रेंच साहित्य और दर्शन की जानकारी सुसंस्कृत होने का प्रमाण थी। इस परंपरा को नई राजनीतिक स्थिति ने नया स्वरूप दिया और औद्योगिक तथा सांस्कृतिक संबंध प्रगाढ़ होने लगे। इसी दौरान एक औपचारिक संधि की भी बात चलती रही। अलेक्जेंडर की मृत्यु के बाद निकोलस ने उसे तत्काल निश्चित रूप देना चाहा और 1897 में फ्रांस और रूस में संधि हो गई।

आंग्ल जापानी संधि : 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध की सबसे ऐतिहासिक घटना मध्ययुगीन जापान का एक आधुनिक शक्तिशाली राज्य के रूप में अभ्युदय था। पचास वर्षों में इतना क्रांतिकारी परिवर्तन अभूतपूर्व था। जैसे ही जापान का औद्योगिक विकास हुआ उसने प्रसारवादी नीति अपनाई। जब उसने चीन जैसे विशाल देश को पराजित कर दिया तो एशिया में उसका मुकाबला न रहा। फिर भी उसे अंतर्राष्ट्रीय राज्यों में बड़ी शक्ति का स्थान नहीं प्राप्त था।

रूस के बढ़ते विस्तार से आक्रांत और अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में एकाकी इंग्लैंड 20वीं शताब्दी के प्रारंभ में अपने को मित्रविहीन पाकर चिंतित था। यूरोप में जर्मनी ने बार बार संधि प्रस्ताव ठुकराया और आक्रामक रुख अपना रहा था। फ्रांस से पुश्तैनी

दुश्मनी थी। अब रूस से समझौता भी संभव नहीं था। ऐसी स्थिति में जापान की बढ़ती शक्ति देखकर इंग्लैंड ने उसी से शुरुआत करने का निश्चय किया। इस प्रकार इंग्लैंड के आर्थिक हितों का विस्तार होता और एशिया में एक मित्र भी मिल जाता। ब्रिटिश कूटनीतिज्ञों की दूरदर्शिता ने स्थितियों का सही आकलन करना शुरू कर दिया था।

जापान को भी पश्चिमी अनुभव की जरूरत थी। उसे अंतर्राष्ट्रीय सम्मान चाहिए था। परस्पर लाभ की संभावना से दोनों देशों में वार्ता शुरू हुई। रूस दोनों के लिए ही कांटा था। दोनों के हितों में कोई संघर्ष नहीं था। परिणाम यह हुआ कि 1902 में दोनों देशों में संधि की घोषणा से एशिया और यूरोप दोनों चकित रह गए। पिछड़े और यूरोपीय देशों के कुचक्रों के शिकार एशिया के किसी भी देश के साथ ब्रिटेन की समानता के आधार पर संधि होना एक नई बात थी। प्रशांत महासागर और पूर्वी एशिया में ब्रिटिश हितों की अब जापान निगरानी कर सकता था। उधर से आश्वस्त होकर इंग्लैंड अब यूरोपीय राजनीति में सक्रिय हो सकता था। इस संधि से उत्साहित होकर जापान ने रूस के विरुद्ध विस्तारवादी और आक्रामक नीति अपनाई और 1905 में अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में दैत्य और जैक की कहानी चरितार्थ हुई। रूस की पराजय से एशिया में नई प्रेरणा आई ही, रूस और इंग्लैंड में भी समझौते की पृष्ठभूमि तैयार हुई।

आंग्ल फ्रेंच मित्रता : अब फ्रांस में इंग्लैंड से भी निकटता का वातावरण बनने लगा क्योंकि इंग्लैंड का शासक एडवर्ड सप्तम फ्रांस से संबंध सुधारना चाहता था। वास्तव में वह एक सुसंस्कृत शासक था और फ्रांस के समाज और कला साहित्य से उसे लगाव था। पेरिस के प्रति उसके मन में आकर्षण था। इस समय ब्रिटिश विदेश मंत्री ग्रे भी फ्रांस के अनुकूल ही था। दूसरी ओर फ्रांस का विदेश मंत्री दलकासे इंग्लैंड का प्रशंसक था। इस प्रकार इंग्लैंड में फ्रांस प्रेमी और फ्रांस में इंग्लैंड प्रेमी लोगों का प्रभाव बढ़ रहा था। इस भावनात्मक निकटता का आधार राजनीतिक आवश्यकता थी। दोनों देशों की सरकारें ही जर्मनी के नेतृत्व में बने त्रिराष्ट्र संघ से आतंकित थीं। रूस की मित्रता फ्रांस के लिए उतनी आश्वस्त करने वाली नहीं थी जितनी इंग्लैंड की। इंग्लैंड फ्रांस को साथ लेकर जर्मनी को नीचा दिखा सकता था। स्थिति कुछ ऐसी ही थी जैसे कि एक बाजार में दो वनिए हों जो आपस में जलते भुनते हों लेकिन यदि तीसरा बनियां बाहर से आ जाए तो उसे टिकने न देने के लिए दोनों एक हो जाएंगे। उसी प्रकार इंग्लैंड और फ्रांस आपस में लड़ते झगड़ते थे लेकिन तीसरे प्रतिद्वंद्वी जर्मनी के पैदा होने पर उसे मिलकर नीचा दिखाना जरूरी था।

जब ब्रिटेन ने मिस्र पर कब्जा किया तो फ्रांस असंतुष्ट हुआ था क्योंकि इससे उत्तरी अफ्रीका और मध्यपूर्व में इंग्लैंड की अपनी शक्ति काफी बढ़ गई थी। मिस्र पर नेपोलियन के समय से ही फ्रांस अपना विशेष हक समझता था। एक फ्रेंच इंजीनियर लेसेप ने ही स्वेज नहर का निर्माण किया था। स्वेज नहर चलाने वाली कंपनी में फ्रांस की पूंजी लगी हुई थी। ऐसी स्थिति में मिस्र पर इंग्लैंड का राजनीतिक प्रभुत्व फ्रांस कैसे बर्दाश्त करता? लेकिन दूसरा रास्ता भी नहीं था। उत्तरी अफ्रीका में ही जब फाशोदा पर फ्रांसीसी मेजर मार्शां ने कब्जा कर लिया तो अंगरेज बहुत बौखलाए। युद्ध

तक की संभावना पैदा हो गई थी, लेकिन मामला कूटनीतिक स्तर तक ही रह गया। फ्रांस फाशोदा से हट गया। इस तरह संबंधों के सुधार में कठिनाइयां तो थीं लेकिन परिस्थितियों का दवाव भी बढ़ता जा रहा था। दोनों देशों में बढ़ती हुई सद्भावना और सरकारों के प्रयास का परिणाम यह हुआ कि 1904 में आंग्ल-फ्रेंच समझौता हुआ। दोनों देशों ने एक दूसरे के प्रभाव क्षेत्र स्वीकार किए। फ्रांस ने मिस्र पर इंग्लैंड का प्रभुत्व स्वीकार कर लिया और इंग्लैंड ने मोरक्को पर फ्रांस का प्रभुत्व। अफ्रीका, दक्षिणी पूर्वी एशिया और उत्तरी अमरीका—जहां जहां दोनों देशों के औपनिवेशिक हित टकराते थे या उपनिवेशों की सीमाओं का विवाद था इस समझौते से परस्पर सद्भाव कायम हो गया। दोनों देशों की जनता और सरकारों के परस्पर सहयोग और सद्भावना के लिए तैयार होने पर उनमें मित्रतापूर्ण समझौता भी हो गया।

यह समझौता कोई औपचारिक संधि नहीं थी। त्रिगुट देशों की संधि की तरह इसमें आक्रमण के समय सहायता का प्रावधान नहीं था फिर भी दो शत्रु देशों का मित्रता के लिए तैयार होना काफी महत्वपूर्ण है। अब फ्रांस मित्रविहीन नहीं था और यूरोप में उसका महत्व बढ़ गया था। दूसरी ओर इंग्लैंड का एकाकीपन भी इससे समाप्त हो गया। उसने यूरोप की समस्याओं में नजदीक से रुचि लेनी शुरू कर दी, क्योंकि अब वह फ्रांस के साथ सहयोग करके जर्मनी की गतिविधियों पर भी नजर रख सकता था।

इंग्लैंड, फ्रांस और रूस का समझौता (ट्रिपल आंतांत)

दीर्घकाल के एक शत्रु से सौहार्द्रपूर्ण संबंध स्थापित होने के वाद दूसरे शत्रु से भी मित्रता की संभावना वढ़ गई। इंग्लैंड और रूस के संबंध कटु थे। एशिया में रूस और जापान के संबंध बिगड़ते जा रहे थे और जापान से इंग्लैंड ने 1902 में संधि कर ली थी। जापान ने रूस को 1905 के युद्ध में पराजित कर आश्चर्यजनक सफलता प्राप्त की थी। रूस की नजर में जापान के इस साहस के कारण इंग्लैंड से उसकी मित्रता भी थी। उत्तरी सागर में इंग्लैंड की मछली मारने वाली नौकाओं पर रूसी जहाजी वेड़े ने गोली चलाई थी और विस्फोट होते होते वचा था। ऐसी स्थिति में इंग्लैंड और रूस में संबंध सुधार की संभावना बहुत दूर थी। लेकिन स्थितियां तेजी से वदल गईं।

फ्रांस और रूस के संबंध तेजी से वढ़ रहे थे और द्विराष्ट्रीय संधि मजबूत होती जा रही थी। फ्रांस के दो मित्रों रूस और इंग्लैंड में संबंध तनावपूर्ण होने से वड़ी कठिनाई होती थी। उत्तरी सागर के मामले के वाद रूस ने खेद प्रकट किया और क्षतिपूर्ति कर दी। इससे एक अनुकूल स्थिति पैदा हुई। दोनों देशों में वार्ता शुरू हुई और इंग्लैंड तथा फ्रांस में हुए समझौते के आधार पर इन दो देशों के वीच की समस्याओं के निदान की भी बात सोची जाने लगी। दोनों देशों के वीच संघर्ष के मुद्दे एशिया में भी थे। समस्या प्रभाव क्षेत्र की थी। इस विषय में समझौता हो गया। रूस ने अफगानिस्तान पर इंग्लैंड का प्रभाव मान लिया। इससे एक कांटा निकल गया क्योंकि ब्रिटिश सरकार हमेशा अफगानिस्तान में रूस के हस्तक्षेप से डरती थी। अफगानिस्तान उसके लिए रूस और भारत के बीच का देश (बफर स्टेट) था जहां रूस का प्रभाव न बढ़ने देने के लिए

इंग्लैंड सब कुछ करने के लिए तैयार था। रूसी आश्वासन से उसे संतोष हुआ। इसी प्रकार तिब्बत में भी रूस का भय बना रहता था। भारत के तत्कालीन वायसराय लार्ड कर्जन ने तिब्बत पर रूसी प्रभाव समाप्त करने के लिए आक्रमण तक कर दिया था। यह तय हुआ कि रूस और इंग्लैंड दोनों ही तिब्बत में प्रभाव नहीं बढ़ाएंगे और वह एक तटस्थ बिचौलिया प्रदेश रहेगा। इसी तरह ईरान की उत्तरी सीमा पर रूसी जमाव रहता था और दक्षिण में फारस की खाड़ी में इंग्लैंड का प्रभाव क्षेत्र था। यहां निश्चित हुआ कि ईरान के उत्तरी हिस्से पर रूस का और दक्षिणी हिस्से पर इंग्लैंड का प्रभाव रहेगा। इस तरह समस्याओं पर एकमत हो जाने के बाद 1907 में दूसरा आश्चर्य यह हुआ कि आंग्ल रूसी समझौते पर हस्ताक्षर हो गया।

अब इंग्लैंड फ्रांस का दोस्त था और रूस का भी। फ्रांस और रूस मित्र थे ही। तीनों देशों में अलग अलग समझौते हो चुके थे। ऐसी स्थिति में तीनों के बीच एक समान समझौता हो जाना स्वाभाविक था। त्रिगुट संधि के समानांतर एक त्रिराष्ट्र समझौता भी हो गया। एक तरफ जर्मनी, आस्ट्रिया और इटली थे तो दूसरी ओर इंग्लैंड, फ्रांस और रूस। इतिहासकार बर्न्स के अनुसार 1890 और 1907 के बीच एक कूटनीतिक क्रांति हुई जिसने बिस्मार्क की सफलताओं पर पानी फेर दिया। फर्क यही था कि पहले गुट के देशों में सैनिक संधि थी और दूसरे गुट के बीच मित्रतापूर्ण सद्भाव। ऐसा भी समय आया जब पहला गुट टूट गया। इटली की पूर्णता की मांग के रास्ते में आस्ट्रियाई साम्राज्य ही था। इसलिए दोनों के बीच संधि स्थाई नहीं हो सकती थी। बिस्मार्क के पतन के बाद ही इटली और फ्रांस के बीच न केवल विवाद समाप्त होने शुरू हो गए थे बल्कि दोनों के बीच सहयोग भी बढ़ा था। यह भी तय हो गया कि यदि जर्मनी ने फ्रांस पर हमला किया तो इटली तटस्थ रहेगा। अफ्रीकी उपनिवेशों में भी सहयोग होने लगा था। दूसरी ओर बाल्कन को लेकर इटली और रूस में आपसी समझदारी बढ़ रही थी।

मोरक्को का संकट

यूरोप की यह गुटबंदी कितनी गहरी है और इसके परिणाम कितने खतरनाक हो सकते हैं यह प्रथम युद्ध के पहले ही स्पष्ट होने लगा था। इसका पहला पूर्वाभास मोरक्को में हुआ। उत्तरी अफ्रीका में अल्जीरिया पर फ्रांस का प्रभुत्व था। बगल में ही मोरक्को था। उत्तरी अफ्रीका में तुर्क साम्राज्य के क्षेत्रों में मोरक्को ही बचा था जहां यूरोपीय शक्तियां पूरी तरह हावी नहीं हुई थीं। मोरक्को का अंतिम शक्तिशाली सुलतान मूलेहसन 1894 में मर गया। इसके बाद की स्थिति को मोरक्को स्थित ब्रिटेन के कोंसुल जनरल ने विद्रोही जनजाति, भ्रष्ट प्रशासकों, सामान्य निर्धनता और निराशा का ढीला-ढाला समूह (यू लूज एग्लोमरेशन आफ टर्बुलेंट ट्राइब्स, करप्ट गवर्नर्स ऐंड जनरल पावर्टी ऐंड डिस्ट्रेस) कहा था। जो एक हकीकत थी। ऐसी स्थिति में यूरोप के शक्तिशाली देशों में, जिन्होंने सारा अफ्रीका आपस में बांट लिया था, अपने राष्ट्रीय हितों के नाते मोरक्को को प्रथम महायुद्ध के पहले तीन बार विस्फोटक संकट का केंद्र बनाया।

मोरक्को के पड़ोसी अल्जीरिया पर फ्रांस का प्रमुत्व था। मोरक्को के दक्षिण में स्थित इक्वेटोरियल अफ्रीका भी फ्रांसीसी उपनिवेश था। इन दोनों के बीच संचारसाधन के लिए मोरक्को से गुजरना आवश्यक था। अल्जीरिया और मोरक्को के बीच की दक्षिणी सीमा कभी अंतिम रूप से निर्धारित नहीं की गई थी। मोरक्को में फ्रांस के व्यावसायिक हितों की रक्षा का प्रश्न भी लगातार बना रहता था। इन कारणों से मोरक्को और फ्रांस के संबंध तनावपूर्ण थे। दूसरी ओर मोरक्को के उत्तरी पश्चिमी सीमांत के निकट स्थित जिब्राल्टर नामक टापू पर ब्रिटेन का कब्जा था। उसकी मोरक्को में व्यावसायिक दिलचस्पी भी थी। इस तरह फ्रांस और ब्रिटेन के बीच संघर्ष की संभावना थी। जर्मन सम्राट विलियम द्वितीय इस संभावना को यथार्थ में बदलना चाहता था। क्योंकि वह इंग्लैंड तथा फ्रांस के बीच बढ़ते संबंधों के कारण सशंकित एवं आतंकित था।

विलियम द्वितीय 1905 में स्वयं तौंजियर आ पहुंचा ताकि मोरक्को एक सार्वभौम राज्य की तरह स्थापित हो जाए। लेकिन असर उल्टा ही हुआ। फ्रांस और ब्रिटेन दोनों ने इसे जर्मनी का आक्रामक तेवर माना क्योंकि इस क्षेत्र में जर्मनी की कोई पारंपरिक दिलचस्पी नहीं थी। दूसरे मोरक्को ने जर्मनी से मदद की अपेक्षा करनी शुरू कर दी जो बिना युद्ध का जोखिम उठाए जर्मनी दे नहीं सकता था। फ्रांस और जर्मनी के संबंध सुधारने के लिए जर्मनी ने फ्रांस के इंग्लैंडप्रेमी विदेशमंत्री देलकासे के इस्तीफे को आवश्यक बताया। देलकासे के इस्तीफे ने फ्रांस की जनता को और भी जर्मनी विरोधी बना दिया और इंग्लैंड की सहानुभूति भी मिली।

मोरक्को की स्थिति स्पष्ट नहीं थी। प्रभाव क्षेत्र का झगड़ा बना हुआ था। जर्मन चांसलर ब्यूलो के आग्रह पर मोरक्को संकट के समाधान के लिए एक अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन 1906 अल्जेसिरास में बुलाया गया। इसमें यूरोप के प्रमुख देशों के साथ संयुक्त राज्य अमेरिका भी शामिल हुआ। सम्मेलन में आस्ट्रिया के अलावा किसी ने जर्मनी का पक्ष नहीं लिया—इटली ने भी नहीं। समझौते में जर्मनी को एकमात्र लाभ यह हुआ कि मोरक्को के राजकीय बैंक में जर्मनी को भी कुछ शेयर प्राप्त हो गए। इस प्रकार जर्मनी मोरक्को के वित्तीय शोषण का भागीदार बन गया। मोरक्को की पुलिस-व्यवस्था के संबंध में यह निश्चय किया गया कि एक स्विस इंस्पेक्टर जनरल के अधीन संयुक्त फ्रांसीसी और स्पेनी नियंत्रण में अंतर्राष्ट्रीय पुलिस दल का संगठन होगा। वित्तीय व्यवस्था को राजकीय बैंक के माध्यम से विभिन्न देशों को पूंजी लगाने की छूट देकर अंतर्राष्ट्रीय बना दिया गया।

नाम मात्र की स्वतंत्रता के बावजूद मोरक्को पूरी तरह फ्रांस के नियंत्रण में आ गया और जर्मनी बहुत बेइज्जत हुआ। जहां ट्रिपुल एलायंस की दरार और कमजोरी स्पष्ट हो गई वहीं आंग्ल-फ्रांसीसी संबंध दृढ़तर हो गया।

दो वर्षों बाद ही कासाब्लांका नामक मोरक्को के नगर में एक और संकट पैदा हो गया। एक दूतावास में छिपे तीन भगोड़ों को फ्रांसीसियों ने गिरफ्तार करना चाहा पूर्वग्रहों के नाते यह छोटी सी घटना विस्फोटक तनाव का कारण बन गई। लेकिन इस बार हेग में स्थापित मध्यमस्थता व्यवस्था के माध्यम से संकट टल गया। दोनों देशों

ने समझौता कर लिया। जर्मनी ने मोरक्को पर फ्रांस की राजनैतिक सर्वोच्चता स्वीकार कर ली और फ्रांस ने जर्मनी के आर्थिक हितों के विरुद्ध कार्य न करने का वादा किया।

मोरक्को का संकट इससे समाप्त नहीं हुआ। समग्र समय पर वहां विद्रोह और अन्य घटनाएं होती रहीं। 1911 में फ्रांस ने फेज नगर पर कब्जा कर लिया। उसका कहना था कि वहां के यूरोपीय निवासियों के लिए खतरा पैदा हो गया था। जर्मनी ने इसका विरोध किया। विलियम ने शक्ति प्रदर्शन के लिए अपना सैनिक जहाज 'पैंथर' अगादीर बंदरगाह में भेज दिया और उस पर कब्जा करने की तैयारी करने लगा। इंग्लैंड ने सख्ती से इसका विरोध किया। जर्मनी और शान्ति के पक्षधर लायड जार्ज ने भी चेतावनी दी कि इंग्लैंड ऐसी बेइज्जती नहीं बर्दाश्त करेगा। जर्मनी इतनी जल्दी सामना करने के लिए तैयार नहीं था इसलिए यह योजना छोड़ दी गई। अब पुनः वार्ता की स्थिति आ गई थी। परस्पर वार्ता और सौदेबाजी के बाद फ्रांस ने अपने कांगों स्थित उपनिवेश का एक भाग (1,00,000 वर्ग मील) जर्मनी को देना स्वीकार कर लिया और जर्मनी ने मोरक्को पर फ्रांस का अधिकार मान लिया। मोरक्को एक फ्रांसीसी 'संरक्षित क्षेत्र' (प्रोटेक्टोरेट) बन गया।

मोरक्को का वास्तविक संकट ज्यों का त्यों बना रहा और वहां के निवासियों की उपेक्षा कर यूरोपीय देशों ने आपस में सौदेबाजी कर ली। इससे यह स्पष्ट हो गया कि जर्मनी साम्राज्य के लिए भूखा है और इसके लिए वह कुछ भी कर सकता है। दूसरी ओर यह भी सिद्ध हो गया कि इंग्लैंड और फ्रांस के हितों में जर्मनी के विरुद्ध अनुकूल समीकरण बन गया है। इस प्रकार यूरोप की गुटबंदी और अधिक सामने आ गई और तनाव बढ़ता गया।

बाल्कन की समस्या अपने नए दौर में थी और वहां एक ओर तुर्की के विरुद्ध और दूसरी ओर वहां के राष्ट्रों में तनाव बढ़ता जा रहा था। युद्ध तक की स्थिति आ गई थी, लेकिन तनाव इतना बढ़ चुका था कि कोई भी पहल करने के लिए तत्पर नहीं था। बाल्कन में आस्ट्रिया विरोधी भावना बढ़ने से मित्रराष्ट्र खुश थे। किसी को यह पता नहीं था कि प्रथम महायुद्ध के बीज यहीं पनप रहे थे।

शांति के प्रयास

एक तरफ तनाव बढ़ रहा था, दूसरी ओर तनाव कम करने के प्रयास भी जारी थे। अब तक का इतिहास यह था कि किसी बड़े युद्ध के बाद शांति के उपाय सोचे जाते थे। तीस वर्षीय युद्ध के बाद ग्रोसियस ने 'युद्ध और शांति के नियम' बनाए। नेपोलियन के युद्धों के बाद वियेना कांग्रेस, होली एलायंस और यूरोपीय व्यवस्था ने युद्ध नियंत्रित करने के सही या गलत प्रयास किए थे। लेकिन शस्त्रास्त्रों की होड़ इतनी बढ़ गई थी, युद्ध की संभावना इतनी भयावह हो गई थी, विनाश इतना निकट था कि एक तरफ यूरोप की शक्तियां निरंतर अपने को शस्त्रसज्जित करती जा रही थीं तो दूसरी ओर शांति के प्रयास भी हो रहे थे—ठीक उसी तरह जैसे आज हो रहे हैं।

रूस के जारों का इतिहास अंतर्द्वंद्व का इतिहास है। एक तरफ वे निरंकुश और निर्मम होते थे और दूसरी ओर मानवतावादी भी। अलेक्जेंडर प्रथम और तृतीय ने इसका स्पष्ट परिचय दिया था। जार निकोलस द्वितीय ने शस्त्रीकरण की होड़ कम करने के लिए हालैंड की राजधानी हेग में सम्मेलन बुलाया। यह होड़ मुख्यतः नौसेना के क्षेत्र में जारी थी और इसके कारण सारी बड़ी शक्तियां आर्थिक दबाव महसूस कर रही थीं। 1899 में पहली बार सम्मेलन हुआ। केवल इस बात पर ही सहमति हो पाई कि सामान्य स्तर पर सबकी सहमति से निरस्त्रीकरण होना चाहिए। अन्य मुद्दों पर सहमति नहीं हो सकी। लेकिन मध्यस्थता के लिए एक स्थायी न्यायालय के गठन का निर्णय लिया गया जो अंतर्राष्ट्रीय झगड़ों में बीच बचाव कर सकता था और उलझे हुए प्रश्नों पर मत दे सकता था; लेकिन ये प्रश्न तभी सामने लाए जा सकते थे बशर्ते कि संबद्ध देश अपनी सहमति दें। यह एक ऐसा प्रस्ताव था जिसे कभी क्रियान्वित नहीं किया जा सकता था।

इस सम्मेलन के निर्णयों का कोई असर नहीं हुआ था और शस्त्रीकरण की होड़ और अधिक बढ़ गई थी। इसलिए 1907 में हेग में ही दूसरा सम्मेलन बुलाया गया। यहां युद्ध की नृशंसता कम करने के लिए नियम बनाए गए। लेकिन इस बात की कोई गारंटी नहीं थी कि इन नियमों का कोई पालन करेगा ही; विशेषकर यदि उसे अपना पलड़ा हल्का पड़ने का डर हो। निरस्त्रीकरण के संबंध में इस बार भी केवल एक ही प्रस्ताव पारित हो सका।

युद्ध की ओर तेजी से बढ़ रहे यूरोप में किसी को भी इन सम्मेलनों की परवाह नहीं थी। फिर भी आदर्शवादिता का मुखौटा लगाए रखने के लिए इस तरह के प्रयत्नों को नकारा नहीं जाता था और सभी देश इसमें हिस्सा लेने में कोई नुकसान नहीं समझते थे। निरस्त्रीकरण के इतिहास में आज तक यही होता रहा है। युद्ध के विस्फोट में हेग की आवाजें खो गईं लेकिन युद्ध शांत होने पर जब वर्साई में संधि-वार्ता चल रही थी तो हेग की गूंज भी सुनाई पड़ी और 'लीग आफ नेशंस' की स्थापना में युद्धपूर्व के प्रयत्नों का हाथ था। हेग में ही अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय की स्थापना हेग के पहले के प्रयत्नों के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन जैसा था।

प्रथम महायुद्ध के पहले अंतर्राष्ट्रीय संबंधों के पर्यवेक्षण और विश्लेषण से स्थितियां और स्पष्ट होती हैं। यूरोप के देशों का औद्योगिक विकास इस सीमा तक पहुंच गया था कि अब आर्थिक और उसी के अनुकूल राजनीतिक संबंधों को नया स्वरूप देना आवश्यक हो गया था। ज्यों ज्यों पूंजीवादी विकास हो रहा था त्यों त्यों व्यक्तिगत और अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में भावनाओं और परंपराओं का महत्व कम होता जा रहा था। विशुद्ध आर्थिक हितों के विश्वव्यापी परिप्रेक्ष्य को सामने रखना जरूरी होता जा रहा था। एक दूसरा पक्ष यह भी उजागर हो रहा था कि अब विकास पर एक दो देशों का एकाधिकार समाप्त हो गया था और प्रतिस्पर्द्धा व्यापक होती जा रही थी। पूंजीवादी साम्राज्यवादी विकास की यह अनिवार्य शर्त होती है कि नियंत्रित बाजारों पर एकाधिकार और प्रभुत्व कायम हो। 19वीं शताब्दी के अंत तक पश्चिमी यूरोप के अधिकांश देशों ने एशिया और अफ्रीका

को आपस में बांट लिया था। छोटे से वेल्जियम के पास भी उससे कई गुना बड़ा अफ्रीकी उपनिवेश कांगो था। स्पेन और पुर्तगाल जैसे पिछड़े देशों के पास अफ्रीका और एशिया में उपनिवेश थे। इस लूटपाट का सबसे बड़ा हिस्सा इंग्लैंड और उसके बाद फ्रांस के अधिकार में था। जर्मनी और इटली के एकीकरण के बाद उन्हें भी बाजारों की जरूरत पड़ी। अब तक सारे बाजार बंट चुके थे इसलिए पुराने मालिकों से संघर्ष अनिवार्य था। यही संघर्ष अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में परिलक्षित होने लगा।

इसी बीच जापान विकसित और शक्तिशाली होकर यूरोपीय शक्तियों की बराबरी का दर्जा पा गया था। जापान ने रूस जैसी बड़ी यूरोपीय ताकत को पराजित कर यूरोप की अजेयता का भ्रम तोड़ा। जापान को इंग्लैंड ने बराबरी का दर्जा देकर 1902 में उससे संधि कर ली थी। विश्व में जापान के विकास को यह पहली बार औपचारिक स्वीकृति प्राप्त हुई। इसके बाद किसी अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था में जापान को उपेक्षा की दृष्टि से नहीं देखा जा सका।

जब यह कहा जाता है कि 1871 और 1914 के बीच का काल 'अंतर्राष्ट्रीय अराजकता और सशस्त्र शांति' (इंटरनेशनल एनार्की ऐंड आर्म्ड पीस) का युग था तो एक वास्तविकता को रेखांकित किया जाता है।

महायुद्ध पूर्व के अंतर्राष्ट्रीय संबंधों पर विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि यूरोप के राजनेता अपने देशों के आर्थिक हितों के गुलाम थे और आदर्शवादी नारे पूंजीवादी समाज में खोखले सावित होते जा रहे थे। मुनाफाखोरी राष्ट्रीय स्वरूप धारण कर चुकी थी और बाजारों की लड़ाई बढ़ रही थी। तनाव बढ़ाने के लिए स्पष्ट रूप से जिम्मेदार भले ही एक दो व्यक्ति हों, वास्तविक जिम्मेदारी पूरी व्यवस्था पर थी जिसकी जकड़ में संपूर्ण पश्चिमी जगत आ गया था।

10

प्रथम महायुद्ध

बर्ट्रेंड रसेल ने लिखा है कि यूरोप के राजतंत्रों ने फ्रांस की क्रांति को नष्ट करना चाहा और नेपोलियन पैदा कर दिया। नेपोलियन ने प्रशा को नष्ट करना चाहा और फिक्टे को जन्म दिया। फिक्टे से बिस्मार्क तक की यात्रा एक सहज विकास क्रम का रूप है। बिस्मार्क ने फ्रांस को कुचलना चाहा था और वहां के नस नस में ऐसी भावना पैदा कर दी जिससे प्रतिहिंसा पैदा हुई और विद्वेष तथा घृणा से प्रथम महायुद्ध का सूत्रपात हुआ।

सेदां के युद्ध के बाद फ्रांसीसी साहित्यकार विक्टर ह्यूगो ने कहा था कि आज से इन दो राष्ट्रों—फ्रांस और जर्मनी पर नजर रखनी चाहिए। इन्हीं के द्वारा भविष्य निर्धारण होगा और यह सच है कि प्रथम महायुद्ध का एक प्रत्यक्ष कारण इन्हीं दो देशों के बीच का वैमनस्य था। हालांकि प्रथम महायुद्ध के कारण पहले के अंतर्राष्ट्रीय संबंधों के अध्ययन में स्पष्ट हो गए हैं, परंतु इन कारणों को एक ओर औद्योगिक विकास के संघर्ष में देखना होगा तो दूसरी ओर यूरोप में बढ़ते अविश्वास के कारण शस्त्रीकरण और तनाव के विस्तार में। ब्रिटिश विदेश मंत्री ग्रे ने बारूद के ढेर पर आसीन यूरोप को देखकर अपने अंतिम दिनों में बड़े दुख के साथ कहा था: 'चारों ओर चिराग बुझते जा रहे हैं और अपने जीवन में उन्हें फिर जलते देख पाने की संभावना नजर नहीं आती।' यह निराशा अकारण नहीं थी।

यूरोप में जब से राष्ट्रीय राज्य बने थे तब से उनके परस्पर संघर्ष भी जारी रहे। उसके पहले रियासतों में आपसी झगड़े होते ही रहते थे, लेकिन ये झगड़े सीमित दायरे में थे। 16वीं शताब्दी में राज्यों का नया स्वरूप सामने आने पर 'तीस वर्षीय युद्ध' शुरू हुए। 18वीं शताब्दी के अंत में फ्रांस की क्रांति से आई राष्ट्रीय चेतना के बाद युद्धों का जो सिलसिला शुरू हुआ, वह नेपोलियन के पतन के बाद ही समाप्त हुआ। इन दोनों बड़े युद्ध से भी बड़ी घटनाएं 19वीं शताब्दी में हुईं।

औद्योगिक क्रांति के विस्तार का परिणाम यह हुआ कि पश्चिमी यूरोप के देशों में उत्पादन का तेजी से मशीनीकरण हुआ था। उत्पादन के इस नए तरीके की स्थिति यह है कि आवश्यकता से अधिक उत्पादन होने की स्थिति शीघ्र पैदा हो जाती है। यह उत्पादन पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के अंतर्गत हो रहा था, इसलिए यह उपभोक्ता की आवश्यकता और उसकी क्रय क्षमता ध्यान में रखकर नहीं बल्कि मुनाफे को ध्यान में रखकर नियंत्रित होता था। मुनाफाखोरी मूल्य सिद्धांत से भी जुड़ी होती है।

यह विस्तार राष्ट्रीय सीमाओं में बांधा नहीं जा सकता। निर्यात तथा एक सीमा

तक आयात भी अनिवार्य हो जाते हैं। निर्यात व्यापार अंतर्राष्ट्रीय बाजार के स्वभाव और उसके नियामक तत्वों के अनुसार ही हो सकता है। यहां अंतर्राष्ट्रीय प्रतिस्पर्द्धा होती है क्योंकि सभी उत्पादक अपना माल खपाना चाहते हैं। इससे बचने का महज एक तरीका था एकाधिकार। यह एकाधिकार बिना राजनीतिक सत्ता के संभव नहीं था। इसीलिए 19वीं शताब्दी के बढ़ते औद्योगीकरण के साथ यूरोपीय राज्यों की नीति विस्तारवादी होती जा रही थी। पूंजीवाद ने साम्राज्यवाद को अनिवार्य बना दिया था।

इस पूंजीवादी विकास में ही एक अंतर्विरोध निहित था। इसे मार्क्स ने 19वीं शताब्दी में ही अपने वैज्ञानिक विश्लेषण के आधार पर देखा था। औद्योगिक क्षेत्र में इंग्लैंड की शक्ति का कोई प्रतिद्वंद्वी नहीं था। तब भी इंग्लैंड ने नेपोलियन जैसे पुरातन-पंथी शक्ति को तोड़कर ही दम लिया। यूरोप में भी जब औद्योगिक विकास शुरू हुए तो इंग्लैंड ने यूरोप से अपने को खींच लिया और अपने औपनिवेशिक साम्राज्य को दृढ़ करने लगा। लेकिन जब यूरोप में इंग्लैंड जैसी ही आर्थिक शक्ति पैदा हो गई तो प्रतिस्पर्द्धा ने बढ़कर संघर्ष का स्वरूप अख्तियार कर लिया।

1918 तक चलने वाले महायुद्ध में 30 वर्षीय युद्ध से कई गुना अधिक विनाश हुआ था। इतिहासकार फिशर के अनुसार इस महायुद्ध में पुरानी दुनिया जलकर खाक हो गई और उसका फिर से निर्माण आवश्यक हो गया। इस युद्ध का थोड़ा विस्तार से विश्लेषण करने पर ही स्पष्ट होगा कि विश्व के लगभग सभी देशों को इस युद्ध में क्यों शामिल होना पड़ा।

धीरे धीरे राष्ट्रीय प्रतिस्पर्द्धा बढ़ती जा रही थी। 16वीं शताब्दी से ही राष्ट्रवाद ने राजनीतिक शक्ति के रूप में पनपना शुरू कर दिया था। नेपोलियन के पतन के बाद सारे यूरोप में राष्ट्रवाद तेजी से उभर रहा था। इटली और जर्मनी के एकीकरण के बाद इस स्पर्द्धा में तेजी आई। अब तक स्पर्द्धा स्थानीय स्तर की ही हो सकती थी क्योंकि इंग्लैंड और फ्रांस के अतिरिक्त यूरोप के देशों में कोई भी ऐसी शक्ति नहीं थी जिसके हित विश्व-व्यापी हों। लेकिन औद्योगिक क्रांति का विस्तार होते ही हितों का भी विस्तार हो गया। इंग्लैंड, फ्रांस, इटली, जर्मनी रूस ही नहीं छोटे देश भी अपने राष्ट्र के लिए कुछ भी करने को तैयार थे। यह हवा एशिया तक पहुंची और जापान की आक्रामक राष्ट्रवादिता इसका स्पष्ट प्रमाण थी। इसी उत्कृष्ट राष्ट्रवादी चेतना के फलस्वरूप हर देश अपनी नीति के अतिरिक्त दूसरे पक्ष को किसी तरह भी न्यायोचित मानने को तैयार ही नहीं नहीं था। सवाल मानने का ही नहीं, हर कीमत पर अपनी बात मनवाने का था।

एक तरफ वे राष्ट्र थे जो अपनी राष्ट्रीय सीमाओं में विस्तार की बात सोचते थे, दूसरी ओर ऐसे देश थे जो अपने राष्ट्र की संपूर्णता के लिए ऐसे प्रदेशों को वापस लेना चाहते थे जो अब भी दूसरे देशों के कब्जे में थे। इटली अभी भी उत्तर और उत्तर पूर्व में एड्रियाटिक सागर तक अधिकार के बावजूद अपने को अपूर्ण मानता था। उसका असंतोष प्राय: क्षोभ और आक्रामकता में बदलता रहता था। फ्रांस बिस्मार्क द्वारा छीने गए अल्सास और लोरेन वापस चाहता था लेकिन सबसे बड़ी समस्या तो बाल्कन प्रायद्वीप

में थी जहां राष्ट्रीयता का विकास अब उग्र हो गया था।

वहां नवोदित राष्ट्रों में कोई भी संतुष्ट नहीं था। यूनान का एक हिस्सा अभी भी तुर्की के कब्जे में था। वह थ्रेस और एजियन द्वीपों को वापस लेकर प्राचीन बाइजेंटाइन साम्राज्य की गरिमा प्राप्त करना चाहता था। सर्बिआ, बोस्निआ और हर्जेगोविना पर आस्ट्रिया का प्रभुत्व मिटाने के लिए सब कुछ करने पर आमादा था। बल्गेरिया की भी थ्रेस, मेसीडोनिआ के एक भाग और एजिनन द्वीपों पर नजर थी। रूमानिया ट्रांसिलवानिया और बेसारेबिया क्षेत्रों में रह रहे रूमानियन लोगों के कारण इन्हें अपना समझता था। इस तरह बाल्कन में सभी असंतुष्ट थे और अब तुर्क साम्राज्य के विरुद्ध उनका पुराना क्षेत्र नए प्रतिद्वंद्वियों आस्ट्रिया और रूस के विरुद्ध होता जा रहा था। विशेष रूप से आस्ट्रिया का बोस्निआ और हर्जेगोविना पर जबर्दस्ती कब्जा सर्बिआ और आस्ट्रिया के संबंध को विस्फोटक बना रहा था। इस प्रकार राष्ट्रीय सीमाओं की अस्पष्ट परिभाषा और हक से यूरोप में तनाव बढ़ता जा रहा था।

अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में एक प्रकार की अराजकता व्याप्त थी। यूरोप के 25 स्वतंत्र देशों में सभी अपने को सार्वभौम समझते थे और सार्वभौमिकता का अर्थ था कुछ भी करने की स्वतंत्रता। नासमझ लोग इसी अर्थ में व्यक्तिगत स्तर पर स्वतंत्रता का तात्पर्य ग्रहण करते हैं। अपने राष्ट्रीय सम्मान और सुरक्षा के विरुद्ध किसी प्रकार का अंतर्राष्ट्रीय नियम या अनुबंध उन्हें स्वीकार नहीं था। स्पष्ट था कि अपनी सत्ता के अतिरिक्त किसी और की सत्ता मानने के लिए कोई तैयार नहीं था। बढ़ती राष्ट्रवादी प्रवृत्ति का यह रूप खतरनाक भी सिद्ध हो सकता था।

इन सभी बातों के पीछे 19वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में औद्योगिक विकास का प्रसार और पूंजीवादी साम्राज्यवादी अर्थतंत्र की अपनी अनिवार्यता थी। बढ़ती औद्योगिक प्रतियोगिता में उपनिवेशों का महत्व कई कारणों से बढ़ गया था। उपनिवेशों से उद्योग के लिए सस्ता कच्चा माल प्राप्त हो सकता था; उपनिवेशों में बाहरी प्रतियोगिता पर प्रतिबंध लगाकर और आंतरिक विकास की संभावनाओं को समाप्त कर न केवल कच्चा माल मनमाने कीमत पर खरीदा जा सकता था बल्कि उत्पादन और विक्रय नियंत्रित करके निश्चित हुआ जा सकता था; इस प्रकार उन्हीं बाजारों में अपने उपभोग के बाद शेष बचा हुआ माल मनमाने कीमत पर बिना किसी प्रतियोगिता के बेचा जा सकता था; इस क्रम में पूंजी का विस्तार अनिवार्य था। अपने देश में उपयोग के बाद जो पूंजी शेष बचती उसे फिर कहीं भगाया नहीं जाता तो मुद्राक्षेत्र में अराजकता फैल सकती थी। इसलिए उपनिवेशों में अतिरिक्त पूंजी लगाकर वहां नियंत्रित रूप से उद्योग शुरू किए जा सकते थे; उपनिवेशों से खाद्यपदार्थ जुटाए जा सकते थे क्योंकि सीमित श्रम का उपयोग खाद्यपदार्थों के उत्पादन में उतना लाभप्रद नहीं था जितना औद्योगिक कार्यों में। दूसरी बात यह कि यूरोप के अधिकांश देशों की भूमि इतनी उर्वर नहीं थी कि वे खाद्यान्न के मामले में आत्मनिर्भर हो सकें; उपनिवेशों में जितना सस्ता श्रम उपलब्ध था उतना अपने देश में संभव नहीं था, इसलिए अपने देश में श्रम के बढ़ते मूल्य को उपनिवेश के सस्ते श्रम से संतुलित रखा जा सकता था।

इस प्रकार उपनिवेश अब अनिवार्य होते गए थे; लेकिन 19वीं शताब्दी के अंत तक विश्व के अधिकांश भागों पर यूरोप की पुरानी शक्तियों का आधिपत्य हो गया था। जो नई शक्तियां उभर रही थीं उन्हें भी हिस्सा चाहिए था। इंग्लैंड, फ्रांस, बेल्जियम, हालैंड यहां तक कि स्पेन और पुर्तगाल भी औपनिवेशिक साम्राज्य थे। इटली और जर्मनी के लिए बाजार समाप्त हो गए थे। उपनिवेशों की अथवा अपने लिए सामान्य बाजार की तलाश आवश्यक थी। पुराने बाजार में स्पर्द्धा और संघर्ष अनिवार्य होता जा रहा था। 1892 के अंत में इंग्लैंड के एक प्रतिष्ठित पत्र 'इकनामिक रिव्यू' में लिखा गया : 'यदि कल जर्मनी का विनाश हो जाए तो परसों ही कोई ऐसा अंगरेज न होगा जो पहले से अधिक धनी न हो जाए।' इंग्लैंड में बढ़ते हुए जर्मनी के प्रति विरोध का इससे बड़ा प्रमाण क्या मिलेगा। इसका कारण बढ़ती हुई आर्थिक प्रतिस्पर्द्धा थी।

इसी संदर्भ में विभिन्न राष्ट्रों की पराराष्ट्र नीति को भी देखना चाहिए। रूस कोई औद्योगिक आधार दिए बिना भी बाल्कन में पुरानी विस्तारवादी नीति बढ़ाना चाहता था। रूस के जारों का सपना था कुस्तुनतुनिया पर अधिकार कर कालासागर और भूमध्यसागर को जोड़ने वाले दोनों जलडमरूमध्यों के माध्यम से भूमध्यसागर तक पहुंच जाना और इस प्रकार अपनी घुटन मिटाने के लिए स्थाई बंदरगाहों को प्राप्त कर लेना। इस कार्य में बाल्कन के राष्ट्र व्यवधान बन सकते थे। लेकिन पहले तो जर्मन देशों की प्रतिद्वंद्विता से निबटना था। जर्मन देशों के लिए पश्चिम या दक्षिण में विस्तार संभव नहीं था। उत्तर में बाल्टिक सागर था। अब पूरब ही बचता था। इसीलिए विशेषकर आस्ट्रिया में विस्तार की नीति अपनाई गई थी। इससे एक ओर बाल्कन के अग्रणी देश सर्बिआ से नोकझोंक शुरू हो गई और तनाव बढ़ता गया। जब विलियम ने रूस से तीन सम्राटों के संघ के लिए किए गए समझौते को समाप्त कर दिया तो रूस से भी तनाव स्पष्ट हो गया। हम देखेंगे कि प्रथम महायुद्ध की शुरुआत भी इसी तनाव के कारण हुई।

आस्ट्रिया की प्रतिस्पर्द्धा रूस से बढ़ रही थी। दोनों ही पुरानी परिभाषा के सामंती साम्राज्य थे। आधुनिक साम्राज्य जर्मनी औद्योगिक देश बनता जा रहा था। उसकी इंग्लैंड तथा फ्रांस से मुठभेड़ जरूरी थी। इससे बचने के लिए ही बिस्मार्क हर कीमत पर फ्रांस को एकाकी बनाए रखना तथा इंग्लैंड से मैत्री रखना जरूरी समझता था। उसने गुप्त संधियों का सिलसिला शुरू किया था जिसका हम पिछले अध्याय में अध्ययन कर चुके हैं। आस्ट्रिया और जर्मनी की गुटबंदी, जिसमें किसी भांति इटली भी शामिल था, फ्रांस के लिए जीवन मरण का प्रश्न बन गई थी। फ्रांसीसी कूटनीति, बढ़ते दबाव, रूस के जर्मनी द्वारा अपमानित होने तथा ब्रिटेन का एकाकीपन असंभव हो जाने के कारण फ्रांस, इंग्लैंड और रूस का एक दूसरा गुट पैदा हुआ। इस गुट में सैनिक समझौते तो नहीं थे परंतु ये भी अपनी सुरक्षा के लिए स्वयं लड़ने और एक दूसरे की मदद करने के लिए कृत संकल्प थे। ऐसी स्थिति में दो गुट परस्पर शंकालु और शत्रु बन गए और वे रक्षा के लिए आक्रमण की नीति अपनाते जा रहे थे। नतीजा यह था कि शस्त्रीकरण तेजी से बढ़ रहा था। 1890 और 1907 के बीच यूरोप में एक कूटनीतिक क्रांति हुई

जिसने विस्मार्क के साधनों को अपना कर विस्मार्क के ही कार्यों को नष्ट कर दिया।

प्रशा यूरोप में अपनी सेना के लिए प्रसिद्ध था। युद्ध वहां का राष्ट्रीय उद्योग समझा जाता था। फ्रेडरिक विलियम और फ्रेडरिक महान के समय से ही यह परंपरा शुरू हुई थी और 19वीं शताब्दी में नेपोलियन के विरुद्ध पुनर्जागरण आंदोलन ने प्रशा की सेना को बहुत बल दिया था। मोल्टके और फानरून ने उसे एक जुझारू फौज बना दिया था। बिस्मार्क के युद्धों ने सिद्ध कर दिया था कि प्रशा की फौज कितनी संगठित और लड़ाकू है। यह क्रम जर्मन साम्राज्य में भी बना रहा और यद्यपि 1870 के बाद बिस्मार्क ने कोई युद्ध नहीं किया, लेकिन अपनी सेना निरंतर तैयार रखी और उसे शक्तिशाली बनाता गया। विज्ञान की उन्नति से सेनाओं के हाथ और मजबूत हुए। जर्मन इतिहासकार ट्राइट्स्के ने स्पष्ट कहा था : 'जैसे जर्मनी की महानता का आधार जर्मनी का प्रशा द्वारा शासित होना है वैसे ही विश्व की महानता और भलाई के लिए जर्मन संस्कृति, जर्मन मस्तिष्क, एक शब्द में जर्मन चरित्र, की सर्वोच्चता जरूरी है।' जब जर्मन शक्ति का आतंक बढ़ा तो अन्य देशों में भी सैनिक तैयारियां बढ़ने लगीं। प्रशा में अनिवार्य भर्ती की योजना अन्य देशों में भी अपनाई जाने लगी। प्रशा की सेना को आधार बनाकर हर देश में राष्ट्रीय सेना संगठित होने लगी। प्रतिद्वंद्विता सबसे तेज नौसेना के क्षेत्र में थी। जर्मन नौसेना बड़े बड़े युद्धपोत बना रही थी और बंदरगाह सैनिकों के गढ़ बनते जा रहे थे। इंग्लैंड ने भी अपनी नौसेना का भारी शस्त्रीकरण और विकास शुरू कर दिया। फ्रांस और इटली भी पीछे छूटना नहीं चाहते थे। कुल मिलाकर पहली बार यूरोप की सामरिक तैयारी समुद्रों की छाती पर भी उतनी ही तेज थी जितनी धरती पर। इस नीति का विरोध भी हो रहा था। इसलिए कि इससे कर बढ़ रहे थे और आम आदमी पर आर्थिक दबाव बढ़ता जा रहा था। ब्रेल्सफोर्ड नामक अंगरेज ने अपनी पुस्तक (दि वार आफ स्टील एंड गोल्ड) में कहा कि सैनिक तैयारी बढ़ने से युद्ध और निकट आता चला जाता है। पर कौन सुनता उसकी ? वैसे भी बुद्धिजीवियों का राजनीति पर कम ही प्रभाव होता है।

सारे यूरोप में शांति के सभी प्रयास आंदोलनों का रुख अख्तियार करते जा रहे थे। हर देश में शांति आंदोलन के लिए समितियां बनी हुई थीं। इटली में 55, इंग्लैंड में 22, फ्रांस में 36, अमरीका में 17, यहां तक कि लैटिन अमरीका में 7 और आस्ट्रेलिया में 4 ऐसी संस्थाएं काम कर रही थीं। सारी दुनिया के प्रख्यात बुद्धिजीवी अपना समय और धन शांति के कार्य में लगाने में व्यस्त थे। रूसी साहित्यकार ताल्स्ताय, स्वीडिश वैज्ञानिक नोबेल, फ्रांसीसी बुद्धिजीवी कोंस्तां, अंगरेज लेखक एच० जी० वेलस और अमरीकी धनाढ्य कार्नेगी इस दिशा में सबसे आगे थे। लेकिन इनके प्रयासों का राजनीति और राजनेताओं पर कोई असर नहीं था। असर पड़ा था जार निकोलस पर। उसने रूस की आदर्शवादी परंपरा बनाए रखने के लिए हेग में सम्मेलन बुलाए। इन सम्मेलनों में प्रस्ताव पारित हुए। निरस्त्रीकरण को जरूरी बताया गया। अनिवार्य मध्यस्थता की भी बात की गई लेकिन ये ऊंची आवाजें खोखली थीं क्योंकि यहां सिद्धांतों का प्रतिपादन हुआ था, नीतियों का नहीं और इन सिद्धांतों को क्रियान्वित करने की न कोई गारंटी थी,

न कोई मजबूरी। परिणाम यह हुआ कि हेग की घोषणाएं शांति के लिए नक्कारखाने में तूती की आवाज बनकर रह गईं।

ऐसा नहीं था कि शांतिपूर्ण ढंग से समझौते हो ही नहीं रहे थे। अलाबामा के झगड़े का निबटारा हुआ था। अर्जेंटीना और चिले के सीमा विवाद सुलझे थे यहां तक कि 'मोरक्को संकट' भी वार्ता और सम्मेलन से ही टला था। लेकिन इसकी संभावना कम होती जा रही थी। कुल मिलाकर स्थिति यह थी कि लाखों की स्थाई सेना और उससे भी अधिक सैनिक कार्यों के लिए तैयार किए गए लोग एक प्रकार की ऐसी मानसिकता बना रहे थे जिसे सैन्यवाद कहते हैं। सैन्यवाद को एवार्ट ने ऐसी प्रकृति कहा है जो 'युद्ध को राष्ट्र और व्यक्ति के लिए उदात्तीकरण तथा परिष्कार का माध्यम बना देती है।' इससे राष्ट्रीय सम्मान के लिए युद्ध एक उपकरण लगने लगता है और आक्रामक युद्ध की बात करने वाले लोग ही 'हीरो' बन जाते हैं। ऐसी मानसिकता बनाने और बढ़ाने में उन उद्योगों का बहुत बड़ा हाथ होता है जो शस्त्रों का निर्माण करते है या जिन्हें ठीके या आपूर्ति के माध्यमं से युद्ध में लाभ हो सकता है। ऐसी मानसिकता युद्ध को धीरे धीरे अनिवार्य बना देती है। इसी कारण राजनेता अपने को आवश्यक रूप से और आक्रामक बनाकर कूटनीतिक लाभ उठाता चाहते थे और किसी भी कीमत पर ऐसा काम करने को तैयार नहीं थे जिससे उनके देश का तनिक भी नुकसान होने का आभास हो जाता। हर देश दूसरे को आक्रमण की तैयारी में रत मानकर स्वयं रक्षात्मक तैयारी कर रहा था। इस तरह ऐसा दुष्चक्र चल पड़ा था जिसमें सभी एक दूसरे को आक्रामक लग रहे थे।

साहित्य और इतिहास के माध्यम से भी इस संदेह, आक्रामकता, स्वयं को सही और अन्यों को गलत समझने की प्रवृत्ति को नियंत्रित या समाप्त करने के बजाय उसे बढ़ाया जा रहा था। शिक्षा से ऐसी पीढ़ी पैदा हो रही थी जो अपने अतीत से अनुप्राणित होकर अपने राष्ट्र की लालसाओं के प्रति जुड़ी हुई थी। राष्ट्रहित ही सही गलत के निर्धारण का मापदंड बन गया था। साहित्य में राष्ट्र का गौरवगान हो रहा था। इतिहास को अपने देश को सही दूसरों को गलत सिद्ध करने के लिए तोड़ा मरोड़ा जा रहा था। राष्ट्रीय ही नहीं जातीय श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिए कुछ जातियों (यहूदी) के विरुद्ध वातावरण तैयार हो रहा था। समाचारपत्र प्रचार साधन जैसे बन गए थे। कुल मिलाकर राष्ट्रवादी बुखार से पीड़ित जनता राष्ट्र और सरकार को पर्यायवाची समझने लगी थी और अपनी सरकार की आलोचना या उसकी नीतियों का विरोध राष्ट्रविरोध समझने लगी थी। ऐसी स्थिति में स्वस्थ विवेचन संभव नहीं था।

इसी विस्फोटक स्थिति के परिप्रेक्ष्य में महायुद्ध के तात्कालिक कारणों को समझा जा सकता है। बाल्कन में वैसे तो कई तरह की प्रतिद्वंद्विता थी, लेकिन महायुद्ध के पहले दो बार बाल्कन प्रायद्वीप खून से नहा चुका था। यहां के नवोदित राष्ट्र एक दूसरे के प्रति भी सशंकित थे। वहां आस्ट्रिया विरोधी रुख बढ़ता जा रहा था। बोस्निया और हर्जेगोविना पर आस्ट्रिया का किसी भी तरह कोई दावा नहीं था। जब बिस्मार्क की कूटनीति ने उन्हें आस्ट्रिया को सौंप दिया तो विशेष रूप से सर्बिआ, जो उन्हें अपना

समझता था, बहुत पीड़ित हुआ। जब आस्ट्रिया ने इन देशों का पूरी तरह अपने साम्राज्य में विलय कर लिया तो सर्बिया में आक्रोश का स्वर बढ़ चला। उसे रूसी प्रोत्साहन मिल रहा था। जार निकोलस ने स्पष्ट रूप से कह दिया था कि वह सर्बिया के लिए सब कुछ कर सकता है दूसरी ओर आस्ट्रिया, वल्गेरिया जैसे देशों को सर्बिया के समानांतर खड़ा करना चाहता था। वाल्कन लीग भंग हो जाने से रूसी कूटनीति को धक्का लगा था और आस्ट्रिया प्रोत्साहित हुआ था।

इसी तरह तुर्की के सुल्तान के सुधार कार्यक्रमों ने उसकी राजनीति को यूरोप के तनाव का केंद्र बना दिया था। उसने एक अंगरेज को अपने देश की वित्तीय समस्या हल करने के लिए आमंत्रित किया था। एक फ्रेंच व्यक्ति तुर्की की पुलिस का पुनर्संगठन कर रहा था। एक अंगरेज नौसेना संभाले हुए था। इसी के साथ सुल्तान ने एक जर्मन को तुर्क सेना के पुनसँगठन का भार सौंपा। रूस में हाय तौबा मच गई। रूसी विदेश मंत्री साजोनोफ तो इसी मसले पर युद्ध के लिए तैयार था लेकिन जब इंगलैंड और फ्रांस से प्रोत्साहन नहीं मिला तो रूस अकेले कुछ नहीं कर सका। बाल्कन हर तरह से अखाड़ा बन चुका था।

यूरोप की स्थिति 1914 में यह थी कि खुलेआम युद्ध की केवल तैयारी ही नहीं हो रही थी, युद्ध की बातें भी की जा रही थीं। रूस में जर्मनी और उसके साम्राज्य के विनाश की बात दोहराई जाने लगी। फ्रांस में कहा जाने लगा कि 'रूस तैयार है। फ्रांस को भी तैयार होना चाहिए।' जर्मन सम्राट इन बातों का फायदा उठाकर अपने देशवासियों को संबोधित करते हुए कहता था : 'अब भी जिसे रूस और फ्रांस की आक्रामकता पर अविश्वास हो उसे पागलखाने में भेज देना चाहिए।' बर्लिन की हालत देखकर कर्नल हाउस ने लिखा कि 'एक चिनगारी विस्फोट के लिए काफी होगी।' पेरिस की हालत देखकर जर्मन राजदूत ने लिखा : 'शांति एक दुर्घटना की दया पर निर्भर है।' आखिर वह चिनगारी भी शोला बनकर भड़की। दुर्घटना होकर रही। हुआ यह कि आस्ट्रिया के राजकुमार फ्रांसिस फर्डिनेंड ने साराजेवो की यात्रा करने की ठानी। वहां स्थिति बहुत तनावपूर्ण थी और किसी भी आस्ट्रियाई अधिकारी की यात्रा खतरे से खाली नहीं थी। बोस्निया भर में 'बृहत्तर सर्बिया' का आंदोलन तेजी पर था और गुप्त संगठन जैसे 'नेशनल डिफेंस' तथा 'यूनियन आर डेथ' बहुत सक्रिय थे। पहले भी फर्डिनेंड की हत्या की तैयारी हुई थी लेकिन अब तो वह शेर के मुंह में स्वयं आ रहा था। तीन व्यक्तियों को अच्छी तरह तैयार करके साराजेवो भेजा गया। 28 जून 1914 को राजकुमार टाउनहाल में अपने अभिनंदन समारोह के लिए जा रहा था। तभी उस पर बम फेंका गया। इस बार वह बच गया लेकिन लौटती बार एक व्यक्ति उसकी कार पर ही कूद पड़ा और उसके प्रहार से राजकुमार अपनी पत्नी सहित मारा गया। फलतः आस्ट्रिया ने इसे सर्बिया को सबक सिखाने के लिए एक मौका समझा। जर्मनी से सलाह मांगने पर इसे हर तरह की मदद का वादा मिला। दोनों को मालूम था कि रूस सर्बिया की ओर से हस्तक्षेप कर सकता है फिर भी सर्बिया को अल्टीमेटम दिया गया।

सर्बिआ ने शत्रुतापूर्ण रुख अपना रखा है और उसे अपनी नीति स्पष्ट करने के लिए आस्ट्रिया विरोधी नीति की निंदा करनी चाहिए, आस्ट्रिया के विरुद्ध सक्रिय संगठनों को समाप्त कर देना चाहिए, पाठ्यक्रम से आस्ट्रिया विरोधी पाठ समाप्त कर देना चाहिए, सर्बिआ को आस्ट्रिया की मदद से दमन करके षड्यंत्रकारियों को गिरफ्तार करवाना चाहिए और उन दो अफसरों को फौरन गिरफ्तार कर लेना चाहिए जिनके नाम की अल्टीमेटम में चर्चा की गई थी।

इसका उत्तर 48 घंटे में मांगा गया था। यह असंभव था। मित्र राष्ट्रों ने समय बढ़ाने की मांग की पर आस्ट्रिया ने नहीं माना। अंत में समय रहते सर्बिआ ने सभी बातें मान लीं। सिवाय इसके कि आस्ट्रियाई अधिकारी सर्बिआ में दमन कार्य में हिस्सा लें। इसे कोई भी सार्वभौम देश स्वीकार नहीं कर सकता था। उसने सारा मामला हेग के न्यायालय को सुपुर्द करने का प्रस्ताव किया। सर्बिआ का उत्तर इतना समझौतापूर्ण था कि इस मसले पर युद्ध का कोई कारण ही नहीं था। यहां तक कि जर्मन सम्राट ने भी मान लिया कि अब युद्ध का आधार नहीं रहा। आस्ट्रिया ने नहीं माना और सर्बिआ से संबंध तोड़कर सर्बिआ की सीमाओं पर सेना एकत्र करनी शुरू कर दी। सर्बिआ इस स्थिति के लिए तैयार ही था। आस्ट्रिया में खुशी की लहर दौड़ रही थी मानो कोई विजयपर्व मनाया जा रहा हो।

रूस भी समझ रहा था कि अब आस्ट्रिया से निबटने का अंतिम अवसर आ गया है। ब्रिटिशमंत्री चाह रहा था कि वे देश जो सीधे बाल्कन से नहीं संबंधित हैं अर्थात इंग्लैंड, फ्रांस, जर्मनी और इटली मिलकर रूस और आस्ट्रिया के बीच मध्यस्थता करें। रूस में युद्ध की तैयारी शुरू हो चुकी थी। अब सैनिक संधियों ने गुल खिलाना शुरू किया।

आस्ट्रिया ने सर्बिआ की राजधानी बेलग्रेड पर हमला कर दिया। रूस ने सर्बिआ की मदद की तथा फ्रांस ने भी रूस का पक्ष लिया। इतिहासकार फे ने रूस द्वारा की गई सेना की लामबंदी को ही युद्ध का मुख्य तात्कालिक कारण बताया है। अब जर्मनी ने रूस के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी और धीरे धीरे सारा यूरोप युद्ध में उलझता चला गया। ब्रिटेन ने बेल्जियम की तटस्थता की गारंटी मांगी। फ्रांस ने ऐसा कर दिया लेकिन जर्मनी ने जब बेल्जियम पर हमला कर दिया तो ब्रिटेन ने जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। इस तरह प्रायः सारा यूरोप प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से युद्ध में शामिल हो गया था। उपनिवेशों को भी इसमें शामिल होना पड़ा। जब अमरीकी तटस्थता के बावजूद जर्मन पनडुब्बियों ने अमेरिकी जहाज डुबोने शुरू कर दिए तो अमेरिका को भी युद्ध में कूदना पड़ा और युद्ध विश्वव्यापी हो गया।

जर्मनी को पूरब और पश्चिम दोनों ओर लड़ना पड़ रहा था। जर्मनी ने तेजी से फ्रांस पर कब्जा करके सारी शक्ति रूस के विरुद्ध लगाने की योजना बनाई थी। लेकिन फ्रांस में घुसने के बाद उसे सख्त मुकाबले का सामना करना पड़ा। इंग्लैंड पूरी ताकत से फ्रांस के साथ था। लाख कोशिश करने के बावजूद जर्मन सेना पेरिस तक नहीं पहुंच पाई।

पश्चिम में अब आमने-सामने की भयंकर लड़ाई शुरू हुई। पूरब में जर्मनी ने रूस को बुरी तरह परास्त किया, लेकिन रूसी सेना आस्ट्रिया के विरुद्ध सफल हो रही थी। जर्मन सहायता न पहुंचती तो यहां तक नौबत आ गई थी कि आस्ट्रिया को युद्ध से अलग होना पड़ता। इसी समय तुर्की ने जर्मनी की ओर से युद्ध में प्रवेश किया और रूस को काला सागर के रास्ते अपने मित्रों से सहायता मिलनी बंद हो गई। तुर्की को इधर मैसो-पोटामिआ और फिलिस्तीन में बुरी तरह हारना पड़ा था। 1915 में एक ओर बल्गेरिया ने जर्मन गुट का साथ दिया तो दूसरी ओर उसी गुट के सदस्य इटली ने अपने गुट के साथ विश्वासघात कर अपनी राष्ट्रीय आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए मित्र राष्ट्रों की ओर से युद्ध की घोषणा कर दी। यदि समय पर मदद न मिल पाती तो आस्ट्रियाई सेनाएं इटली पर कब्जा कर लेतीं। इसी तरह यदि मित्र राष्ट्रों की सेनाएं बाल्कन में न पहुंच पातीं तो यूनान जर्मनी की ओर से युद्ध में शामिल हो जाता। एक तरफ सारा यूरोप धू धू कर जल रहा था और युद्ध का निर्णायक दौर काफी दूर नजर आ रहा था, दूसरी ओर सामुद्रिक युद्ध भी शुरू हो गया था। इंग्लैंड ने जर्मनी की नाकेबंदी कर दी। सारी लड़ाइयों के बावजूद जर्मनी यह नाकेबंदी तोड़ नहीं सका। इसी बीच जर्मनी ने पनडुब्बियों का आविष्कार कर लिया था। उसने इस नए उपकरण का इस्तेमाल कर इंग्लैंड की नाकेबंदी शुरू कर दी। इंग्लैंड के व्यापार को बड़ी क्षति पहुंची। व्यावसायिक जहाज बड़ी तादाद में डुबोए जाने लगे।

युद्ध के नशे में जर्मनी ने अंधाधुंध सामुद्रिक लड़ाई शुरू कर दी। पनडुब्बियों के विरुद्ध शस्त्रों की अभी खोज ही चल रही थी कि जर्मनी ने तटस्थ देशों के भी जहाज डुबोने शुरू कर दिए। अभी तक अमेरिका मित्र राष्ट्रों के साथ सहानुभूति रखते हुए भी औपचारिक रूप से तटस्थ था। लेकिन जब अमेरिकी जहाज भी डुबोए जाने लगे तो उसने जर्मनी को चेतावनी दी। 1917 में एक अमेरिकी यात्री जहाज 'लूसीटानिआ' अटलांटिक महासागर में डुबो दिया गया। क्षुब्ध अमेरिका के लिए जर्मनी के विरुद्ध लड़ाई में शामिल होने के अलावा कोई चारा नहीं बचा। अमेरिकी सेनाएं यूरोप में उतर गईं।

अमेरिकी नौसेना ने मित्र राष्ट्रों के साथ सक्रिय सहयोग करना शुरू कर दिया। अब अमरीकी सेना और अर्थतंत्र मित्र राष्ट्रों की सहायता के लिए तैयार था। इससे युद्ध का नक्शा ही बदल गया।

1917 में ही रूस में ऐतिहासिक क्रांति हुई जिसका अध्ययन हम अलग से करेंगे। ब्रेस्ट लिटवोस्क की संधि के बाद रूस युद्ध से अलग हो गया। जर्मनी का एक मोर्चा समाप्त हो गया और वह अपनी सारी ताकत पश्चिम में लगा सकता था। युद्ध का निर्णायक दौर शुरू हुआ। दोनों ही पक्ष अंतिम लड़ाई लड़ने लगे। एक तरफ अमेरिकी मदद थी और दूसरी तरफ ब्रिटेन के उपनिवेशों से सैनिक और धन जुटाए जा रहे थे। विशेष रूप से भारत का सहयोग बहुत महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर रहा था। भयंकर गोलाबारी से विनाश का रूप बढ़ता जा रहा था। युद्ध के अंतिम दिनों में हवाई जहाजों का भी इस्तेमाल होने लगा था। जमीन, पानी और हवाई तीनों क्षेत्र में युद्ध लड़ा जा

सांस्कृतिक जगत में कम महत्वपूर्ण परिवर्तन नहीं हुए। शिक्षा का स्वरूप बदलने लगा। साहित्य में नई धारा बहने लगी और छोटे नाटकों और कहानियों को बड़े उपन्यासों और नाटकों के स्थान पर अधिक पढ़ा जाने लगा। चिंतन की मूलधारा युद्ध और हिंसा के विरोध में समाजवादी और मानवतावादी हो गई। एक तरफ निराशा, अन्यमनस्कता और पलायनवाद का असर था, दूसरी ओर राष्ट्रवादी धारा भी प्रस्फुटित होने लगी।

जीवन का कोई भी क्षेत्र युद्ध से प्रभावित हुए बिना नहीं रहा। म्योर का विचार है कि प्रथम महायुद्ध इतिहास की पहली घटना थी जिससे न केवल सारी दुनिया के लोग संवद्ध ही थे वल्कि वे जानते थे कि वे संवद्ध हैं। म्योर ने वढ़ती चेतना की ओर इशारा किया है। यह सच है कि प्रथम महायुद्ध के वाद जागरूकता कुछ लोगों की संपत्ति नहीं रह गई।

11

रूस की क्रांति

क्रांति किसी भी देश में हो, उसका महत्व विश्वव्यापी होता है। फ्रांस की क्रांति केवल मध्यवर्ग के हितों की रक्षा हुई थी और सारी दुनिया के लिए वह प्रेरणा स्रोत बन गई। रूस की क्रांति तो सामान्य मनुष्य के हित में हुई थी और उसका परिप्रेक्ष्य भी सीमित नहीं था—समाज का आमूल परिवर्तन उसका लक्ष्य था और दुनिया के इतिहास में उसने एक सर्वथा नया मोड़ दिया।

मध्ययुगीन, सामंती और स्वेच्छाचारी जारों द्वारा शासित रूस में अभी औद्योगिकीकरण का प्रारंभ ही हुआ था, जापान ऐसे छोटे देश से वह पराजित हो गया था, प्रथम महायुद्ध में आकंठ लिप्त था और ऐसे देश में फरवरी 1917 को जब जार का तख्ता पलटा तो लोग चौंक पड़े थे। रूस में पहली क्रांति के बाद गठित उदारवादी सरकार की स्थापना से पश्चिमी देश आश्वस्त हो गए थे कि रूस में कोई ऐसा परिवर्तन नहीं होगा जो उनके हित में न हो। लेकिन कुछ ही महीनों के बाद जब अक्तूबर में दूसरी क्रांति हुई और लेनिन के नेतृत्व में वहां जनता सत्ता आ गई तो यह निश्चित हो गया कि यह कोई साधारण परिवर्तन नहीं है और इसका प्रभाव सारी दुनिया पर पड़ेगा। संयोग से सारा विश्व उस समय जर्मन गुट के विरुद्ध युद्ध में व्यस्त था और क्रांति को अपनी जड़ें मजबूत करने का अवसर मिल गया। बाहरी हस्तक्षेप, आंतरिक विरोध, गृह युद्ध, अकाल, आर्थिक संकट आदि के बावजूद कुछ ही वर्षों में रूस में सोवियत सरकार भलीभांति स्थापित हो गई और न केवल रूस से शोषण और असमानता पर आधारित समाज का अंत हो गया वरन सारी दुनिया के संत्रस्त लोगों को रूस में आशा की किरण दिखाई देने लगी। भारत के भी स्वतंत्रता संग्राम के अग्रणी नेता जवाहर लाल नेहरू को भारत के उज्ज्वल भविष्य में फिर से विश्वास हो गया। ऐसी महत्वपूर्ण क्रांति को भलीभांति समझने के लिए क्रांति की पृष्ठभूमि का अध्ययन करना पड़ेगा जिसमें क्रांति के बीज पनप रहे थे।

रूस यूरोप के सबसे पिछड़े देशों में था। वहां एशियाई प्रवृत्तियों से समाज ग्रस्त था। यूरोप में रूसी लोगों को तातार प्रभाव के कारण बर्बर समझा जाता था। मौस्कोवी की छोटी सी रियासत पर जब से रोमानाफ वंश का शासन हुआ था स्थिति बदलनी शुरू हुई थी। यद्यपि सामंती प्रथा और ग्रीक आर्थोडाक्स चर्च के चंगुल में फंसा रूसी समाज विकास से बहुत दूर था लेकिन उसका सैनिक संगठन बढ़ता जा रहा था। सबसे पहले सत्रहवीं शताब्दी के अंत में पीटर ने रूस को महानता की ओर अग्रसर किया। उसने तुर्की और

स्वीडन को परास्त कर रूस की सीमाएं दक्षिण में काला सागर और पूरब में बाल्टिक सागर तक बढ़ाया। सागर तट के लिए प्यासे रूस की तृप्ति विस्तार में थी और उसका क्रम शुरू हो गया। साथ ही साथ पीटर ने छद्म वेश में पश्चिमी यूरोप की यात्रा कर स्वयं आधुनिकता और प्रगति के तरीके समझे। लौटकर उसने चर्च के पेट्रिआर्क को अपदस्थ किया और शासन पूरी तरह अपने हाथों में केंद्रित कर लिया। उसने रूस का पश्चिमीकरण शुरू किया। बाल्टिक तट पर सेंटपीटर्सवर्ग नामक नई राजधानी (आधुनिक लेनिनग्राद) बसाई और लोगों के वस्त्राभूषण से लेकर आचार व्यवहार तक बड़ी कठोरता के साथ पश्चिमी तौर तरीके अपनाने के नियम बनाए। उसके अपने एकमात्र पुत्र ने जब अवरोध पैदा करना चाहा तो उसे अपनी जान से इसकी कीमत चुकानी पड़ी। मरने से पहले अपने देश को महानता के मार्ग पर अग्रसर कर पीटर स्वयं महान कहलाने लगा था।

पीटर महान के बाद रूस अनिश्चितता के दौर से गुजर रहा था लेकिन शीघ्र ही कैथरीन ने अपनी पकड़ मजबूत कर ली और अपने पति जार की हत्या से लेकर पड़ोसियों के राज्यों को हड़प लेने तक उसने बिना किसी नैतिकता की परवाह किए अपने शासनकाल में रूस का विस्तार करती रही। उसने पोलैंड का तीन बार विभाजन करवाया और अंतिम विभाजन के बाद तो पोलैंड यूरोप के नक्शे से विलीन ही हो गया। दक्षिण में उसने काला सागर तट की जमीन तुर्की से छीन ली और आधुनिक रूस की सीमाएं बहुत कुछ निश्चित हो गईं। उसने प्रबुद्धता का मुखौटा जरूर लगाया, बोल्तेयर से मित्रता का स्वांग भी रखा लेकिन हकीकत में रूस में एक स्वेच्छाचारी मध्ययुगीन व्यवस्था बनी रही।

फ्रांस की क्रांति का सारे यूरोप पर असर पड़ा था, लेकिन रूस बचा रह गया। नेपोलियन की विजयवाहिनी मास्को तक पहुंची भी लेकिन उसे परास्त होकर लौटना पड़ा। नेपोलियन की पराजय के संयोजन में जार अलेक्जेंडर ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई और रूसी सेनाएं फ्रांस तक पहुंचीं। वहां नए विचारों ने रूसी मस्तिष्क को प्रभावित भले ही किया हो पर उनका रूसी शासन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। मेटरनिख युग में रूस में भी दमन होता रहा और परिवर्तन की हर आकांक्षा रौंदी जाती रही। इस काल में रूस बाल्कन पर ललचाई आंखों से देखने के लिए जाना जाता रहा। अलेक्जेंडर द्वितीय ने 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में थोड़े सुधार किए। पहली बार रूस में भी अर्ध-गुलाम लोगों को मुक्त किया गया लेकिन समाज का मूल ढांचा अपरिवर्तित रहा। सारे यूरोप में औद्योगिक क्रांति का प्रभाव बढ़ रहा था। अर्थतंत्र और उसी के अनुसार राजतंत्र बदल रहा था। लेकिन रूस में उद्योगों का भी विकास नहीं हो रहा था। ऐसे रूढ़िवादी समाज को तहस नहस कर देने की बात करने वाला विचार 'निहिलिज्म' तुर्गनेव के साहित्य के माध्यम से फैल रहा था। दोस्तोवस्की के उपन्यास निराशा फैला रहे थे। लेकिन परिवर्तन के झोंकों को कौन रोक पाता और वह भी कब तक ?

उत्तरी पश्चिमी रूस में उद्योग पनपने लगे थे और वहां मजदूरों का वर्ग संगठित होता जा रहा था। राजनीतिक चेतना बढ़ रही थी और गुप्त संगठन बनने लगे थे। आतंक के सहारे जार और उसके अधिकारियों का अंत करने की योजनाएं बनती थीं

और कुछ आतंकवादी क्रांतिकारी इधर उधर वम बिस्फोट करने लगे थे। उनको कठोरतम सजाएं देकर जार भी आतंकित करता, लेकिन राजनीतिक चेतना का विस्तार होने लगा था। 1905 में रूसी सेनाओं के जापान द्वारा परास्त हो जाने के बाद रूसी महानता का खोखलापन प्रत्यक्ष हो गया था। 1905 में ही पहली बार जार को रूस में एक प्रतिनिधि सभा (द्यूमा) बुलानी पड़ी। यह सभा स्थाई न हो सकी और वार वार भंग की जाती रही। जब प्रथम महायुद्ध शुरू हुआ तो रूस जर्मनी की चपेट में आ गया। विपन्न रूस में भयानक आर्थिक संकट पैदा हो गया। रूसी भूमि पर जर्मन सेनाएं मौजूद थीं। अव वैचारिक प्रभाव संगठित रूप से दवाव डाल रहा था। समाजवादी दल का नेता लेनिन निर्वासित था, और वह संगठित रूप से दवाव डाल रहा था। 1917 में मजदूरों ने विद्रोह कर दिया। सैनिकों ने दमन में साथ नहीं दिया। लेनिन ने विदेश में वापस आकर क्रांति की वागडोर संभाल ली और अक्टूवर क्रांति ने रूस को वास्तविक महानता के मार्ग की ओर अग्रसर किया।

इस ऐतिहासिक क्रांति के कारणों का विश्लेषण करने के लिए और विस्तार में जाना पड़ेगा।

पश्चिमी यूरोप में राजनीतिक जीवन का इस तरह विकास हुआ था कि राजा या विशिष्ट वर्ग की प्रभुता तो बनी हुई थी पर धीरे धीरे अधिक से अधिक लोग शासन में भागीदार होते जा रहे थे। इंग्लैंड में संसद की परंपरा वहुत पुरानी थी। वहां जन प्रतिनिधित्व बढ़ता जा रहा था और संसद की शक्ति वढ़ती जा रही थी। यूरोप में पहले प्रवुद्ध राज-तंत्र ने जनता को थोड़ा संतुष्ट किया लेकिन फ्रांस की क्रांति ने उदार शासन व्यवस्था के लिए शासकों को मजबूर किया। मेटरनिख युग के प्रतिक्रियावादी दमन के वावजूद 1870 तक सभी देशों में प्रतिनिधि सभाओं का गठन हो चुका था। वहां मध्यवर्ग शासन में हिस्सा लेने लगा था। सुधारों का कार्यक्रम शुरू हो गया। बिस्मार्क जैसे कठोर प्रशा-सक को भी सुधारवादी नीति अपनानी पड़ी। लेकिन रूस में 20वीं शताब्दी के प्रारंभ तक जार की स्वेच्छाचारी निरंकुशता वनी हुई थी। वहां किसी भी तरह का प्रतिनिधि शासन नहीं था—न तो स्थानीय स्तर पर और न ही केंद्रीय स्तर पर।

रूस में शासन अत्यंत कठोर भी था। लोगों को स्वतंत्र करने भर से स्थिति नहीं बदली थी। देश का बहुत बड़ा वर्ग भूमिहीन किसानों का था जो पूरी तरह संत्रस्त था। कुछ सामंत परिवार बहुत बड़े भू-भाग के स्वामी थे और अपने क्षेत्र में मनमानी करते थे। 19वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में सारे यूरोप में ऐसे पर्चे बांटे जा रहे थे जिसमें जार को संवोधित करके उससे कहा गया था कि 'रूस के लोग पिछड़े हुए और त्रस्त हैं। उन्हें अव तक यह भुलावा रहा है कि सारी कठिनाइयों के वावजूद वे एक महान देश के वासी हैं। रूस यूरोप की वड़ी शक्तियों में से है। लेकिन वह भ्रम भी टूट रहा है। अब यदि जार ने आगे बढ़कर अपनी प्रजा को गले से नहीं लगाया तो प्रजा स्वयं आगे वढ़ेगी।।' इतिहास-कार मैकेंजी ने यह सिद्ध किया है कि इन पर्चों से साफ पता चलता है कि सुधारों की अनिवार्यता स्पष्ट होती जा रही थी। और अव यदि सुधार नहीं किए गए तो जनता

विद्रोह कर सकती है। लेकिन रूस के जारों ने कोई ऐसा परिवर्तन नहीं किया जिससे जनता वास्तव में संतुष्ट होती। इस तरह रूस का राजनीतिक जीवन राजधानियों---मास्को व सेंटपीटर्सबर्ग में बंद था और सेना, पुलिस तथा जासूसों के बल पर जनता को खामोश रखा जाता था। राजधानी का वातावरण बाइजेंटाइन साम्राज्य की तरह षड्यंत्रपूर्ण था। धीरे धीरे मध्यवर्ग का विकास हो रहा था और वह शासन में सहभागी होने के लिए लालायित हो रहा था। फ्रांस की क्रांति के पहले की स्थिति रूस में पैदा हो गई थी।

आर्थिक रूप से रूस पूरी तरह खोखला हो चुका था। रूस यूरोप का ही नहीं दुनिया का सबसे बड़ा देश हो चला था। लेकिन इतने बड़े देश का बीस प्रतिशत भी कृषि योग्य नहीं था। देश का उत्तरी भाग शीत कटिबंध में था, जहां वर्ष के अधिकांश भाग में बर्फ जमी रहती थी। उसके दक्षिण भाग में टैगा के सदाबहार घने जंगल थे। रूस के एशियाई भाग का अधिकांश या तो जंगल था या पथरीला। यूरोपीय रूस का मध्य और दक्षिणी हिस्सा ही कृषि योग्य था। वहां अधिकांश भूमि के मालिक सामंत थे जिन्हें खेती में बहुत रुचि नहीं थी। अक्सर खेत खाली पड़े रह जाते थे। अनुपस्थित जमींदार कृषि का बहुत बड़ा दुश्मन था। फिर भी जो पैदा होता था वह राज्य या भूस्वामियों के पेट में चला जाता था और किसान तथा खेतिहर मजदूर भूखा कंगाल ही रह जाता था। पश्चिमी यूरोप में नई फसलें उगाने और औद्योगिक फसलों की शुरुआत से स्थिति बेहतर हुई थी लेकिन रूस में प्रयोग होते ही नहीं थे।

उद्योग के क्षेत्र में औद्योगिक क्रांति के एक शताब्दी बाद भी रूस प्रायः उद्योग-विहीन था। कुटीर उद्योग में केवल स्थानीय या राजधानी की आवश्यकता की चीजें बन पाती थीं। रूस का आयात व्यापार निर्यात से बहुत अधिक था। इसलिए वह पश्चिमी यूरोप पर पूरी तरह निर्भर था। 19वीं शताब्दी के अंत में जब पश्चिमी रूस में उद्योग लगे तो उनके मजदूरों की स्थिति पर कोई ध्यान नहीं दिया गया। वे अत्यंत कठिन नियमों, कम मजदूरी और दमन के शिकार थे। ऐसी हालत में उद्योगों का अपेक्षित विकास तो हो ही नहीं रहा था मजदूरों में बुरी तरह असंतोष भी व्याप्त हो रहा था। ऐसी आर्थिक स्थिति को एक बहुत बड़ी सेना और निरंतर युद्धों का खर्च बर्दाश्त करना पड़ता था। 17वीं शताब्दी के अंत से ही युद्धों का सिलसिला टूटा नहीं। युद्ध हो या न हो जारों की सैन्यवादी नीति हमेशा युद्ध स्तर पर तैयार रहने की थी। इससे आर्थिक ढांचा और अधिक लड़खड़ा रहा था।

ऐसी भयावह और खोखली आंतरिक स्थिति के बावजूद रूस की महानता का ढिंढोरा पीटा जाता रहा। नेपोलियन के पराभव में रूस ने प्रमुख भूमिका निभाई थी। उससे हर रूसी गौरवान्वित हुआ था। तत्कालीन रूस का सबसे जीवंत दस्तावेज ताल-स्ताय का उपन्यास 'युद्ध और शांति' रूस के बढ़ते स्वाभिमान का परिचायक है। बाद में रूस का बाल्कन में बढ़ता महत्व क्रीमिया में पराजित होने के बाद भी घटा नहीं। तुर्की को बराबर पराजित कर रूस अपना गौरव बढ़ाता रहा था। बर्लिन कांग्रेस में बिस्मार्क द्वारा छले जाने के बाद रूस अकेला पड़ता जा रहा था। लेकिन जनता इससे अनभिज्ञ

थी। 20वीं शताब्दी शुरू होते होते उसे फ्रांस की मैत्री प्राप्त हो गई थी और वह आश्वस्त होने लगा था। लेकिन 1905 में रूस को अपने इतिहास का पहला बड़ा झटका लगा।

पूर्व में रूस का विस्तार सारे उत्तरी एशिया पर छा गया था और अब उसकी सीमाएं प्रशांत महासागर तक पहुंच गई थीं। अब उसके सामने जापान सागर के उस पार नवोदित जापान था जो जनसंख्या और उद्योगों के विकास के साथ विस्तारवादी नीति अपनाने पर मजबूर था। उसने चीन को परास्त करके अपनी ताकत बढ़ा ली थी और चीन के उत्तरी क्षेत्रों पर हावी होता जा रहा था। अब जापान और रूस के हित टकराने लगे थे। जापान के लिए रूस से संघर्ष किए बिना इस क्षेत्र में पैर जमाना मुश्किल था। हजारों मील दूर राजधानी में बैठे जार और रूसी सेना जापान की शक्ति से परिचित नहीं थे। फलतः रूस एक ऐसे युद्ध में कूद पड़ा जिसके लिए वह किसी भी तरह पहले से तैयार नहीं था। कई हजार मील की यात्रा कर रूसी सेनाएं जब पूर्व क्षेत्र तक पहुंचती तो वे पहले से ही थकी हारी होती थीं। ऐसी सेना को परास्त करना जापान के लिए कठिन नहीं था। 1905 के ऐतिहासिक रूस जापान युद्ध में रूस बुरी तरह पराजित हुआ। सुदूर पूर्व की इस पराजय को जनता से छिपाना मुश्किल था। बचे खुचे फटेहाल रूसी सैनिक जब लौटे तो सारा देश स्तब्ध था। महानता का भ्रम टूट चुका था। रूस यूरोप में ही नहीं, एशिया में भी पराजित हुआ और वह भी एक छोटे और अपेक्षतया अज्ञात देश से।

इस पराजय ने असंतोष को विस्फोट का अवसर दिया और रूस में पहली बार एक उदारवादी क्रांति हुई जिसकी प्रमुख मांग एक प्रतिनिधि सभा की स्थापना और शासन को उदार बनाना था। यह रूस के जागते हुए मध्यवर्ग का दबाव था और जार को प्रतिकूल स्थितियों में भी यह मांग स्वीकार करनी पड़ी। रूस में पहली बार एक पार्लमेंट की स्थापना हुई और रूस पश्चिमी यूरोप के शासन तंत्र की ओर बढ़ने लगा लेकिन जार निकोलस इस नई स्थिति को स्वीकार नहीं कर रहा था। सभा को बार बार भंग किया जाता और बार बार वह पहले से अधिक संघर्ष की मुद्रा अपना लेती थी।

इस संघर्ष की मुद्रा के पीछे वह वैचारिक तैयारी थी जो धीरे धीरे रूस के नगरों से गांवों तक फैल चुकी थी। मैक्सिम गोर्की के विख्यात उपन्यास 'मां' में उन तैयारियों की स्पष्ट झलक मिलती है। गांवों तक में गुप्त संगठन कार्यरत थे और विद्रोह की आग सुलगने लगी थी। यद्यपि रूस का मध्यवर्ग केवल उदारतावादी परिवर्तन चाह रहा था ताकि सत्ता उसके हाथ में बनी रहे तथापि वास्तविक संगठन समाजवादियों के हाथ में आता जा रहा था।

मार्क्स की जन्मभूमि जर्मनी में ही वैज्ञानिक समाजवाद का विचार पैदा हुआ था लेकिन बिसमार्क की कठोर नीतियों के कारण उसका प्रभाव जर्मनी से बाहर के देशों में ही बढ़ पाया। इंग्लैंड, फ्रांस, हालेंड और बेल्जियम जैसे देशों में मजदूर संगठनों पर मार्क्स के अनुयाइयों का प्रभाव था। 1870 की फ्रांसीसी क्रांति के बाद कुछ महीनों के लिए पेरिस कम्यून ने मार्क्स के विचारों को क्रियान्वित करना शुरू कर दिया था। इन

कम्यूनों के समाप्त होने के वाद भी समाजवादियों का अंतर्राष्ट्रीय संगठन फैलता जा रहा था और मार्क्स तथा एंगेल्स में अंतर्राष्ट्रीय समाजवादी आंदोलन वास्तव में दुनिया के मजदूरों को एक कर रहा था। मार्क्स के वर्ग संघर्ष तथा सर्वहारा की अनिवार्य विजय के सिद्धांत का हम अध्ययन कर चुके हैं। यद्यपि रूस में मजदूरों की संख्या बहुत नहीं थी और वह विकास के उस स्तर तक नहीं पहुंचा था जहां समाजवादी क्रांति की परिस्थितियां अनुकूल हों, फिर भी रूस में मार्क्स के अनुयाई बढ़ रहे थे। उन्होंने मजदूरों के वीच काम करना शुरू कर दिया था और उनका संगठन बढ़ रहा था। प्रतिबंधों के वावजूद उनके अखवार और पर्चे निकलते थे और छोटी छोटी समितियों के माध्यम से उनका राष्ट्रव्यापी संगठन वनता जा रहा था। उन्होंने प्रतिनिधि सभा की मांग के संबंध में मध्यवर्ग के आंदोलन के साथ साथ सहयोग भी किया था।

रूस के क्रांतिकारियों में प्रमुख था युगनिर्माता लेनिन। लेनिन ने जारशाही के अंत की कसम तब खाई थी जब वह बालक था और उसके बड़े भाई को जार पर बम फेंकने के अपराध में मौत की सजा दे दी गई थी। उसने वकील बनने के बाद गरीबों के हक की लड़ाई लड़नी शुरू कर दी और बाद में वह मजदूरों की समाजवादी पार्टी का सक्रिय सदस्य भी हो गया। उसमें न केवल संगठन की थी, वह एक कुशल लेखक और प्रभाववादी वक्ता भी था। उसके आविर्भाव से जनांदोलनों में नई गति आ गई और उसका कार्य क्षेत्र बढ़ने लगा। शीघ्र ही उसे रूस का प्रमुख क्रांतिकारी नेता समझा जाने लगा और वह अपने लेखों और भाषणों से सारे रूस में एक नई चेतना भरने लगा।

जापान से पराजय के बाद रूस में प्रतिनिधि सभा स्थापित करने के बाद भंग कर दी गई थी और जारशाही अपनी नीतियों में कोई परिवर्तन करने को तैयार नहीं थी। इस पर आंदोलन और अधिक उग्र होने लगा। इस समय आंदोलन कई दलों में बंटा हुआ था। एक तरफ वे लोग थे जो शांतिमय तरीके से रूस में संवैधानिक परिवर्तन चाहते थे। उनमें भी जो बहुत नरम थे वे 'आक्टोब्रिस्ट' कहलाते थे। ये लोग चाहते थे कि जार अक्टूबर 1905 की घोषणा के अनुसार सभा को शासन पर नियंत्रण का अधिकार दे दे। वे सभा को जार से अधिक प्रभावशाली नहीं बनाना चाहते थे। इस दल में सामंतों की प्रमुखता थी। दूसरे वे लोग थे जो इंग्लेंड की तरह का संवैधानिक राजतंत्र चाहते थे। यह मुख्यतया मध्यवर्ग का दल था और इसमें बुद्धिजीवियों की प्रमुखता थी। इस दल को संवैधानिक जनतंत्रवादी या केडेट कहा जाता था। ये दोनों ही दल किसी गतिशील और दूरदर्शी जार के सहयोगी बन सकते थे। लेकिन जार निकोलस में वह क्षमता नहीं थी जो उनका सहयोग प्राप्त करती।

तीसरा दल समाजवादी क्रांतिकारियों का था। यह किसानों तथा उनकी भूमि समस्या के निदान का हिमायती था। उसका विश्वास था कि भूमि पर व्यक्ति का नहीं समाज का अधिकार हो। देश के भूमिहीन किसान इसकी ओर आशा की दृष्टि से देख रहे थे लेकिन इसका नेतृत्व उग्रवादी बुद्धिजीवियों के हाथ में था जो हमेशा दूरदर्शिता का परिचय नहीं दे पाते थे। रूस की राजनीति में सबसे शक्तिशाली दल था 'सोशल डेमोक्रेट्स' का। यह दल मार्क्सवादी था और मजदूरों के राज्य की कल्पना करता था। 1903 में इस दल में

कार्यनीति को लेकर विभाजन हो गया था। दो गुट बने—'मेंशेविक' और 'बोल्शेविक'। पहला क्रमशः परिवर्तन चाहता था। उसका विश्वास विकास में था। बहुमत 'बोल्शेविक, क्रांति के पक्ष में था और मजदूरों का राज्य स्थापित करना चाहता था। धीरे धीरे बोल्शेविक लोगों का अल्पमत के लोगों से मूलभूत अंतर बढ़ता गया और उनकी उग्र कार्यवाहियों के नाते उसके बहुत से नेता जैसे लेनिन और स्तालिन गिरफ्तार हुए। स्तालिन तो कई बार गिरफ्तार हुआ और कई बार भाग निकला। लेनिन सहित अनेकों निष्कासित कर दिए गए। जब रूस ने प्रथम महायुद्ध में प्रवेश किया तो इनमें से अधिकांश नेता देश के बाहर थे।

रूस के नरम दलों के नेता युद्धकाल में देशभक्ति के नाम पर जार के पक्ष का समर्थन करने लगे थे पर रूस की पराजयों और भ्रष्ट शासन से उनका भी मोहभंग हो गया था। वे भी जार को हटाने के षड्यंत्र में शामिल थे। बोल्शेविक नेता इस युद्ध को साम्राज्यवादियों की आपसी लड़ाई समझते थे और इसके विरुद्ध थे। उनके लिए मित्र राष्ट्रों और जर्मनी में कोई अंतर नहीं था। जान पर खेलकर ये नेता जहां भी थे। युद्ध का विरोध करते थे और उसके वास्तविक चरित्र का उद्घाटन करते थे।

इसी बीच रूस में असंतोष एक और कारण से बढ़ता जा रहा था। पहले से ही भ्रष्ट राजपरिवार पर एक रहस्यवादी भिक्षुक ग्रेगोरी रासपुतिन का प्रभाव बढ़ रहा था। रासपुतिन एक अशिक्षित बदमाश था जो अपने को दैवीशक्तियों से संपन्न बताता था। वह विश्वास करने वाले मासूम लोगों के सामने चमत्कार कर उन्हें अभिभूत कर लेता था। जार के परिवार में उसका प्रभाव बढ़ता जा रहा था और जारीना तो पूरी तरह उसके चंगुल में थी। वह नियुक्तियों, पदोन्नति और बरखास्तगी तथा प्रशासन के अन्य कार्यों में हस्तक्षेप करने लगा था। पहले से ही अराजक इस स्थिति में निश्चित नहीं हो पाता था कि वास्तव में शासन कौन कर रहा है। कुछ समय के लिए तो शासन के विरुद्ध आक्रोश मुख्य रूप से रासपुतिन के ही विरुद्ध अभिव्यक्त होता रहा। रासपुतिन का प्रभाव पतनोन्मुख मध्ययुगीन जारशाही की भ्रष्टता का ज्वलंत उदाहरण था और उसके अंत का प्रारंभ भी।

1916 का अंत होते होते रूस भयंकर स्थिति में फंस चुका था। अनाज की कमी हो गई थी। उपजाऊ पश्चिमी रूस के बड़े भू-भाग पर जर्मनी का कब्जा था। बेरोजगार और त्रस्त किसान भूखों मरने लगे थे। लोहे और कोयले की कमी के कारण कारखाने बंद हो रहे थे। इससे उत्पादन तो घट ही रहा था मजदूर भी बेकार होते जा रहे थे। स्थिति विस्फोटक होती जा रही थी। सेना के लिए लाखों किसान गांवों से लाकर भर्ती किए जा रहे थे। यातायात के साधन सेना के लिए इस्तेमाल हो रहे थे। परिणाम यह कि सामान्य यातायात बंद होने लगा और कुल मिलाकर स्थिति बेकाबू होती जा रही थी। ऐसे में शासन का मुख्य आधार सेना होती है और रूस की सेना अराजक स्थिति में थी। सेनापतियों में आपस में तालमेल नहीं रह गया था। लाखों सैनिकों के लिए कमतम सामान जुटाना भी मुश्किल हो गया था। उनके पास न तो उपयुक्त वस्त्र थे न भोजन का कोई ठीक प्रबंध था। संचार साधन भंग हो गए थे समस्या यह थी कि भूखे और फटेहाल

सैनिक आक्रामक दुश्मन से लड़े या रूसी ठंड से। नतीजा यह कि सैनिक अब संगठित रूप से विद्रोह करने की स्थिति में थे। सेना में व्याप्त भ्रष्टाचार पूरे देश की स्थिति जैसा हो चला था। कोई अनुशासन नहीं रह गया था। अब सेना में न लड़ने का उत्साह था और न उसकी उपयोगिता में विश्वास। ऐसे असंतुष्ट सैनिकों को बोल्शेविक राजनैतिक चेतना से लैस कर रहे थे। अब तो जारशाही एक भी झटका बर्दाश्त करने की स्थिति में नहीं थी।

क्रांति की शुरुआत रोटी की मांग से शुरू हुई। 8 मई 1917 को राजधानी सेंटपीटर्सबर्ग में, जिसका नाम हाल ही में पेत्रोग्राद रख दिया गया था, जनता 'रोटी ! रोटी !' चिल्लाती सड़कों पर उमड़ पड़ी। मौका देखकर उसी दिन 80-90 हजार मजदूरों ने भी हड़ताल कर दी और जनता से जा मिले। जुलूस में लाल झंडों की भरमार थी। उग्र दल स्थिति को उचित मोड़ देने के लिए तैयार थे। जब सेना की एक टुकड़ी से भीड़ पर गोली चलाने को कहा गया तो उसने भी विद्रोह कर दिया और उससे हथियार छीनने पड़े।

राजधानी के सैनिक गवर्नर ने मजदूरों को काम पर लौटने की आज्ञा दे दी और सभा को निरस्त कर देने का हुक्म दे दिया। लेकिन मजदूर पीछे लौटने को तैयार नहीं थे। उन्होंने मजदूर और सैनिक सदस्यों की एक सोवियत का गठन किया और सैनिक तथा मजदूरों में सहयोग की योजना के अनुसार आंदोलन आगे बढ़ता गया। जार की सबसे विश्वस्त टुकड़ी 'प्रैओब्राशेंसकी रेजीमेंट' ने भी विद्रोह कर दिया। सैनिकों का विद्रोह बढ़ता गया और 12 मार्च तक राजधानी पर मजदूरों और सैनिकों का कब्जा हो गया।

प्रतिनिधि सभा ने खुला विद्रोह तो नहीं किया लेकिन अनौपचारिक रूप से अपने को एक कार्यवाहक समिति में बदलकर शासन संभालना चाहा। इसी बीच सैनिकों और मजदूरों ने अपनी कार्यकारिणी समिति बना ली थी। राजधानी में दो सरकारें थीं। इन दोनों को मिलाने के प्रयास हुए। सभा ने नई सरकार का प्रस्ताव किया जिसमें दो मंत्री सोवियत के होते। लेकिन सोवियत ने साफ कह दिया कि सभा की सरकार मध्यवर्गीय है और क्रांति का स्वरूप भी बुर्जुआ है और उससे सहयोग संभव नहीं। बहरहाल कार्यवाहक सरकार बनी और उसमें समाजवादी क्रांतिकारियों का नेता केरेंसकी शामिल कर लिया गया। सरकार में उदार दलों की प्रमुखता बनी रही।

जार राजधानी से बाहर था। उसने जल्दी से लौटना चाहा लेकिन लाइन उखाड़ दी गई थी। विश्वस्त सेनापति ईवानोफ को विद्रोह के दमन के लिए भेजा गया लेकिन उसके सैनिकों ने भी विद्रोह कर दिया। जार ने अब मजबूरन एक उदार और उत्तरदायी शासन की स्थापना करना चाहा लेकिन अब देर हो चुकी थी। उसके सेनापतियों ने सुझाव दिया कि उसके पदत्याग के अतिरिक्त कोई चारा नहीं है क्योंकि सैनिक भी साथ नहीं हैं। जार निकोलस ने मजबूरन सिंहासन छोड़ देने का निर्णय किया और इच्छा जाहिर की कि उसका उत्तराधिकारी उसके पुत्र अलेक्सिस को न बनाकर उसके भाई माइकेल को बनाया जाए। उत्तराधिकारी का प्रश्न अभी स्पष्ट नहीं हुआ था तभी पेत्रोग्राद में

गणतंत्र की मांग तेज होने लगी। मजबूरन माइकेल ने भी अपना दावा छोड़ दिया और रूस का भविष्य भावी संविधान सभा के निर्णय पर छोड़ दिया गया।

कार्यवाहक सरकार में प्रिंदल्वोफ, मिलिउकांफ और केरेंसकी जैसे लोग थे। सरकार का चरित्र पूर्णतया मध्यवर्गीय था और उसका स्पष्ट लक्ष्य था एक संवैधानिक सरकार की स्थापना। एक संवैधानिक राजतंत्र की भी संभावना बनी हुई थी। यह सरकार युद्ध चलाते रहने के पक्ष में थी। यह स्पष्ट था कि सरकार व्यक्तिगत संपत्ति तथा संवैधानिक तरीकों की हिमायती थी और रूस को वही मध्यवर्गीय पूंजीवादी स्वरूप देती जो पश्चिमी यूरोप में प्रचलित था। इस कार्यवाहक सरकार को भी जिस शीघ्रता से दुनिया के प्रमुख पूंजीवादी देशों—अमेरिका, इंग्लैंड, फ्रांस, इटली और जापान ने मान्यता दी उससे उसका चरित्र स्पष्ट हो जाता है।

इसी बीच मेंशेविक लोगों के नियंत्रण में सोवियत का संगठन बढ़ने लगा। गांव में किसान, नगरों में मजदूर और सेना में सैनिक अपनी अपनी सोवियत बनाने लगे और बूर्जुआ सरकार के स्थान पर एक क्रांतिकारी सरकार बनाने के लिए संविधान सभा की बैठक जल्दी बुलाने की मांग करने लगे। उन्होंने सारे देश में सोवियतों की प्रतिनिधि सभा अप्रैल 1917 में बुलाई और साम्राज्यवाद के अंत तथा आत्मनिर्णय का नारा दिया। उसने भी युद्ध के पक्ष में निर्णय किया और मुख्य रूप से भूमि के वितरण की वकालत की। इसी दौरान लेलिन स्विटजरलैंड से पेत्रोग्राद पहुंच चुका था। उसने दूसरी क्रांति का नारा दे दिया। पेत्रोग्राद में उसका प्रभाव चमत्कारी ढंग से बढ़ रहा था और इससे एक ओर कार्यवाहक सरकार और दूसरी ओर मेंशेविक आतंकित हो उठे थे। फलतः दोनों ने वोल्शेविकों के विरुद्ध मिलकर मोर्चा बनाने के लिए समझौता कर लिया और मेंशेविक सरकार में शामिल हो गए। आंतरिक सुधारों के विषय में भले ही मतभेद हो, युद्ध जारी रखने के विषय में दोनों एकमत थे और इसलिए उन्हें मित्रराष्ट्रों का समर्थन प्राप्त था। लेकिन राजधानी का प्रबंध नई सरकार के हाथ से निकलता जा रहा था।

लेनिन : व्लादीमीर इल्यिच इलियानोव, जिसे सारी दुनिया लेनिन के नाम से जानती है, 1870 में एक साधरण मध्यमवर्गीय परिवार में जन्मा था। उसके पिता शिक्षा अधिकारी थे लेकिन उनकी मृत्यु हो जाने से लेनिन को मां के साए में ही पलना पड़ा। मां अद्भुत धैर्य और परिश्रम वाली महिला थीं। लेनिन के विद्रोही मन को उन्होंने कभी रोका नहीं और लेनिन को घर का प्यार नसीब होता रहा। जार अलेक्जेंडर तृतीय पर बम फेंकने के अपराध में जब उसके बड़े भाई किशोर अलेक्जेंडर को गोली से उड़ा दिया गया तो लेनिन के जीवन का लक्ष्य उस व्यवस्था को जड़ से उखाड़ फेंकना हो गया जो अन्याय और आतंक पर आधारित थी। उसने अपना व्यक्तिगत क्षोभ धीरे धीरे एक वैज्ञानिक स्वरूप से पुष्ट किया और अपने अध्ययन मनन से वह इस नतीजे पर पहुंचा कि समाज में जब तक मेहनतकश लोगों की सत्ता नहीं कायम हो जाती अन्याय समाप्त नहीं हो सकता।

लेनिन को छात्र जीवन से ही जारशाही का शिकार होना पड़ा क्योंकि अलेक्जेंडर के भाई और उग्रवादी के रूप में उसे जाना जाने लगा था। उसे विश्वविद्यालय से निकाला

गया। जेल भी जाना पड़ा परंतु इससे उसका निश्चय बढ़ता ही गया। किसी तरह वकालत की परीक्षा पास कर वह वकील बन गया और त्रस्त लोगों के हितों की रक्षा में असाधारण उत्साह का परिचय देने लगा। वह सोशल डेमोक्रेट्स के दल का सक्रिय सदस्य हो गया और उसका कार्यक्षेत्र पूरा देश हो गया।

उसने मार्क्सवाद का विशद अध्ययन किया था और इस निर्णय पर पहुंचा था कि इसके बिना रूस ही नहीं किसी देश की समस्याओं का समाधान नहीं हो सकता। वह उन सिद्धांतों को अपने दल की कार्यनीति में परिणत करने के लिए लड़ता रहा और उसके दल के नरम लोगों से उसका विरोध बढ़ता रहा। अंत में 1903 में वह विरोध प्रकट हो गया। बोल्शेविक समर्थक समाज में आमूल परिवर्तन के पक्षधर थे और यह परिवर्तन क्रांतिकारी ढंग से करना चाहते थे। 1906 में जब ड्यूमा की स्थापना के साथ रूस में पहली बार क्रांतिकारी परिवर्तन हुआ तो लेनिन पेत्रोग्राद में था और उसने इस क्रांति में सक्रिय हिस्सा लिया। उसके बाद उसका रूस में रहना असंभव कर दिया गया।

ग्यारह वर्षों तक वह पश्चिमी देशों में उनके कानून से बचता हुआ रूस के क्रांतिकारियों को संगठित करता रहा। उसने ज्यादातर समय पेरिस और ज्यूरिख में बिताया लेकिन सारे यूरोप में क्रांतिकारियों से उसका संपर्क बना रहा। इसी बीच उसने महत्वपूर्ण पुस्तकें और लेख लिखे। 'इस्क्रा' नामक ऐतिहासिक पत्र का संपादन भी किया जिसकी प्रतियां हजारों मील दूर रूस में पहुंचाई जाती थीं और रूस के क्रांतिकारी उससे दृष्टि पाते थे तथा अपनी रणनीति निश्चित करते थे। यह एक बेमिसाल उदाहरण था कि इतनी दूर रहकर भी कोई इतने बड़े आंदोलन का नेता बना रहे। उसने कितने ही सम्मेलनों में भाग लिया और दुनिया के समाजवादी आंदोलन को भटकने से बचाया। इसी समय दूसरा क्रांतिकारी 'प्लेखानोफ' भी निर्वासित था और उससे लेनिन का सैद्धांतिक मतभेद हो गया था। सारे यूरोप के मार्क्सवादी विभाजित हो चले थे। लेनिन ने दिन रात एक करके आंदोलन को एक सूत्र में बांधने का प्रयास किया और जब उसका टूटना निश्चित हो गया तो बहुमत को सही और वैज्ञानिक समाजवाद से जोड़े रखने के लिए अथक प्रयास किया। इस दौरान रूखा-सूखा खाकर अपने छोटे से कमरे में रहकर वह अध्ययन, मनन तथा लेखन करता रहा। मार्क्सवाद की उसने व्याख्या की और उसे समय के अनुसार विकसित किया। अपनी आदर्श पत्नी 'क्रुप्सकाया' का सहयोग उसे निरंतर मिलता रहा और उसका घर स्नेहसिक्त आतिथ्य-नेतृत्व के लिए सदैव खुला रहा।

जब युद्ध शुरू हुआ तो लेनिन पहला व्यक्ति था जिसने घोषित किया कि यह एक साम्राज्यवादी युद्ध है जिससे दुनिया के श्रमजीवियों को कोई लाभ नहीं होगा। उसने रूस की घटनाओं से संपर्क बनाए रखा और उपयुक्त समय का इंतजार करता रहा। जब मार्च 1917 में पहली क्रांति हुई तो उसने तत्काल रूस पहुंचने का निर्णय किया। नई सरकार ने राजनीतिक लोगों पर से प्रतिबंध हटा लिया और लेनिन शीघ्र रूस पहुंचकर स्थिति पर नियंत्रण करना चाह रहा था। लेकिन वह रूस जाए कैसे? मित्रराष्ट्र उसके विरोधी थे और यात्रा के बीच ही वह गिरफ्तार हो सकता था। उसने जर्मनी के सम्राट विलियम

से संपर्क किया। जर्मन सरकार जानती थी कि लेनिन युद्ध का विरोधी है और रूस पहुंचकर यदि वह युद्ध बंद कर सका तो जर्मनी का पूर्वी मोर्चा शांत हो जाएगा और वह पश्चिमी मोर्चे पर और संगठित ढंग से युद्ध चला सकेगा। जर्मनी की सुरक्षा में उसने एक रेल डिब्बे में गुप्त रूप से रूस की यात्रा की और अप्रैल 1917 में जब वह पेत्रोग्राद पहुंचा तो रूस में बिजली दौड़ गई। बिना प्रचार के लाखों लोगों ने उसका स्वागत किया और स्टेशन पर ही उन्मत्त भीड़ के सामने लेनिन ने घोषित किया कि रूसी क्रांति पूरी नहीं हुई है। एक दूसरी क्रांति अनिवार्य है।

अब राजधानी का वातावरण बदल गया। नई सरकार ने अभी तक संविधान सभा की बैठक नहीं बुलाई थी। सेना में क्षोभ बढ़ता जा रहा था। मजदूर बेरोजगार थे। कृषि में कुछ महीनों में परिवर्तन होना असंभव था इसलिए किसान भी रुष्ट थे। सरकार दिवा-लिया हो चली थी। न तो कारखानों पर मजदूरों का अधिकार हुआ था, न सामंतों की जमीन ली गई थी और न युद्ध ही रुका था। नई सरकार से रूस की जनता के जीवन पर कोई असर नहीं पड़ा था। ऐसी दशा में शासन जार करे या एक मंत्रिमंडल जनता को इससे क्या लेना देना था? कार्यवाहक सरकार में विभिन्न दलों के प्रतिनिधियों में फूट थी। प्रधानमंत्री ल्याफ और युद्ध मंत्री केरेंसकी में मतैक्य नहीं था। इन स्थितियों का लेनिन ने फायदा उठाया और उसने नई सरकार पर खुला प्रहार करना शुरू किया। बिना एक क्षण भी आराम किए उसने बोल्शेविक दल को संगठित करना और उसका प्रभाव बढ़ाना शुरू किया। उसे जीनोवीव, कामेनेफ, स्तालिन आदि का सहयोग प्राप्त था। अभी हाल ही में उसे एक प्रखर बुद्धिजीवी त्रात्स्की का सहयोग मिला था जो रूमानी विचारों का व्यक्ति था। लेकिन उसने लेनिन का नेतृत्व पूरी तरह स्वीकार कर लिया था। सारे बोल्शेविकों का लेनिन सर्वमान्य नेता था और आंदोलन का सूत्र उसके हाथ में था। उसने देश के सामने सर्वहारा क्रांति का नया कार्यक्रम रखा जिसमें संपत्ति पर समाज का अधिकार, युद्ध स्थगन, किसानों, मजदूरों और सैनिकों की सोवियत का शासन और उत्पादन तथा वितरण पर राज्य के अधिकार की बात प्रतिपादित की गई थी। देश के सामने नई संभावनाएं आईं। जब जर्मनी तथा आस्ट्रिया के विरुद्ध युद्ध में कार्यवाहक सरकार की सेनाएं परास्त होने लगीं तो धैर्य टूट गया। मजदूरों और सैनिकों ने लाखों की संख्या में प्रदर्शन किए और नवंबर 1917 में नई सरकार के हाथ से सत्ता छिन गई।

दूसरी क्रांति ने सारी सत्ता बोल्शेविकों और उनके नेता लेनिन के हाथों में दे दी। लेनिन ने अपनी अभूतपूर्व योग्यता का परिचय दिया और अब उसने दिखाया कि वह असाधारण राजनेता भी है। उसने तत्काल जर्मनी से संधि कर ली और रूस में राजनी-तिक परिवर्तन के साथ आर्थिक और सामाजिक संरचना को नया स्वरूप देना शुरू किया। पश्चिमी देशों ने प्रतिक्रियावादी शक्तियों को मदद पहुंचाई लेकिन त्रात्स्की के कुशल संगठन और लेनिन के नेतृत्व में लाल सेना ने गृह युद्ध में विजय पाई। तीन वर्षों में ही भयानक कठिनाइयों के बावजूद क्रांति की जड़ें जम गईं और दुनिया के इतिहास में एक नया अध्याय जुड़ा।

क्रांति के बाद सात वर्षों तक लेनिन ने रूस में क्रांतिकारी समाज का संगठन करने में व्यावहारिक और दूरदर्शी नेतृत्व का प्रदर्शन किया। समाज का सारा ढांचा ही बदल दिया गया। व्यक्तिगत संपत्ति समाप्त हो गई। सहकारी आंदोलन बढ़ा। उद्योगों में मजदूरों का प्रबंध शुरू हो गया। सारे रूस के गणतंत्रों का सोवियत संघ संगठित हुआ और कृषि तथा उद्योग दोनों में उत्पादन क्रांतिकाल के पहले के स्तर से ऊपर उठ गया। इस बीच लेनिन की हत्या के प्रयत्न भी किए गए। एक बार उसे गोली लगी भी लेकिन उद्दाम जिजीविषा और निस्सीम उत्साह के कारण वह अपने मिशन में लगा रहा। अंत में चालीस वर्षों के अनवरत संघर्ष से उसका शरीर टूट गया और 1924 में उसकी मृत्यु हो गई।

लेनिन केवल क्रांतिकारी नहीं था। वह एक विद्वान विचारक था और मार्क्सवाद की उसकी व्याख्या ने वैज्ञानिक समाजवाद को ग्राह्य और व्यावहारिक स्वरूप प्रदान किया। वह एक कुशल कूटनीतिज्ञ और राजनेता सिद्ध हुआ और क्रांति को क्रियान्वित करने में अभूतपूर्व प्रतिभा दिखाई। वह क्रांति के सैद्धांतिक तथा व्यावहारिक दोनों पक्षों में एक साथ योग्यता के कारण अद्वितीय बना रहा। रूस ही नहीं सारी दुनिया के श्रमजीवियों में आशा तथा विश्वास का संचार करने में उसे सफलता मिली। उसने समाज के विकास के उस दौर को, प्रशस्त किया जिसमें वर्ग संघर्ष में श्रमिक वर्ग की अनिवार्य जीत होने का सत्य निहित है।

अक्टूबर क्रांति : कार्यवाहक सरकार ने सोचा था कि मित्र राष्ट्रों की ओर से जर्मनी तथा आस्ट्रिया के विरुद्ध विजय मिलने पर सरकार में लोगों का विश्वास बढ़ जाएगा और परिस्थिति नियंत्रित करने में आसानी होगी। उसने दक्षिण-पश्चिम में आस्ट्रिया के विरुद्ध हमले की योजना बनाई थी क्योंकि वहां सफलता की अधिक संभावना थी। अनुशासन के अभाव में इस योजना का दुश्मन को पता चल गया और जर्मनी ने उस क्षेत्र में आस्ट्रिया के मोर्चों को मजबूत कर दिया। जून में रूस को थोड़ी सफलता मिली लेकिन शीघ्र ही जर्मन और आस्ट्रियाई फौजों ने आक्रामक लड़ाई शुरू कर दी और रूसी सेना में अराजकता फैल गई। सैनिकों ने विद्रोह कर अपने अफसरों को गोली मार दी और जर्मन फौजें तेजी से रूस में पहुंचने लगीं। नई सरकार का अंतिम सहारा भी टूट गया।

एक तरफ अनिर्णय और अराजकता थी तो दूसरी तरफ बोल्शेविक दल ने सुनिश्चित कार्यक्रम घोषित किया था। उसकी नीतियों में जनता के लिए आशा तथा आश्वासन था। इन नीतियों का मुख्य आधार था :

—युद्ध का तत्काल अंत और जर्मनी से संधि।
—सामंतों की भूमि पर बिना मुआवजा दिए और बिना कानून की बारीकियों पर ध्यान दिए तुरंत अधिकार।
—कारखानों पर मजदूरों का अधिकार तथा प्रबंध।
—संपूर्ण उत्पादन और वितरण पर राष्ट्र का नियंत्रण।
—हर स्तर पर मजदूरों, किसानों और सैनिकों की सोवियत के हाथों में शासन और वर्तमान सरकारी तंत्र का अंत।
—संपत्तिधारी वर्ग के राजनीतिक अधिकारों का अंत।

किसान को चाहिए थी भूमि। मजदूर को चाहिए था रोजगार। दोनों को इस घोषणा से उनका प्राप्य ही नहीं एक ऐसा अधिकार मिलना था जिसकी साधारणतया कल्पना भी कठिन थी। जनता राजनीतिक रूप से पूरी तरह दीक्षित नहीं थी। परंतु इस कार्यक्रम को वह उचित समझने लगी क्योंकि सबसे महत्वपूर्ण बात तो यही थी कि अब देशभक्ति के नाम पर जार के लिए लड़ने से उसका मोह भंग हो गया था। जर्जर देश लगातार हारता हुआ आखिर कब तक लड़ सकता था? किसान मजदूर ही नहीं सैनिक भी युद्ध से तंग आ चुके थे और इस कार्यक्रम में तत्काल युद्ध स्थगन का आश्वासन था। कुल मिलाकर परिणाम यह हुआ कि बोल्शेविक कार्यक्रमों के अनुयाइयों की संख्या बढ़ती गई और लेनिन का विश्लेषण और कार्यनीति सफल होते गए।

16 जुलाई को पहला विद्रोह हुआ और पेत्रोग्राद की सड़कों पर 'युद्ध बंद करो', पूंजी-वादी मंत्री मुर्दाबाद', 'सत्ता सोवियतों को' के नारे गूंज उठे। सैनिक और मजदूर साथ थे लेकिन उनको दबा दिया गया। केरेंसकी ने मोर्चे से एक सेना इस विद्रोह के दमन के लिए राजधानी भेज दी। अब लेनिन ने समझ लिया कि तत्काल कदम उठाने की अपेक्षा सारी सेना को अपनी ओर कर लेना आवश्यक है। केवल राजधानी पर नियंत्रण होने से काम नहीं चलेगा। सारे देश में एक साथ कुछ होना जरूरी है।

इसी बीच सरकार के आपसी झगड़ों के फलस्वरूप सत्ता केरेंसकी के हाथों में आ गई और वह प्रधानमंत्री हो गया। वह सरकार को मजबूत करने का प्रयत्न शुरू ही करने वाला था कि एक और नई स्थिति पैदा हो गई। बोल्शेविकों का प्रभाव बढ़ता देखकर दक्षिणपंथी उग्रवादियों ने 'सर्वहारा की तानाशाही' के स्थान पर 'सेना की तानाशाही' का नारा दिया। जनरल कारनिलाफ ने केरेंसकी को अल्टीमेटम दिया कि वह राजधानी में मार्शल ला घोषित कर दे और कार्यवाहक सरकार को भंग कर दे। उसने राजधानी की ओर एक सेना भी भेज दी। अब मंत्रिमंडल ने केरेंसकी को सारे अधिकार सौंप दिए और कारनिलाफ गिरफ्तार कर लिया गया। इस कांड से जनता आतंकित हो गई। जार-शाही के लौटने की संभावना मात्र से लोग भयभीत हो गए। यह भी प्रचार हुआ कि केरेंसकी इस षड्यंत्र में शामिल था और इसका सीधा परिणाम यह हुआ कि बोल्शेविकों का प्रभुत्व तेजी से बढ़ चला। जो ढुलमुल थे वे भी अब उनके कार्यक्रमों को ही विकल्प समझने लगे।

अक्तूबर 1917 में स्थिति ऐसी आ गई कि मध्यमार्गियों की स्थिति डांवाडोल थी। चारों ओर धुंआधार प्रचार हो रहा था। बोल्शेविक, दक्षिणपंथी और जर्मन प्रत्येक माध्यम से सरकार को कमजोर कर रहे थे। सेना में किसी किसी दिन तो पूरा का पूरा रेजिमेंट ही विद्रोह कर देता। युद्ध क्षेत्र से भयावह खबरें आ रही थीं। जर्मन तेजी से बढ़ रहे थे और राजधानी पर भी खतरा बढ़ रहा था। आर्थिक स्थिति बेकाबू थी। असहाय केरेंसकी ने मास्को को ही राजधानी रखने का निर्णय किया। अब निर्णायक घड़ी आ गई थी। बोल्शेविकों ने एक बार फिर घोषणा की : 'सेना में शांति', 'किसानों को जमीन' और 'मजदूरों को कारखाने'। क्रांति के पहले एक महीने में बोल्शेविक प्रभाव ज्वार की तरह बढ़ा। 7 नवंबर को सोवियतों का सम्मेलन होने वाला था। प्रतिनिधियों में इस

वार बोल्शेविकों का बहुमत था। लेनिन ने बोल्शेविक दल की केंद्रीय समिति में सशस्त्र विद्रोह का प्रस्ताव पास करवा दिया और गुप्त रूप से सारी तैयारी पूरी कर ली गई। 6 नवंबर को बोल्शेविक दल की घोषणा हुई कि 'प्रतिक्रियावादी सर उठा रहे हैं और सोवियत कांग्रेस तथा संविधान सभा के विनाश पर उतारू हैं।' रातोंरात सारे दफ्तरों और रेलवे स्टेशनों पर बोल्शेविक समर्थक सैनिकों ने कब्जा कर लिया और सुबह होते ही कार्यवाहक सरकार के अंत की घोषणा कर दी गई। सारी राजधानी में एक ही स्वर गूंज रहा था 'मजदूरों, सैनिकों और किसानों का इन्कलाब जिंदाबाद', दिन में ही मंत्रिमंडल के सभी सदस्य गिरफ्तार कर लिए गए। केरेंसकी भाग निकला। सोवियतों की कांग्रेस ने इस परिवर्तन की स्वीकृति दे दी और रूस में सोवियत सरकार की स्थापना हो गई।

लेनिन ने तत्काल जर्मनी से ब्रेस्तलितोवस्क की संधि कर ली और रूस युद्ध से अलग हो गया। पश्चिमी यूरोप महायुद्ध में व्यस्त था वरना रूसी क्रांति के दमन की अंतर्राष्ट्रीय योजना क्रियान्वित होती। इसी बीच गांव गांव में क्रांति के समर्थकों और विरोधियों में संघर्ष चलता रहा। लाल सेना को विदेशी शक्तियों की मदद से लड़ रहे पुरातन व्यवस्था के समर्थक प्रतिक्रियावादी रूसियों से भारी मोर्चा लेना पड़ा। मजदूर कारखानों का तत्काल समुचित प्रबंध नहीं कर सके। किसान 'राष्ट्र की भूमि' का अर्थ न समझकर कृषि में रुचि नहीं ले सका। वितरण व्यवस्था लड़खड़ा गई। महंगाई और बेरोजगारी तेजी से बढ़ी। लेकिन सब कुछ के बावजूद सदियों से संत्रस्त लोगों की चेतना, लाल सेना का कुशल संगठन, बोल्शेविक दल की लगन और स्थितियों पर नियंत्रण तथा लेनिन के असाधारण नेतृत्व के कारण क्रांति सफलता की ओर बढ़ती चली गई और दो दशकों के भीतर ही रूस में मध्ययुगीन सामंती तथा रूढ़िवादी समाज के स्थान पर एक आधुनिक, औद्योगिक और समानता तथा सामाजिक न्याय के सिद्धांत पर आधारित गतिमान समाज की स्थापना हो गई।

फ्रांस की क्रांति को कुछ पश्चिमी इतिहासकारों ने ईसाई धर्म के प्रादुर्भाव के बाद की सबसे महत्वपूर्ण घटना बताया है और यह सच है कि विकासोन्मुख मानव समाज की यात्रा में वह क्रांति एक निर्णायक मोड़ थी जिसमें सामंती शक्तियों पर बुर्जुआ शक्तियों ने तथा मध्ययुग पर आधुनिकता ने विजय प्राप्त की। लेकिन यह भी सच है कि वह क्रांति अपूर्ण रह गई, भटक गई और समाज के एक छोटे से वर्ग के हित की ही पूर्ति कर सकी। इस क्रांति ने राजनीतिक परिवर्तन किए लेकिन उसके आर्थिक आधार और सामाजिक व्यवस्था को प्रभावित नहीं कर सकी। बिना अर्थतंत्र को बदले और समाज के मूल ढांचे की नई संरचना के क्रांति स्थाई नहीं होती और परिवर्तनों का आधार व्यापक नहीं होता। फ्रांस में यही हुआ था।

रूस की क्रांति मानव समाज के इतिहास में पहला प्रयास थी जब बाह्य परिवर्तनों के स्थान पर सामाजिक संरचना की नई व्याख्या की गई। व्याख्या के साथ उसके आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक रूप में मौलिक परिवर्तन कर उसे सर्वथा नया

स्वरूप प्रदान करने का लक्ष्य रखा गया जिसमें बाद में सफलता भी मिली। इस क्रांति में भी उन लोगों की प्रमुखता नेतृत्व के स्तर पर बनी रही जिसे रूसी भाषा में 'इंटेलिजेंशिया' कहते हैं। लेकिन यह वर्ग, जैसा कि अभी प्रकाशित पुस्तक 'द रशन ट्रेडीशन' में तिबोर जामुएली ने लिखा है : पश्चिमी यूरोप के बुर्जुआ मध्यवर्गियों जैसा नहीं था। इसमें अर्द्धशिक्षित और जागरूक लोग भी शामिल थे। कुछ भी हो यह क्रांति मुख्यतया श्रमजीवियों तथा सर्वहारा के लिए उन्हीं लोगों ने की थी। जो कुछ रूस में संभव हुआ था उसके लिए दुनिया के अन्य पीड़ित प्रताड़ित श्रमजीवी भी अपने देश में संघर्षरत हैं।

12

पेरिस संधि

युद्ध की विभीषिका में संपूर्ण विश्व को चार वर्षों की अग्नि परीक्षा देनी पड़ी जिसमें लाखों ने प्राणों की आहुति दी। लाखों लूले-लगड़े हो गए। परिवार टूट गए और असंख्य नगर ध्वस्त हो गए। चारों तरफ भयंकर रक्तपिपासा को देखकर मानवता त्रस्त हो गई। वह अपने नेताओं से एक नई दुनिया की आकांक्षा रखती थी। अमेरिका के राष्ट्रपति विल्सन के रूप में उन्हें एक शांति का मसीहा दिखाई दे रहा था। उसके द्वारा प्रतिपादित सिद्धांतों में आशा की किरण दिख रही थी। लेकिन दूसरी ओर पश्चिमी यूरोप के कुछ देशों में क्षोभ भी था। इंग्लैंड और फ्रांस की जनता अब भी सारी जिम्मेदारी जर्मनी और उसके मित्रों के सिर थोप रही थी। युद्ध से हुए विनाश का उत्तरदायित्व जर्मनी के सिर मढ़कर वहां एक एक पाई हर्जाने के रूप में वसूल करने की मांग की जा रही थी। जिस बदले की भावना ने प्रथम महायुद्ध को अनिवार्य बना दिया था वह अभी भी मौजूद थी। इस पृष्ठभूमि में सारी दुनिया के नेता पेरिस के रंगीले और तनावपूर्ण वातावरण में शांति की तलाश कर रहे थे। यह निश्चित था कि अभी भी अधिकांश लोग मृग मरीचिका के शिकार थे।

विश्वयुद्ध में सारी दुनिया के अधिकांश देश प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप से शामिल थे। विश्व शांति के नियोजन में भी उन्हें हिस्सा लेने के लिए आमंत्रित किया गया था। लेकिन जिस प्रकार युद्ध प्रमुख रूप से महाशक्तियों के बीच का ही संघर्ष था, उसी प्रकार शांति और समझौते के निर्णयों में भी बड़े राष्ट्रों की प्रमुखता बराबर बनी रही। शक्तिशाली देशों में महत्वपूर्ण समझा जाने वाला रूस भी क्रांति के बाद अलग कर दिया गया था। जर्मनी, आस्ट्रिया आदि पराजित राष्ट्र थे और इसलिए उन्हें वार्ता में शामिल नहीं होने दिया गया। शेष बचे थे अमेरिका, इंग्लैंड, फ्रांस, इटली और जापान। इनमें भी अमेरिका के राष्ट्रपति विल्सन, इंग्लैंड के प्रधानमंत्री लायड जार्ज और फ्रांस के प्रधानमंत्री क्लमांसो ने ही सभी महत्वपूर्ण निर्णय किए थे।

वुडरो विल्सन : इतिहास का प्रवक्ता भी रह चुका था। युद्धकाल में ही उसने शांति के चौदह आधारों की घोषणा की थी। युद्ध रोकने और संधि वार्ता के लिए इन्हें ही आधार बनाया गया था। जर्मन नेता भी विल्सन पर विश्वास कर रहे थे। वहां उसे 'तटस्थ नैतिकता और बुद्धिमत्ता का वाहक' समझा जाता था। उसकी आदर्शवादिता से शांति-प्रेमियों को बड़ी आशाएं थीं। विल्सन को यूरोप की राजनीति में कोई विशेष दिलचस्पी नहीं थी। वह सामान्यतः राष्ट्रवादी प्रवृत्ति का पोषक था। इसका प्रमाण यह था कि

वह एक शताब्दी पहले समाप्त किए गए पौलेंड की पुनर्स्थापना को भी आवश्यक समझता था। वह जर्मनी से बदला लेने के पक्ष में नहीं था। वह पेरिस एक निश्चित इरादे से आया था कि संधिवार्ता के साथ साथ एक अंतर्राष्ट्रीय संगठन की स्थापना को भी अंतिम रूप दिया जा सके ताकि भविष्य में अंतर्राष्ट्रीय झगड़े बीच-बचाव और शांतिपूर्ण ढंग से सुलझ सकें तथा दुनिया में सद्भाव बढ़े। एक प्रकार से संधिवार्ता से अधिक वह राष्ट्रसंघ की स्थापना को महत्व देता था। लेकिन उसे यूरोपीय राजनेताओं की मनोवृत्ति का या तो पता नहीं था या उसे नियंत्रित कर लेने के बारे में वह पूर्णतः आश्वस्त था। उसका यह भ्रम शीघ्र टूट गया जब उसे राष्ट्रसंघ के विषय में सहमति प्राप्त करने के लिए बहुत से अवांछित समझौते करने पड़े। अमेरिकी आदर्शवादिता यूरोप की धूर्तता के आगे पराजित हो गई। उसकी सबसे बड़ी कमजोरी यह थी कि वह अपने देश के जनमत का प्रतिनिधित्व नहीं करता था। इसका प्रमाण तत्काल मिला जब अमरीका ने राष्ट्रसंघ में शामिल होने से इनकार कर दिया। पेरिस में विल्सन को उतनी सफलता नहीं मिली जितने की उसने कल्पना की थी तथापि यह मानना पड़ेगा कि पेरिस की संधियों में जो कुछ भी उदारता बरती गई उस पर इसी का प्रभाव था। पेरिस आने पर यूरोप में उसे शांति का प्रणेता कहा गया और एक रोमन विजेता की भांति उसका स्वागत किया गया था। ब्रिटिश प्रधानमंत्री लायड जार्ज के अनुसार उसे सर्वोत्कृष्ट सम्मान, आस्था और भक्ति समर्पित की गई थी। लेकिन लौटने पर न तो वह पूरी तरह संतुष्ट था और न ही प्रशंसित। उसने दो बातों पर सबसे अधिक जोर दिया था—प्रजातंत्र और आत्मनिर्णय का सिद्धांत, और दोनों में ही उसे पूरी सफलता नहीं मिली।

लायड जार्ज : कुशल और उदार प्रधानमंत्री के रूप में लायड जार्ज प्रख्यात था और युद्धकाल में उसने राष्ट्र का अभूतपूर्व योग्यता से नेतृत्व किया। इससे उसका सम्मान भी बढ़ा था। उसमें इंग्लैंड की परंपरागत व्यवहारकुशलता के साथ उदारता का भी पुट था। लेकिन पेरिस आने से पहले जो चुनाव हुए उसमें इंग्लैंड की जनता ने 'जैसे को तैसा' का उदाहरण पेश किया और जर्मनी से क्षति की एक एक शिलिंग पूर्ति करने का आग्रह किया था। पूरे देश में 'कैसर को फांसी दे दो' के नारे गूंज रहे थे। इस तरह लायड जार्ज अपने राष्ट्रीय जनमत का ध्यान रखते हुए जर्मनी के विरुद्ध सख्त दृष्टिकोण अपनाने के लिए मजबूर हो गया। साथ ही उसे यूरोप से भी अधिक महत्वपूर्ण इंग्लैंड के विस्तृत साम्राज्य का खयाल था। वह यूरोप के बारे में समझौता कर सकता था लेकिन साम्राज्य के विषय में कोई हस्तक्षेप स्वीकार करने को तैयार नहीं था। इंग्लैंड के व्यावसायिक हित के लिए जर्मनी का समृद्ध होना आवश्यक था और यह इंग्लैंड के राजनीतिक हित में था कि जर्मनी संतुष्ट और शांतिप्रिय बना रहे। इसलिए जर्मन नौसैना के विनाश के अतिरिक्त वह जर्मनी का और दमन नहीं करना चाहता था। साथ ही वह फ्रांस को भी अधिक शक्तिशाली नहीं देखना चाहता था। उसने बड़ी कुशलता से क्लमांसो की उग्र और विल्सन की आदर्शवादी नीति के बीच संतुलन रखते हुए इंग्लैंड के हितों को सामने रखा। इसीलिए उस पर क्लमांसो जैसा कठोर होने का आरोप नहीं लगाया गया। उसने

अपने देश की तनिक हानि भी नहीं होने दी। फिशर के अनुसार, पेरिस में सबसे अधिक लाभ उसे ही हुआ।

क्लमांसो : अपनी जुझारू नीतियों के कारण क्लमांसो राजनीति में शेर कहा जाता था। रिशलिउ, माजारें, लूई चौदहवें तथा दातों के साथ इतिहास में विचरण करने वाले क्लमांसो को केवल तीन चीजों से प्यार था— विज्ञान, फ्रांस और स्वतंत्रता। वह फ्रांस की सेदां में पराजय तथा अलसास और लोरेन के जर्मन साम्राज्य द्वारा हड़पे जाने को एक क्षण के लिए भी भूल नहीं पाया था। उसने देखा था कि जब भी जर्मनी की शक्ति बढ़ती है तो फ्रांस के लिए खतरा पैदा हो जाता है। वह न केवल अलसास और लोरेन वापस लेने के लिए कृतसंकल्प था, बल्कि उसने जर्मनी को इस तरह पंगु बनाने की योजना भी बनाई थी जिससे जर्मनी पुनः सिर न उठा सके। अपने देश की असुरक्षा देखकर वह अतीत के लिए क्षतिपूर्ति और भविष्य के लिए सुरक्षा चाहता था। बिस्मार्क ने फ्रांस को केवल एकाकी और मित्रहीन बनाया था। क्लमांसो जर्मनी को असहाय और शक्तिहीन बना देना चाहता था। उसकी योजनाओं को प्राथमिक सफलता तो इसी बात से मिल गई थी कि सम्मेलन पेरिस में बुलाया गया। पेरिस में एकत्र राजनेता वहां सुनियोजित ढंग से हो रहे प्रचार से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकते थे। क्लमांसो ने कटूनीति और दृढ़ता के सहारे कितनी ही बातों पर विल्सन को झुकने के लिए मजबूर कर दिया था। उसे मालूम हो गया था कि विल्सन हर कीमत पर राष्ट्रसंघ की स्थापन चाहता है। इसी बात को वह मानो ताश के खेल में तुरुप के पत्तों की तरह इस्तेमाल करता था और इस मार्ग में बाधा देने का इशारा करके विल्सन को अपने पक्ष में कर लेता था। फ्रांस की सुरक्षा और जर्मनी का दमन उसके लिए अभियान बन गए थे। पेरिस में उसे इस दिशा में सफलता मिली। लेकिन समय ने सिद्ध कर दिया कि उसके जैसा आक्रांत और आक्रामक नेता अपने देश का दूरगामी लाभ नहीं कर सकता।

इन तीन बड़े नेताओं के अतिरिक्त इटली का प्रधानमंत्री आरलैंडो इस खयाल से पेरिस आया था कि अपूर्ण इटली की लालसाएं पूरी होंगी और उसका विस्तार होगा। उसने जर्मन गुट से अलग होकर मित्र राष्ट्रों की मदद की थी, इसलिए उसे अतिरिक्त पुरस्कार की भी आशा थी। लेकिन उसे जब न महत्व मिला, न उसकी मांगें ही मानी गईं तो वह क्षुब्ध होकर लौट गया। इटली का कहना था कि फ्रांस को अलसास और लोरेन तथा इंग्लैंड को जर्मनी के अधिकांश उपनिवेश मिल रहे हैं। परंतु हमें क्या मिल रहा है ? जापान का प्रतिनिधि भी यूरोप के सामने एशिया में जापान की प्रभुसत्ता स्वीकार कराने आया हुआ था। उसे प्रशांत महासागर और पूर्वी एशिया में सर्वोच्चता प्राप्त करने की आशा थी। लेकिन जापान अभी यूरोप की कूटनीति की पेचीदगी से परिचित नहीं था। उसे शीघ्र ही निराश होना पड़ा। इसके अतिरिक्त पेरिस में यूरोप के हर देश के कूटनीतिज्ञ और नेता मौजूद थे। पोलैंड के राष्ट्रवादी आंदोलन का नेता पिलसुद्स्की मौजूद था। यहां तक कि एशिया और अफ्रीका के नेता वहां आमंत्रित थे। भारत जैसे उपनिवेश को भी आमंत्रित किया गया था। लेकिन दुनिया भर के लोगों की रंगारंग नुमाइश में सूत्रधार तीन ही थे—विल्सन, जार्ज और क्लमांसो।

युद्ध रोकने और बाद की संधियों का आधार विल्सन के निम्नलिखित चौदह सिद्धांत थे :

1. गुप्त संधियों के स्थान पर खुली वार्ता पर आधारित संधियां जो सर्वज्ञात हों।

2. विभिन्न देशों की सामुद्रिक सीमा से बाहर युद्ध और शांतिकाल में समुद्रों पर सभी देशों का समान अधिकार।

3. आर्थिक व्यवधानों का अंत और विभिन्न राष्ट्रों के बीच व्यवसाय के लिए समान स्थितियों की स्थापना।

4. देश की सुरक्षा को ध्यान में रखते हुए सभी देशों का निरस्त्रीकरण।

5. उपनिवेशों के भविष्य का वहां की जनता के हितों और जिस देश का उपनिवेश हो वहां के हितों को ध्यान में रखते हुए निष्पक्ष निर्धारण।

6. रूस की भूमि पर किए गए कब्जे का अंत, ताकि हर देश को अपनी राष्ट्रीय नीति का पालन करने की स्वतंत्रता हो।

7. बेल्जियम की सार्वभौमिकता की पुनर्स्थापना।

8. फ्रांसीसी भूमि पर विदेशी सत्ता का अंत तथा अलसास और लोरेन की वापसी।

9. राष्ट्रीयता के आधार पर इटली की सीमाओं का पुनर्निर्धारण।

10. आस्ट्रिया हंगरी साम्राज्य के लोगों का स्वतंत्र विकास।

11. रूमानिया, सर्बिआ तथा मोंटेनेग्रो की स्वतंत्रता और सर्बिआ की सीमाओं के एड्रियाटिक सागर तक विस्तार की गारंटी।

12. तुर्की की सार्वभौमिक सत्ता की स्थापना। तुर्क साम्राज्य की अन्य राष्ट्रीयताओं का स्वतंत्र विकास तथा दारदानैल के जलडमरू मध्य में सभी देशों के जहाजों के मुक्त यातायात की गारंटी।

13. पोलिश जाति जिन क्षेत्रों में रहती है उनपर स्वतंत्र पोलेंड की स्थापना तथा उसके लिए एक बंदरगाह, उसके राजनीतिक, आर्थिक स्वतंत्रता तथा क्षेत्रीय अक्षुण्णता की गारंटी।

14. राष्ट्रसंघ (लीग आफ नेशंस) की स्थापना।

ये सिद्धांत पूर्णतः स्पष्ट नहीं थे। सभी देशों को स्वीकार भी नहीं हो सकते थे। व्यावहारिक स्तर पर इनमें बहुत से परिवर्तन भी करने पड़े। लेंगसम के अनुसार, इनमें से पांच क्रियान्वित किए गए, चार को मित्र राष्ट्रों के पक्ष में बदला गया और शेष पांच को उपेक्षित कर दिया गया। लेकिन ये सूत्र संधिवार्ता के लिए आधार अवश्य बन सकते थे। और इनका उपयोग भी हुआ। संधि के लिए कुल 58 आयोगों का गठन हुआ जिन्हें विभिन्न विषयों पर छानबीन करके रिपोर्ट तैयार करनी थी। इसके अतिरिक्त अलग अलग नेताओं में अनौपचारिक वार्ता हुई और ज्यादातर बातें व्यक्तिगत स्तर पर तय कर ली गईं। औपचारिक रूप से पेश कर उनपर स्वीकृति भी ले ली गई। जर्मनी को शर्तों पर विचार करने के लिए कुछ घंटों का समय दिया गया। जब उन्होंने आनाकानी की तो लायड जार्ज ने धमकाया : 'हमें यह देखना है कि जिन लोगों ने युद्ध शुरू किया वे भविष्य में फिर इस लायक न रह जाएं। जर्मन लोग—उनके समाचारपत्र और राजनीतिज्ञ कह रहे

हैं कि वह इस पर हस्ताक्षर नहीं करेंगे। मैं कहता हूं आपको हस्ताक्षर करना चाहिये। आप यहां नहीं करते तो वर्लिन में करेंगे। (रेंवींसि जेंटिलमेन यू मस्ट साइन इफ यू डू नाट डू सो इन वेर्साई यू शैल डू सो इन वर्लिन) जर्मन गुट के देशों से अलग अलग संधियां की गईं जिसका उद्देश्य प्राय: एक था। कुल मिलाकर पांच संधियां हुईं जिन्हें पेरिस और आसपास के उन राजप्रासादों के नाम से जाना जाता है जहां इनपर हस्ताक्षर हुए।

सैव्र की संधि : तुर्की से सैव्र की संधि हुई जिसके अनुसार तुर्की का साम्राज्य उस से ले लिया गया और अव तुर्की एशिया माइनर प्रायद्वीप तथा कुस्तुनतुनिया नगर तक सीमित रह गया। एक विशेष प्रावधान के द्वारा 'मैंडेट' प्रणाली शुरू की गई और फिलीस्तीन, ट्रांसजारडैनिआ तथा मेसोपोटामिया इंग्लैंड को एवं सीरिया फ्रांस को उस समय तक के लिए सुपुर्द कर दिए गए जव तक ये क्षेत्र स्वतंत्र होने के लायक न हो जाएं। इनके शासन और प्रगति की रिपोर्ट—राष्ट्रसंघ के 'मैंडेट कमीशन' को देना अनिवार्य कर दिया गया। तुर्की में इसी वीच मुस्तफा कमाल के हाथ में सत्ता आ गई और नए तुर्क गणतंत्र ने इस संधि को मानने से इनकार कर दिया। अंत में, चार वर्षों वाद यूनान से हुए युद्ध के परिणामस्वरूप लोसान्न में एक दूसरी संधि हुई जिसे तुर्की, यूनान और अन्य देशों ने भी मान लिया। इस संधि से तुर्की की प्रतिष्ठा पुन: स्थापित हो गई और वह यूरोप से पहली संधि की तरह पूरी तरह निष्कासित होने से वच गया।

नइयी की संधि : वल्गेरिया के साथ नइयी के महल में संधि हुई। वल्गेरिया से दोवरुजा प्रांत लेकर रूमानिया को दे दिया गया और एजियन सागर तट वल्गेरिया से ले लिया गया। इस तरह अव उसके पास केवल काला सागर का तट रह गया। उसकी सेना 20 हजार तक सीमित कर दी गई। जर्मनी का साथ देने के कारण वाल्कन प्रायद्वीप के नवोदित देशों में सवसे अधिक क्षति वल्गेरिया की ही हुई और अव वह इस क्षेत्र का सवसे महत्वहीन देश वन गया।

त्रिआनों की संधि : हंगरी के साथ त्रिआनों में संधि हुई। हंगरी को आस्ट्रिया से अलग गणतंत्र माना गया। उसकी सीमाएं संकुचित कर दी गईं। उसे रूमानिया को ट्रांसिलवानिया देना पड़ा। उत्तर में एक हिस्सा नए देश चेकोस्लोवाकिया को देना पड़ा। हंगरी की सेना 35 हजार तक सीमित कर दी गई। हंगरी एक समुद्रतट विहीन देश वन गया और इसका उसकी भावी उन्नति पर वहुत वुरा असर पड़ा। हंगरी आस्ट्रिया के प्रभुत्व के कारण जर्मन गुट में था इसलिए वहां राष्ट्रीयता का सिद्धांत पूरी तरह नहीं लागू हुआ और सीमा निर्धारण में वहुत से ऐसे क्षेत्र जहां हंगरी की मगयार जाति रहती थी, अन्य देशों को दे दिए गए। मगयार जाति की गरिमा समाप्त हो गई। स्लोवाकिया, ट्रांसिलवानिया तथा क्रोशिया जिसे मगयार जाति अपना समझती थी, पास के गणतंत्रों में वंट गए। हताश हंगरी के असंतोष की कोई सीमा नहीं थी।

सैं जरमैं की संधि : आस्ट्रिया के साथ सैं जरमैं में संधि हुई। इस संधि से न केवल आस्ट्रियाई साम्राज्य की परंपरा समाप्त हुई, उसने आस्ट्रिया को यूरोप के छोटे और गौण देशों की कोटि में ला विठाया। आस्ट्रिया को हंगरी से अलग कर दिया गया। वह भी एक समुद्रतट विहीन देश हो गया। इसका निश्चित रूप से प्रावधान कर दिया गया कि

आस्ट्रिया और जर्मनी कभी मिल नहीं सकते जब तक कि राष्ट्रसंघ की इजाजत न मिल जाए। आस्ट्रिया को अपने बहुत बड़े भूभाग और जनसंख्या से हाथ धोना पड़ा। उसकी सेना की सीमा 30 हजार निर्धारित कर दी गई। आस्ट्रिया न नौसेना रख सकता था न वायुसेना। इस तरह शार्लमन के पवित्र रोमन साम्राज्य का उत्तराधिकारी आस्ट्रिया, जो एक समय में यूरोप का सबसे बड़ा और सम्मानित साम्राज्य था, अब यूरोप के लघुतम गणतंत्रों में से एक हो गया। सांस्कृतिक परंपराओं के नाते वियेना की याद भले ही की जाती हो, आस्ट्रिया का राजनीतिक महत्व हमेशा के लिए समाप्त हो गया। एक ही तूफान में राजवंश, सेना और साम्राज्य सब कुछ समाप्त हो गया और भविष्य के लिए कोई आशा नहीं बची।

वेर्साई की संधि : पेरिस की संधियों में सबसे महत्वपूर्ण वेर्साई की संधि थी जो जर्मनी के साथ संपन्न हुई। इसका अध्ययन विस्तार से करना आवश्यक है। वेर्साई के उसी शीशकक्ष (हाल आफ मिरर्स) में, जहां बिस्मार्क ने फ्रांस के सम्मान की उपेक्षा कर जर्मन साम्राज्य की घोषणा की थी, जर्मनी से बदला लेने की प्रवृत्ति के कारण जर्मन प्रतिनिधि मंडल को पहले से तैयार किए गए संधिपत्र पर हस्ताक्षर करने के लिए बुलाया गया। उन्हें एक बार भी मौका नहीं दिया गया कि वे अपना भी पक्ष प्रस्तुत करें। विजेताओं की सेना जर्मनी में थी और जर्मन प्रतिनिधियों को बता दिया गया था कि उनके अस्वीकार का अर्थ जर्मनी का विनाश होगा। इस तरह हताश और असम्मानित जर्मन प्रतिनिधिमंडल जब हस्ताक्षर करने के लिए आ रहा था तो रास्ते में खड़ी भीड़ ने उसका मजाक उड़ाया। लाचार जर्मन प्रतिनिधिमंडल का चेहरा पीला पड़ गया और उसने कांपते हाथों से रिक्त स्थान पर हस्ताक्षर कर दिया।

जर्मन साम्राज्य के क्षेत्रीय पुनर्गठन ने यूरोप का नक्शा ही बदल दिया। इस संबंध में निम्नलिखित परिवर्तन किए गए :

—अलसास और लोरेन फ्रांस को वापस कर दिया गया।

—पश्चिम का एक छोटा भूभाग बेल्जियम को दे दिया गया।

—सार घाटी खनिज पदार्थों से बहुत संपन्न थी उसे पंद्रह वर्षों के लिए फ्रांस को दे दिया गया।

—श्लेसविग को बिस्मार्क ने डेनमार्क से छीना था, इसका उत्तरी भाग डेनमार्क को वापस कर दिया गया।

—जर्मन उपनिवेश समाप्त कर दिए गए और उन्हें 'मैंडेट प्रणाली' के अंतर्गत विभिन्न देशों में प्रबंध के लिए बांट दिया गया। इन्हीं उपनिवेशों में से एक दक्षिणी-पश्चिमी अफ्रीका था जिसे दक्षिण अफ्रीका को दिया गया था। यह आज भी उसके कब्जे में है और अंतर्राष्ट्रीय दबाव तथा स्वतंत्रता संग्राम के बावजूद गुलाम है।

क्षेत्रीय व्यवस्था के अतिरिक्त जर्मनी पर कुछ और प्रतिबंध लगाए गए :

—जर्मनी की सेना एक समय यूरोप में सबसे बड़ी थी। उसके सैनिकों की संख्या एक लाख तक सीमित कर दी गई।

—जर्मन नौसेना समाप्त कर दी गई। उसकी जिन पनडुब्बियों ने कुछ समय के लिए कहर ढा दिया था वे डुबा दी गईं। उसके नौसैनिक गढ़ नष्ट कर दिए गए—विशेषकर हेलिगोलैंड का महत्वपूर्ण अड्डा।

—जर्मनी के वायुसेना रखने पर प्रतिबंध लगा दिया गया।

—क्षतिपूर्ति के सिद्धांत के अंतर्गत यह तय कर दिया गया कि जर्मनी युद्ध का हर्जाना दे।

—क्षतिपूर्ति के लिए जर्मनी को कितना धन देना चाहिए इसका तत्काल निर्णय लेना कठिन कार्य था। फ्रांस और इंग्लैंड युद्ध का पूरा खर्च वसूलने का पक्ष ले रहे थे और इसका किसी भी देश के लिए भुगतान कर पाना असंभव था। यदि संभव हो भी तो यह निश्चित कर पाना कठिन था कि कुल खर्च कितना हुआ। इसलिए इसे बाद में तय करने का निश्चय किया गया। विल्सन ने फ्रांस और इंग्लैंड की इस मांग का विरोध भी किया था। बार बार वार्ता करने और कमीशनों का गठन होने के बाद खर्च और उसकी अदायगी का तरीका तय हो पाया। जर्मनी को नष्ट क्षेत्रों की पुनर्स्थापना, विनष्ट संपत्ति का खर्च और मित्र राष्ट्रों में दिए जाने वाले युद्ध के पेंशन देने पड़े। इसके अतिरिक्त अन्य महत्वपूर्ण क्षेत्रीय प्रबंध भी ऐतिहासिक सिद्ध हुए :

—त्रीएस्त, इस्त्रिया, त्रेन्तीनो और दक्षिणी टाइराल इटली को दे दिए गए। इटली की संपूर्णता का सपना काफी हद तक पूरा हो गया। फिर भी इटली पूरी तरह संतुष्ट नहीं हुआ और विजेता देशों में सबसे असंतुष्ट इटली ही था।

—स्वतंत्र पोलैंड की स्थापना की गई। नवोदित पोलैंड के गणतंत्र में रूस द्वारा अधिकृत पोलैंड, गैलीशिआ, पोजेन, पश्चिमी प्रशा और जनमत संग्रह के बाद उत्तरी साइलेशिया सम्मिलित थे। पोलैंड को समुद्रतट तक पहुंचाने के लिए एक गलियारे का प्रावधान किया गया। इस गलियारे के अंत में स्थित डेंजिग का बंदरगाह राष्ट्रसंघ के प्रबंध में एक अंतर्राष्ट्रीय नगर घोषित किया गया।

—एस्तोनिया, लातविया और लिथुआनिया नामक नए देशों का बाल्टिक सागर के पूर्वी तट पर उदय हुआ।

—फिनलैंड की स्वतंत्रता को मान्यता दे दी गई।

—बोहेमिया, मोराविया और हंगरी के उत्तरी क्षेत्रों को मिला कर एक नए देश चेकोस्लोवाकिया का गठन किया गया।

—सर्बिआ, मोंटेनेग्रो, बोस्निया, हर्जेगोविना, क्रोशिआ तथा डालमेशिया के क्षेत्रों को मिलाकर एक बृहत्तर राज्य यूगोस्लाविया का गठन किया गया।

—रूमानिया का विस्तार किया गया। उसे हंगरी से ट्रांसिलवानिया, रूस से बेसारेबिआ तथा बूकोविना और बल्गेरिया से दोबरुजा प्राप्त हुआ।

—पोलैंड, रूमानिया, चेकोस्लोवाकिया तथा यूगोस्लाविया का कई राष्ट्रीयताओं के मेल से गठन हुआ था। इन्होंने अपने देशों में अल्पमत के लोगों की सुरक्षा की गारंटी दी।

—विजेताओं ने पराजित देशों के साम्राज्य का बड़ी कुशलता से आपस में बंटवारा

कर लिया। फ्रांस को तुर्की से सीरिया और जर्मनी से टोगोलेंड का अधिकांश भाग तथा कैमरून प्राप्त हुए। इंग्लैंड को तुर्की से फिलिस्तीन, ट्रांसजार्डेनिआ और मेसोपोटामिआ तथा जर्मनी से टोगोलेंड और कैमरून का एक हिस्सा और पूर्वी अफ्रीका तट पर टांगानिका प्राप्त हुआ। दक्षिणी अफ्रीका को दक्षिणी पश्चिमी अफ्रीका (इसे आजकल नामीबिआ के नाम से जाना जाता है) प्राप्त हुआ। जर्मन न्यू गिनी आस्ट्रेलिया को दिया गया और सामोआ न्यूजीलैंड को। नाउरू द्वीप इंग्लैंड, आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैंड को संयुक्त रूप से दिए गए। कैरोलीन द्वीप समूह जापान को सौंपा गया। उपनिवेशों में केवल अरब को स्वतंत्रता मिली। परंतु बंटवारा यह मानकर किया गया कि ये क्षेत्र तत्काल स्वतंत्र होने की स्थिति में नहीं हैं। उन्हें क्षेत्रफल, जनसंख्या और उन्नति के आधार पर तीन श्रेणियों में बांट दिया गया। प्रथम श्रेणी में मध्यपूर्व में तुर्की के क्षेत्र थे जिन्हें कुछ ही दिनों में स्वतंत्रता मिलनी थी और तब तक के लिए वहां की व्यवस्था का भार इंग्लैंड और फ्रांस के हाथों सौंप दिया गया। द्वितीय श्रेणी में अफ्रीका के बड़े उपनिवेश थे जहां सभ्यता का स्तर बहुत निम्न था। अंतिम कोटि में ऐसे क्षेत्र थे जिनमें स्वतंत्र रहने का आर्थिक आधार ही नहीं था। अलग अलग देशों के प्रबंध पर निगरानी के लिए राष्ट्रसंघ के तत्वाधान में एक आयोग का गठन हुआ था जो दौरा कर सकता था, शिकायतें सुन सकता था और जिसके पास इन क्षेत्रों की प्रगति की वार्षिक रिपोर्टें आनी अनिवार्य थीं। इन क्षेत्रों में कुछ अपवादों को छोड़कर प्रायः सभी स्वतंत्र हो चुके हैं। सबसे विवादास्पद दक्षिणी-पश्चिमी अफ्रीका बना हुआ है, जिसे सारे अनुबंधों का उल्लंघन कर दक्षिण अफ्रीका अपना प्रांत कहता है।

मूल्यांकन : वेर्साई की संधि के स्थाई होने की कोई संभावना ही नहीं थी। जिस प्रवृत्ति और लक्ष्य से यह संधि हुई थी वह उसके विनाश का बीज स्वयं में ही संजोए थी। फ्रांसीसी मार्शल फाश ने तो 1919 में ही कह दिया था कि 'यह संधि नहीं 20 वर्षों के लिए युद्धस्थगन मात्र है' और ठीक 20 वर्ष बाद 1939 में ही द्वितीय विश्व युद्ध शुरू हो गया था। यह कोई भविष्यवाणी नहीं थी। स्थितियों की समझ रखने वाले एक दूरदर्शी का विश्लेषण था। आखिर क्या कारण थे कि यह संधि इतनी अस्थाई सिद्ध हुई।

किसी भी संधि के लिए परस्पर सद्भाव जरूरी है। द्वितीय महायुद्ध में विजयी ब्रिटेन के युद्ध संचालक प्रधानमंत्री चर्चिल का मत है कि 'देशों को पराजय में उद्धत और विजय में उदार' (डिफायंट इन डिफीट ऐंड मैगनानिमस इन विक्ट्री) होना चाहिए। द्वितीय महायुद्ध के बाद ऐसा ही हुआ और उसका परिणाम यह हुआ कि युद्ध के कुछ ही दिनों बाद अमेरिका ने जर्मनी की मदद की। कुछ ही वर्षों में विजेता और पराजित देशों ने मिलकर यूरोपीय साझा बाजार का गठन किया और सारी दुनिया में प्रगति के नए कीर्तिमान स्थापित किए। हिटलर के कारनामों से लज्जित होकर जर्मनी ने दुनिया की मदद के नाटक में हिस्सा बंटाना शुरू किया।

इसके विपरीत प्रथम महायुद्ध के बाद सारे जर्मनी को कठघरे में खड़ा कर दिया गया था। युद्ध शुरू किया था सम्राट विलियम ने और उसका पतन हो गया था। नवोदित

'वाइमार गणतंत्र' की रक्षा करने और विलियम के सैन्यतंत्र को जिम्मेदार ठहराने के स्थान पर वेर्साई में जर्मन राष्ट्र को दोषी ठहराया गया। द्वितीय महायुद्ध के बाद जर्मन राष्ट्र को नहीं बल्कि नाजी व्यवस्था और हिटलर दोषी ठहराए गए थे। प्रथम महायुद्ध के बाद तो जर्मनी ही अपराधी था। यह एक संकुचित और गलत दृष्टिकोण था जिसके परिणाम भयावह हुए।

संधि का आधार यदि वार्ता होती तो उसके क्रियान्वयन के प्रति दोनों ही पक्षों की जिम्मेदारी होती, लेकिन वेर्साई संधि एक थोपी हुई एकतरफा संधि थी। इतिहासकार ई० एच० कार के अनुसार 'ऐसा लगता था कि किसी न्यायालय ने किसी अपराधी के विरुद्ध फैसला सुना दिया हो।' कार वेर्साई संधि को आरोपित संधि मानता है। उसके अनुसार युद्ध के बाद की गई हर संधि इस अर्थ में आरोपित होती है कि पराजित देश खुशी से उसकी शर्तें नहीं स्वीकारता लेकिन इस संधि में शर्तें जिस तरह थोपी गई थीं उस तरह किसी में नहीं। ऐसी असम्मानजनक संधि का उल्लंघन और उसे नकारना जर्मनी जैसे स्वाभिमानी देश के लिए राष्ट्रीय प्रतिष्ठा का प्रश्न बन गया। लेंगसम के अनुसार, वेर्साई संधि में जर्मनी को अपराध स्वीकार करने पर मजबूर किया गया था इसलिए उसके लिए इसके विरुद्ध विद्रोह करना और उनसे बदला लेना जिन्होंने ऐसा किया था, राष्ट्रीय सम्मान का सवाल बन गया। 1919 के बाद की पीढ़ी इसी कल्पना के आधार पर जीवित थी कि कब वेर्साई संधि का अंत होगा। इस संधि की अवज्ञा, उल्लंघन और अंत की बात करते ही टुटपूंजिया हिटलर पूरे देश का स्वीकृत और लोकप्रिय तानाशाह बन गया।

फ्रेडरिक विलियम, फ्रेडरिक और मोल्टके का विख्यात देश केवल एक लाख की सेना से कैसे संतुष्ट होता ? संपूर्ण यूरोप नौसेनिक विस्तार करे और जर्मनी मात्र कुछ व्यावसायिक जहाजों को लेकर ही संतोष करे ? यह कैसे संभव था ? विश्व में वायु सेना का महत्व बढ़ता चला जाए और जर्मनी केवल कल्पना की उड़ान भरे ? पेरिस में पराजित देशों के निरस्त्रीकरण में इस बात पर भी विचार किया गया था कि सभी देश उसी अनुपात में अपना निरस्त्रीकरण करेंगे। लेकिन विजेताओं ने इस पर ध्यान नहीं दिया और निरस्त्रीकरण सम्मेलनों का नाटक चलता रहा। इस तरह एकतरफा दबाव अनैतिक ही नहीं अव्यावहारिक भी था। यह संधि के उल्लंघन के लिए एक परोक्ष प्रोत्साहन था और यही हुआ भी।

जर्मनी को ही युद्ध के लिए उत्तरदायी ठहराना हर तरह से गलत था। विलियम की जिम्मेदारी कुछ ही हद तक थी। आज तो अंगरेज इतिहासकार भी मानते हैं कि एक पक्ष को जिम्मेदार ठहराना हर तरह से गलत और ऐतिहासिक तथ्यों के विपरीत है। इसलिए युद्ध की क्षति के लिए उस पर इतना भारी बोझ डालना गलत और अदूरदर्शिता थी। चर्चिल जैसा साम्राज्यवादी भी इस संधि की आर्थिक शर्तों को पागलपन करार देता है। (हिस्ट्री विल कैरेक्टराइज आल दीज ट्रांजेक्शंस ऐज इनसेन) इतनी बड़ी रकम जर्मनी तभी दे सकता था जब उसका आर्थिक विकास हो लेकिन उसके औद्योगिक विकास पर हर तरह के प्रतिबंध थे। यहां तक कि उसे फ्रांस, इटली और बेल्जियम को खनिज पदार्थ

तक देने पड़ते थे। ऐसी स्थिति में जर्मनी हरजाना कहां से देता ? लड़खड़ाते गणतंत्र पर आर्थिक बोझ बढ़ता ही गया और जर्मनी का अर्थतंत्र दस वर्षों में ही पूरी तरह ध्वस्त हो गया, भीषण आर्थिक अराजकता की स्थिति में फासिज्म जन्म लेता है। इसलिए वेर्साई में यह दृष्टिकोण घातक सिद्ध हुआ कि जर्मनी को सैनिक ही नहीं आर्थिक रूप से भी पंगु कर दिया जाए।

पेरिस की संधियों के विश्लेषण से उनके और भी कई दोष स्पष्ट हो जाते हैं। सबसे आपत्तिजनक यह था कि रूस का जर्मन गुट की पराजय में बहुत बड़ा हाथ था और उसे शामिल नहीं किया गया। विजेताओं के पास एकमात्र तर्क यह था कि वहां क्रांति के बाद स्थिति स्पष्ट नहीं है। वस्तुतः कारण यह था कि रूस में ऐसी व्यवस्था स्थापित हो गई थी जो उन शक्तियों की विरोधी थी जिन्होंने युद्ध किया था और अब शांति कायम करने चले थे। लेकिन रूस के सम्मिलित न होने से कोई भी व्यवस्था स्थाई नहीं हो सकती थी—विशेषतः पूर्वी यूरोप में। इससे यह संदेह भी दृढ़ होता था कि पेरिस में पूंजीवादी-साम्राज्यवादी शक्तियां आपसी झगड़े निपटाने के लिए इकट्ठा हुई थीं और वे किसी विकल्प या उसकी संभावना के लिए तैयार नहीं थीं।

विश्व में नई व्यवस्था की बात करते हुए भी सभी देश अपने विशेष हितों को सुरक्षित करने में लगे हुए थे। फ्रांस पहले तो राइन की सीमा प्राप्त करने के लिए सचेष्ट था। फ्रांस की इस परंपरागत महत्वाकांक्षा की पूर्ति के लिए लूई चौदहवें से नेपोलियन तृतीय तक सभी राजा और क्रांतिकारी लालायित रहते आए थे। और यह ही जब पूरी नहीं हुई तो फ्रांस सुरक्षा के प्रश्न पर यह कहकर अड़ गया कि फ्रांस की सीमाओं को सुरक्षित रखने की हर तरह की गारंटी होनी चाहिए। संधियों की कठोरता और सामान्य निरस्त्रीकरण की असफलता का सबसे बड़ा कारण यही था। इसी तरह इटली का एकमात्र उद्देश्य एड्रियाटिक तट पर स्थित दालमेशिया प्रदेश को प्राप्त करना लगता था। इससे इटली और यूगोस्लाविया के बीच कटुता बढ़ रही थी। अब तक लुप्त पोलैंड की महत्वाकांक्षा न केवल अपनी पुरानी सीमाएं प्राप्त करने की थी बल्कि वह पूरा साइलेशिया लेना चाहता था। इससे नवोदित पोलैंड के अपने पड़ोसियों के साथ संबंध कटु होना अनिवार्य थे।

संधिकर्ताओं के अपने अलग अलग स्वार्थ थे। मित्र राष्ट्रों में भी मतवैभिन्य था। संधि के प्रमुख प्रणेताओं में भी मतैक्य नहीं था। इतिहासकार लैंगसम के अनुसार संधि की असफलता का सबसे बड़ा कारण फ्रांस और इंग्लैंड के उद्देश्यों में भिन्नता थी। इसी तरह अमेरिका की उदारता से फ्रांस असंतुष्ट था। क्लमांसो व्यंग्य किया करता था : 'ईश्वर ने भी हजरत मूसा को दस ही निर्देश दिए थे लेकिन विल्सन ने तो चौदह निर्देश दिए।' लैंगसम के अनुसार विल्सन के आदर्शवाद और सम्मेलन के भौतिकवाद में तीव्र विरोध था और ज्यादातर भौतिकवाद को ही विजय मिली। (विल्संस आइडियलिज्म केम इंटू शार्प कांफ्लिक्ट विथ मैटीरियलिज्म ऐट द कांफरेंस ऐंड इन मोस्ट केसेज मैटीरियलिज्म ट्रायम्फ्ड)।

इसी तरह संधिवार्ता में विजेताओं के निरस्त्रीकरण की बात न चलाए जाने से बद-नीयती स्पष्ट होने लगी थी। एकतरफा निरस्त्रीकरण का कोई अर्थ नहीं था और वह स्थाई नहीं हो सकता था। क्षतिपूर्ति का आधार गलत ढंग से तैयार किया जा रहा था। जब युद्ध स्थगित किया गया तो जर्मनी इस बात से आश्वस्त था कि उसके साथ अति-शयता नहीं होगी। लेकिन सारी जिम्मेदारी उसके ऊपर थोपना पहले के युद्धस्थगन की शर्तों के विरुद्ध था। संधि की 231वीं धारा के अनुसार जर्मनी और उसके मित्रों द्वारा मित्र राष्ट्रों और उनके सहयोगियों पर युद्ध थोपने के कारण उनकी सरकारों और नागरिकों को हुई सारी क्षति और हानि का उत्तरदायित्व जर्मनी को स्वीकार करना पड़ा। यह भी निश्चित था कि ऐसा अतिशयवादी दृष्टिकोण जितना जर्मनी के लिए घातक था उतना ही विजेताओं के लिए भी। जब जर्मनी में आर्थिक ढांचा ध्वस्त हुआ तो पश्चिमी जगत पर भी इसका प्रभाव पड़ा। 1930 के आसपास जर्मनी के साथ साथ सारी पश्चिमी दुनिया लड़खड़ा रही थी। बेरोजगारी और मंदी ने एक साथ दोनों को ग्रास बनाया था। इसी तरह विश्व के उपनिवेशों को आत्मनिर्णय का अधिकार देने की बात तो दूर, यूरोप में ही सबके साथ न्याय नहीं हुआ। तुर्क साम्राज्य से सभी दूसरी राष्ट्रीयताओं वाले लोग मुक्त कर दिए गए लेकिन आरमीनियन लोगों के भविष्य पर ध्यान नहीं दिया गया। इस तरह का भेदभाव स्पष्ट करता था कि सिद्धांतों के पीछे केवल राष्ट्रीय हित काम कर रहे थे। एक बात यह स्पष्ट थी कि सिद्धांत और व्यवहार में कोई समन्वय नहीं था। इतिहासकार ई० एच० कार के अनुसार, सिद्धांत और व्यवहार में भेद इस बात को पुष्ट करता है कि वेर्साई संधि एक पक्षपातपूर्ण दस्तावेज है।

इन संधियों पर अंतिम निर्णय लेने के पहले इसकी उपलब्धियों पर भी ध्यान देना जरूरी है। 1919 में जल्दी से जल्दी शांति स्थापना की आवश्यकता थी। अच्छी या बुरी संधि का प्रश्न तो गौण था। इसलिए लैंगसम के अनुसार आश्चर्य यह नहीं है कि बुरी संधि हुई, आश्चर्य यह है कि कोई संधि तो हुई। कम से कम यूरोप में ही सही, संत्रस्त लोगों की मुक्ति हुई और उनका स्वतंत्र राज्यों के रूप में उदय हुआ। फिर उन्हें उन राज्यों में मिल जाने भी दिया गया जिनसे उनकी सांस्कृतिक निकटता थी। एक साथ चेकोस्लोवाकिया, यूगो-स्लाविया, पोलैंड, लातविया, लिथुआनिया और एस्टोनिया की स्थापना पेरिस की सबसे बड़ी सफलता थी। पहले के राज्यों में सीमा निर्धारण से यद्यपि अल्पमत की सारी समस्याएं समाप्त नहीं हुईं। फिर भी अधिकांश समस्याओं का निराकरण हो गया था। साम्राज्यवादी देशों ने भी यूरोप के लिए जनमत को निर्णय का आधार माना। कितने ही क्षेत्रों में अंतिम निर्णय लेने से पहले जनमत संग्रह किया गया; जैसे मेलमेदी को बेल्जियम को देने से पहले वहां की जनता की इच्छा जान ली गई। दक्षिणी-पूर्वी यूरोप में भी कई स्थानों पर ऐसा ही किया गया। सीमा निर्धारण में बहुमत की इच्छानुसार ही निर्णय किया गया। कम से कम यूरोप के संदर्भ में यह एक महत्वपूर्ण उपलब्धि थी।

किसी भी निर्णय से कभी अल्पमत की समस्या सबके लिए संतोषजनक ढंग से नहीं हल की जा सकती। इसलिए सीमा के फेरबदल के बाद भी बहुत से देशों में अल्पमत के

लोग अरक्षित रह गए। उनकी सुरक्षा के लिए संधि में ही प्रावधान कर दिया गया। यह दूसरी बात है कि उनका पूरी तरह पालन न होने से कटुता बढ़ी और स्थिति बहुत बेहतर नहीं हो पाई। लेकिन अल्पमत की सुरक्षा के लिए पेरिस में किए गए प्रयत्नों का इससे महत्व कम नहीं होता। यद्यपि पेरिस में भी लक्ष्य सीमित थे और अधिकांश निर्णय विजेताओं के हित को ध्यान में रखकर ही किए गए थे, फिर भी यहां अन्य बातों को बिल्कुल नजरअंदाज नहीं किया गया था। वियेना कांग्रेस की तरह यहां लूट के बंटवारे जैसा प्रश्न नहीं था। राष्ट्रीय हितों की बात भी कुशलतापूर्वक की गई थी न कि वियेना जैसे स्थूल और भद्दे तरीके से। समय के साथ स्थितियां बदली थीं। इसलिए यहां नितांत प्रगति विरोधी रुख नहीं अपनाया जा सका।

पेरिस की सबसे बड़ी उपलब्धि राष्ट्रसंघ की स्थापना थी। यह सच है कि राष्ट्रसंघ को बहुत अधिक सफलता नहीं मिली या वह द्वितीय महायुद्ध को रोक नहीं सका और लेनिन के अनुसार पूंजीवादी षड्यंत्रों का केंद्र बना रहा। फिर भी अंतर्राष्ट्रीय तनाव दूर करने में इतनी बड़ी संस्था की स्थापना, जिसमें सारी दुनिया के कर्मचारी हों और जो राजनीतिक ही नहीं सामाजिक और आर्थिक मामलों में भी अंतर्राष्ट्रीय सहयोग प्रोत्साहित करे, एक अभूतपूर्व घटना थी। परस्पर विद्वेष के बावजूद विभिन्न देशों का इसकी स्थापना के लिए तैयार हो जाना इस बात का प्रमाण था कि दुनिया युद्ध से आक्रांत थी। राष्ट्रीय स्वार्थ से ऊपर उठना आसान नहीं था फिर भी अंतर्राष्ट्रीय सहयोग की अनिवार्यता को नजरअंदाज नहीं किया जा सका। राष्ट्रसंघ के उद्घाटन के समय फ्रांसीसी राष्ट्रपति पुएंकारे ने सदस्यों को संबोधित करते हुए कहा था : 'आपके हाथों में विश्व का भविष्य है' और यह सच भी था कि राष्ट्रसंघ से लोगों को बड़ी आशाएं थीं। उसकी उपयोगिता का इससे बड़ा प्रमाण क्या होगा कि असहाय होने के बावजूद द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद राष्ट्रसंघ के भग्नावशेष पर ही संयुक्त राष्ट्रसंघ की स्थापना करनी पड़ी। इस प्रकार निर्विवाद रूप से इतनी बड़ी संस्था का निर्माण पेरिस की एक ऐतिहासिक उपलब्धि थी।

साथ साथ यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि संधिकर्ता कौन थे और वे किन स्थितियों में संधि कर रहे थे। पेरिस में एकत्र अधिकांशतः ऐसे लोग थे जो प्रजातांत्रिक सरकारों के नेता थे और उनके सामने आगामी चुनाव का भय था। वे किसी भी आदर्श के लिए अपना पद खतरे में डालने के लिए तैयार नहीं थे। युद्ध के तत्काल बाद विजेता देशों में भी खुशी के साथ क्षोभ और आक्रोश भी था। कोई भी तर्क करने या विवेक से काम लेने की मनःस्थिति में नहीं था। युद्ध के ज्वार से त्राण पाते ही जनता विजय के उन्माद से पीड़ित थी और केवल भावनात्मक स्तर पर सोच-विचार कर रही थी। यही संधि यदि एक वर्ष बाद होती तो स्थिति कुछ और हो सकती थी। लेकिन जनमत की भावना और उसका राजनेताओं पर दबाव कार्यक्षेत्र को सीमित कर देता था। फ्रांस में जर्मनी का आतंक स्वाभाविक था। उसकी उत्तरी पूर्वी सीमा से हमेशा हमलावर जर्मनी सीधे पेरिस तक घुस आता था और फ्रांस की नींद हराम होती थी। 45 वर्षों में दो बार जर्मन सेना ने फ्रांस में प्रवेश कर उसे रौंदा था। इसकी पुनरावृत्ति

से बचना फ्रांस की जनता और राजनेताओं के लिए सर्वाधिक महत्व की बात थी। इसी प्रकार इंग्लैंड का साम्राज्य उसके अस्तित्व और महानता का आधार था। इस संबंध में वह कैसे कोई समझौता करता? साथ ही शासन और शासकों का चरित्र भी देखना चाहिए। अपने वर्ग के स्वभाव के अनुकूल ही तो वे कार्य और निर्णय करते। फिशर के अनुसार, 'युद्ध ने हर किसी को हर कहीं आंदोलित कर दिया था, हर क्षोभ को जगा दिया था; हर दावे को उभार दिया था, हर किसी की कल्पना जगा दी थी, हर किसी की भूख बढ़ा दी थी। भूख, दावों, कल्पनाओं और क्षोभ के समय युद्ध से क्लांत राजनेताओं ने, जो अपने देश के उग्र जनमत के प्रति उत्तरदायी थे और जिन्हें समाचारपत्रों के अंधाधुंध प्रचार का सामना करना था, जहां तक हुआ समस्याओं का समाधान ढूंढ़ा।'

ऐसे वातावरण में इंग्लैंड और फ्रांस में 'जर्मनी से पाई पाई वसूल करो', 'कैसर को फांसी दे दो' तथा 'शिलिंग के लिए शिलिंग' और 'टन के लिए टन' जैसे नारे लग रहे थे, राजनेता कैसे उदार हो जाते?

इन बातों पर ध्यान न देने से पेरिस संधियों की आलोचना भी उतनी ही कठोर हो सकती है जितनी ये संधियां थीं।

जो भी हो, पेरिस में शांति नहीं स्थापित की जा सकी और यूरोप के पुनर्निर्माण का सही खाका नहीं बन सका। यूरोप इस बार 1815 से अधिक ध्वस्त हुआ था। पुनर्रचना पहले से अधिक महत्वपूर्ण और जटिल थी। लेकिन उतनी सावधानी नहीं बरती गई। संधि के बाद कहा गया था: 'युद्ध समाप्त करने वाला युद्ध तो समाप्त हो गया। अब शांति को समाप्त करने वाली शांति शुरू हो रही है।' (द वार टु ऐंड वार हैज एंडेड, नाउ बिगिंस द पीस टु ऐंड पीस) प्रथम महायुद्ध के दौरान मित्र राष्ट्रों ने बार बार कहा, 'यह युद्ध इसलिए लड़ा जा रहा है कि दुनिया से युद्धों की परंपरा ही समाप्त कर दी जाए।' वह युद्ध तो समाप्त हो गया था लेकिन उसके बाद जो शांति व्यवस्था लागू की गई उसमें ही शांति भंग होने के बीज थे। इस कथन की सच्चाई घटनाओं ने साबित कर दी जब संधि के 3 वर्ष बाद ही मुसोलिनी और 13 वर्ष बाद हिटलर का प्रादुर्भाव हो गया।

वेर्साई या पेरिस की संधियों को सही परिप्रेक्ष्य में देखने का सबसे सही तरीका है उसकी वियेना में की गई व्यवस्था से तुलना करने के बाद द्वितीय महायुद्ध के बाद की स्थिति से उसकी तुलना करना। वियेना कांग्रेस में प्रगति विरोधी और स्वार्थपूर्ण हरकतों के बावजूद नेपोलियन और फ्रांस में अंतर रखा गया था और फ्रांस का प्रतिनिधि तालिरां निर्णायक रूप से कांग्रेस में शामिल था। फ्रांस दो वर्षों के बाद ही विजेताओं के संघ में शामिल कर लिया गया। पेरिस की संधि ने परिवर्तनों को प्रोतत्साहित किया। इसे पूरी तरह प्रतिक्रियावादी नहीं कहा जा सकता। वहां क्रांतियों के दमन का कोई संगठित प्रचार भी नहीं किया गया। परंतु 20 वर्ष भी स्थाई शांति नहीं रह पाई, क्योंकि यहां विलियम और जर्मनी में अंतर नहीं किया गया।

द्वितीय महायुद्ध के बाद की स्थिति को देखें तो लगेगा कि पेरिस के लोगों ने वियेना से सबक नहीं लिया था लेकिन 1945 में विजेता वेर्साई की गलतियों से सीख ले चुके

थे। इस बार तत्काल कोई औपचारिक संधि नहीं हुई। नूरेम्बर्ग में युद्ध के अपराधियों पर मुकदमा चला और केवल हिटलर के प्रमुख सहयोगियों को अपराधी माना गया। जर्मनी के नए गणतंत्र पर दवाव डालने के बदले उसे सहायता दी गई और एक सम्मान-जनक संबंध स्थापित हुआ। मार्शल योजना के अंतर्गत यदि विजेता फ्रांस और इंग्लैंड को सहायता मिली तो पराजित जर्मनी को भी। पश्चिमी देशों में आर्थिक सहयोग का एक ऐतिहासिक क्रम शुरू हुआ और एक दशक बाद ही पूरी तरह नष्ट जर्मनी अपने पैरों पर उठ खड़ा हुआ। दो दशक बाद तो वह यूरोप का सबसे औद्योगिक और दृढ़ देश बन गया। प्रथम महायुद्ध के बाद हिटलर का और द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद विली ब्रांट का प्रादुर्भाव हुआ था, जिसे शांति प्रयासों के लिए 'नोबेल पुरस्कार' दिया गया। यह स्पष्ट है कि स्थितियों से अलग कर घटनाओं को नहीं देखा जा सकता। 1815, 1919 और 1945 ई० की स्थितियां सर्वथा भिन्न थीं, फिर भी आंशिक समानता से भी तुलना का आधार प्रस्तुत होता है। कहा जा सकता है कि जैसे वियेना कांग्रेस पुरातन व्यवस्था के पोषकों की जीत थी वैसे ही पेरिस की संधियां पूंजीवादी और साम्राज्यवादी व्यवस्था के पोषकों की जीत थी। जैसे वियेना कांग्रेस 'पुरातन व्यवस्था' के पतन को बहुत दिनों तक नहीं टाल सकी वैसे ही पेरिस संधियां भी साम्राज्यवाद के पतन को नहीं रोक सकीं।

13

राष्ट्रसंघ : अंतर्राष्ट्रीय संगठन की विफलता

मानव जाति की प्रगति का इतिहास उसके विभिन्न उपकरणों की प्रगति का इतिहास है। प्रारंभ में ये उपकरण प्रायः आक्रमण और सुरक्षा के ही उपकरण थे। 16वीं शताब्दी तक तो मनुष्य युद्ध को उदात्त समझता था और समाज के 'हीरो' योद्धा हुआ करते थे। तीस वर्षीय युद्ध (1618-1648) में पहली बार मनुष्य कांप उठा था जब मध्य यूरोप श्मशान जैसा बन चला था और कई पीढ़ियां पंगु हो गई थीं। इसी पृष्ठभूमि में डच विचारक ग्रोशियस ने पहली बार युद्ध और शांति के नियमों के बारे में सोचना शुरू किया और उसकी पुस्तक 'ला आफ पीस ऐंड वार एमंग नेशंस' अंतर्राष्ट्रीय कानून की पहली पुस्तक के रूप में सामने आई।

यह एक प्रारंभिक प्रयास था और यूरोप के देश इसपर ध्यान देने को तैयार नहीं थे। युद्धों का क्रम जारी रहा। फ्रांस के शासकों, लूई चौदहवें तथा लूई पंद्रहवें, प्रशा के फ्रेडरिक, रूस की जारीना कैथरीन तथा बाद में नेपोलियन ने सारे महाद्वीप को अपनी महत्वाकांक्षाओं के लिए रौंद डाला। नेपोलियन का अकेले सामना न कर पाने पर यूरोपीय देशों ने कई बार संघ बनाए और अंत में नेपोलियन का पतन हुआ। यूरोप के पुनर्गठन के लिए वियेना में एक कांग्रेस की बैठक बुलाई गई। प्रतिक्रियावादी शक्तियों ने प्रगति का मार्ग अवरुद्ध करने के लिए एक यूरोपीय संघ बनाया। यह विभिन्न देशों द्वारा मिलजुल कर काम करने का एक प्रयास था। लेकिन जब ब्रिटिश विदेशमंत्री कैनिंग ने 'हर देश अपने लिए और ईश्वर हम सब के लिए' की घोषणा तो अंतर्राष्ट्रीय सहयोग की जो भी रूपरेखा थी वह ध्वस्त हो गई।

औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप इस बीच 'कम्युनिस्ट इंटरनेशनल' के रूप में मजदूरों का व्यापक सहयोग बढ़ता रहा। व्यावहारिक कठिनाइयां दूर करने के लिए देशों के बीच सहयोग के आधार पर कुछ अंतर्राष्ट्रीय संस्थाएं, जैसे 'विश्व डाक संगठन' भी विकसित हो रही थीं। क्रीमिया के युद्ध के बाद पेरिस में अंतर्राष्ट्रीय कानून बनाने की दिशा में कुछ प्रयास हुआ। लेकिन बर्लिन कांग्रेस तक यह बात फिर स्पष्ट हो गई कि सभी देश अपने हितों की पूर्ति के अतिरिक्त कुछ करने को तैयार नहीं हैं।

बिस्मार्क की गुप्त संधियों की नीति ने इंग्लैंड और फ्रांस तथा इंग्लैंड और रूस जैसे देशों की परंपरागत प्रतिस्पर्द्धा के स्थान पर परस्पर समझदारी और समझौते को जन्म

दिया। पूर्णतः आक्रांत वातावरण ने रूस के जार निकोलस ने 1899 में अंतर्राष्ट्रीय मध्यस्थता को संस्थागत रूप देने के लिए हालैंड की राजधानी हेग में सम्मेलन बुलाया। यहां मध्यस्थता के लिए आयोग का गठन हुआ। शस्त्रीकरण की निर्बाध प्रवृत्ति से आतंकित होकर 1907 में इस समिति को पुनर्जीवित किया गया। लेकिन ब्रिटिश विदेश मंत्री ग्रे ने आशंका व्यक्त की कि 'दिये बुझते जा रहे हैं।' और 1914 में विश्वयुद्ध शुरू हो गया।

युद्ध के दौरान अंतर्राष्ट्रीय समझौता, युद्ध का विकल्प, विश्व संगठन आदि बातों पर बुद्धिजीवी चर्चा करते रहे। दक्षिण अफ्रीका का राजनेता जनरल स्मट्स, फ्रांसीसी बुद्धिजीवी और कुछ जागरूक धनिक, अमरीकी धन कुबेर कारनेगी और ब्रिटिश लेखक एच० जी० वेल्स इस दिशा में कार्यरत थे। लेकिन नक्कारखाने में तूती की आवाज कौन सुनता ? इनके हाथ में सत्ता तो थी नहीं। जैसे ही शांति के लिए एक विकल्प लेकर एक राजनेता प्रस्तुत हुआ वैसे ही उसकी स्वीकृति की संभावना बढ़ गई। विल्सन अमेरिका का राष्ट्रपति था और इतिहास के अधिकांश प्राध्यापकों की तरह आदर्शवादी था। उसने जनवरी 1918 में जब अपने 'चौदह सिद्धांतों' की घोषणा की तो उसमें एक अंतर्राष्ट्रीय संघ की भी बात की। ये शर्तें जब जर्मनी ने मान लीं और पेरिस के एक शांति सम्मेलन में भाग लेने विल्सन स्वयं पहुंचा तो संभावनाएं बढ़ चलीं। पेरिस में विल्सन ने स्पष्ट कर दिया कि वह राष्ट्रसंघ के निर्माण को सर्वाधिक महत्व देता है। वह इस विषय में भावुकता की हद तक संपृक्त था और लायड जार्ज तथा क्लमांसो ने राष्ट्रसंघ का विरोध करने की धमकी देकर विल्सन से बहुत सी ऐसी बातें मनवा लीं जिन्हें सामान्यतः वह कभी नहीं स्वीकार करता।

अंत में विल्सन ने लगभग अकेले राष्ट्रसंघ का संविधान तैयार कर डाला और पराजित देशों के साथ हुई संधियों के साथ राष्ट्रसंघ के निर्माण के समझौते पर भी विभिन्न देशों के प्रतिनिधियों ने हस्ताक्षर कर दिए। यह विल्सन की व्यक्तिगत जीत थी। 26 धाराओं वाले विधान को जनवरी 1920 में बाकायदा क्रियान्वित कर दिया गया। प्रारंभिक सदस्यों की संख्या 31 थी लेकिन बाद में बहुत से देश सदस्य बन गए।

राष्ट्रसंघ के केंद्रीय कार्यालय के लिए स्विटजरलैंड के मनोरम नगर जेनेवा को चुना गया। बीस वर्षों तक यह अनूठा प्रयोग चलता रहा लेकिन पहले दशक की सफलताओं के बाद ही यह संस्था लड़खड़ाने लगी। राष्ट्रीय हितों के जिस तालमेल और समन्वय की आवश्यकता थी उसके लिए अभी अनुकूल वातावरण नहीं था। परिणामस्वरूप द्वितीय महायुद्ध की निकट आती बाढ़ को राष्ट्रसंघ रोक नहीं सका और उसी में बह गया।

राष्ट्रसंघ का स्वरूप

राष्ट्रसंघ के लिए तीन इकाइयों का गठन हुआ। सभी सदस्य देशों की व्यवस्थापिका जैसी संस्था 'एसेंबली' महत्वपूर्ण निर्णयों के लिए कुछ देशों की कार्यपालिका जैसी 'परिषद' (काउंसिल) और राष्ट्रों के बीच विवादों के हल के लिए एक 'अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय' बनाया गया।

एसेंबली : राष्ट्रसंघ की यह प्रतिनिधि सभा थी जिसमें सभी सदस्य देशों को समान अधिकार प्राप्त थे। हर सदस्य अधिक से अधिक तीन प्रतिनिधि भेज सकता था लेकिन सबको एक ही मत प्राप्त था। इसका अधिकार था सदस्यता प्रदान करना और प्रस्तावों पर विचार करना। एसेंबली का साधारण अधिवेशन प्रति वर्ष सितंबर में होता था।

प्रति अधिवेशन के लिए एक अध्यक्ष और छः उपाध्यक्ष, चुने जाते थे। विभिन्न कार्यों के लिए छः विषय समितियां—वैधानिक और कानून समिति, तकनीकी समिति, निरस्त्रीकरण समिति, बजट और अर्थ समिति, सामाजिक संस्था समिति और राजनीतिक समिति चुन ली जाती थीं।

एसेंबली प्रजातांत्रिक ढंग की संस्था थी जहां छोटे या बड़े में अंतर नहीं था, लेकिन इसके अधिकार इतने सीमित थे कि यह मात्र संभाषण या वादविवाद का केंद्र बनकर रह गई थी। वस्तुतः यह भी था कि यहां किए गए निर्णय बहुमत को स्वीकार्य हो सकते थे। लेकिन बड़ी शक्तियां एसेंबली में अपने प्रभाव या परिषद (काउंसिल) के माध्यम से ऐसा नहीं होने देती थीं।

काउंसिल (परिषद) : परिषद में दो तरह के सदस्य होते थे—स्थाई और अस्थाई। पांच बड़ी शक्तियां—अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस, इटली और जापान की स्थाई सदस्यता का प्रावधान था लेकिन जब अमेरिका सदस्य नहीं हुआ तो स्थाई सदस्य चार ही रह गए। प्रारंभ में एसेंबली द्वारा चार अस्थाई सदस्यों का दो वर्षों के लिए निर्वाचन करने का विधान था लेकिन यह सदस्यता घटती बढ़ती रही और अंतिम दिनों में तीन स्थाई और ग्यारह अस्थाई सदस्य हो गए।

परिषद की ही राष्ट्रसंघ में सर्वाधिक निर्णायक भूमिका थी। इसका नियमित अधिवेशन तो वर्ष में एक दो बार ही होता था लेकिन आवश्यकतानुसार अधिवेशन कभी भी हो सकता था। आवश्यक और महत्वपूर्ण निर्णयों के लिए स्थाई सदस्यों की सर्वसम्मति आवश्यक थी। आज के संयुक्त राष्ट्रसंघ की 'सुरक्षा परिषद' की तरह किसी को स्पष्ट रूप से निषेधाधिकार (वीटो) प्राप्त नहीं था लेकिन व्यवहार में किसी भी बड़ी शक्ति की असहमति किसी भी निर्णय को निरर्थक कर देती थी।

परिषद ही युद्ध और शांति जैसे प्रश्नों पर निर्णय करती थी और उस पर ही उन्हें क्रियान्वित करने का उत्तरदायित्व था। उसे राष्ट्रसंघ द्वारा शासित क्षेत्रों के प्रबंध, अल्पसंख्यकों के अधिकारों की रक्षा और देशों के परस्पर विवाद के निपटारे का काम करना पड़ता था। बैठकों में विदेश मंत्री या कभी कभी प्रधान मंत्री तक शामिल होते थे। इससे यहां किए निर्णयों का महत्व बढ़ जाता था। परंतु विडंबना यह थी कि एक अंतर्राष्ट्रीय संस्था को चलाने के लिए बड़ी शक्तियों की सहमति आवश्यक थी। इससे सामान्य सदस्यों में असंतोष बढ़ता था। इनके निर्णय इतने सीमित हितों के लिए होते थे कि अन्य देशों का अविश्वास स्वाभाविक था।

अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय : हेग में अंतर्राष्ट्रीय मध्यस्था की शुरुआत हुई थी। इसे ध्यान में रख कर 1921 में राष्ट्रसंघ के विधान की चौदहवीं धारा के अंतर्गत हेग में विश्व न्यायालय की स्थापना की गई। इसके न्यायाधीशों की नियुक्ति व्यक्तिगत प्रतिभा और प्रसिद्धि

के आधार पर होती थी, किसी देश के प्रतिनिधि के रूप में नहीं।

इसका प्रमुख कार्य देशों में विवादों को विस्फोटक होने से पहले ही हल करना था, लेकिन अंतर्राष्ट्रीय कानून की ही स्थिति इतनी अस्थिर और अपरिभाषित थी कि उसके आधार पर किए गए फैसलों का क्या होता ? इस न्यायालय में अपने विवाद ले जाना या न ले जाना पूरी तरह संवद्ध देशों की अपनी मर्जी पर निर्भर था। इसी प्रकार यहां के निर्णयों को मानना या न मानना भी उनकी इच्छा पर निर्भर थां। कहीं कोई अनिवार्यता या बंधन नहीं था। इसलिए कोई महत्वपूर्ण प्रश्न या तो यहां उठाया ही नहीं जाता था या उस पर निर्णय नहीं हो पाता था। यदि हुआ भी तो उसका क्रियान्वयन् नहीं हो पाता था। छोटे देशों के विवादों का अवश्य निपटारा हो जाता था।

इस प्रकार विषेश सार्थक भूमिका न होने के वावजूद अंतर्राष्ट्रीय कानून को विकसित करने का यह एक उपयुक्त माध्यम था और इसीलिए संयुक्त राष्ट्रसंघ ने भी इसे वरकरार रखा है।

सचिवालय (सेक्रेटिएट) : जेनेवा में राष्ट्रसंघ के दैनंदिन कार्यों के लिए एक सचिवालय का प्रवंध किया गया जिसमें विभिन्न देशों के कर्मचारी कार्य करते थे। लेकिन फ्रेंच भाषा की प्रमुखता के कारण अन्य भाषाओं के लोगों को यहां तक पहुंचने और कार्य करने में कठिनाई होती थी। पहले महासचिव ब्रिटेन के सरजेम्स एरिक ड्रुमांड नियुक्त हुए और उन्होंने 1933 तक कार्य किया। उसके वाद महासचिव की नियुक्ति का अधिकार परिषद को दे दिया गयां। वाद में फ्रांस के जोसेफ आवेनेल और आयरलैंड के सीन लेस्टर ने भी कार्य किया लेकिन उनके समय तक राष्ट्रसंघ पंगु हो चला था। दो सह और दो उपसह सचिवों की सहायता से महासचिव ग्यारह विभागों, जैसे सामान्य, प्रशासन, संरक्षण, निरस्त्रीकरण, स्वास्थ्य, अल्पसंख्यक जातियां और आर्थिक मसले आदि का प्रशासन देखता था।

सचिवालय में विभिन्न देशों के वीच की संधियां पंजीकृत की जाती थीं, प्रस्तावों को क्रियान्वित करने का कर्यक्रम बनाया ज़ाता था, सम्मेलनों की तैयारी की जाती थी तथा विभिन्न कार्यों का नियोजन और संचालन होता था। सचिवालय को निर्णय की नहीं केवल क्रियान्वयन की जिम्मेदारी सौंपी गई थी, लेकिन व्यवहार में निरंतर कार्यरत रहने और अलग अलग देशों के लोगों को एक साथ काम करने का मौका देने के कारण इसका वहुत महत्व था।

अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन : यह ऐतिहासिक सत्य कि सवसे पहले वास्तविक अंतर्राष्ट्रीय सहयोग श्रमिकों के बीच शुरू हुआ था। हर कहीं उनकी समस्याएं एक जैसी थीं। इसलिए जब मार्क्स ने उन्हें एक होने का 'आह्वान' किया था तो उनके वीच सहयोग बढ़ा था और उनके विभिन्न संगठन एक दूसरे के करीब आए थे। फ्रांस में 1870 के वाद गठित 'कम्यून' में कई देशों के श्रमिक प्रतिनिधि शामिल थे। इस प्रकार मजदूरों की संख्या, चेतना और शक्ति बढ़ती जा रही थी।

बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में मजदूरों की शक्ति से डरने वाली ताकतें चिंतित हो गई थीं कि यदि प्रतिकार नहीं हुआ तो उनके गढ़ ढहने लगेंगे। रूसी क्रांति की सफलता

ने तो उन्हें और भयभीत कर दिया था। इसी पृष्ठभूमि में अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन को देखना चाहिए। यह मजदूरों को सीमित रखने और उन्हें भटकाने का एक कुशल और व्यापक कार्यक्रम था। इसका कार्यालय भी जेनेवा में स्थापित हुआ। इसकी सदस्यता उनके लिए भी खुली थी जो राष्ट्रसंघ के सदस्य नहीं थे। विभिन्न देशों के प्रतिनिधि मंडलों में दो सरकार के और एक एक मालिकों और मजदूरों के प्रतिनिधि होते थे। प्रत्येक वार्षिक सम्मेलन में पारित प्रस्ताव सदस्य देशों को भेज दिए जाते थे। इनकी मुख्य सिफारिशें काम के हालात और मजदूरी से संबंधित होती थीं। इन्हें मानने और लागू करने की अनिवार्यता नहीं थी।

श्रम संगठन की शासन समिति में 16 राज्यों, 8 मालिकों और 8 मजदूरों के प्रतिनिधि होते थे और संचालन एक निदेशक करता था। स्पष्टत: यहां राज्यों और मालिकों का प्रभाव अधिक था। श्रमिकों के हितों की वहीं तक पूर्ति की बात होती थी जहां तक उनकी पूर्ति न होने में खतरा था। यहां श्रम संबंधी सूचनाएं और आंकड़े संग्रह किए जाते थे और उनका प्रसारण होता था। लेकिन ये आंकड़े श्रमिकों की स्थिति का सही चित्रण करने वाले नहीं होते थे। कुल मिलाकर यह संस्था विस्मार्क के राजकीय समाजवाद की तरह मजदूरों का हित और श्रम की समस्याओं का हल सरकारों और मालिकों के हित को बचाते हुए ही करती थी।

राष्ट्रसंघ की उपलब्धियां

राष्ट्रसंघ के कार्यकाल को दो भागों में बांटा जा सकता है। पहला दशक सफलताओं और बढ़ती आशाओं का है और दूसरा पतन तथा निराशा का। राष्ट्रसंघ को कुछ अंतर्राष्ट्रीय विवाद सुलझाने का श्रेय प्राप्त है। 1920 में हालैंड और फिनलैंड का विवाद, लिथुआनिआ और पोलैंड के बीच विलना पर अधिकार का मामला (1920-23), मेमेल की प्रभुता का प्रश्न (1923), अल्वानिया और यूगोस्लाविया का सीमा विवाद, इटली और यूनान के बीच कोर्फू विवाद (1923), तुर्की और ईराक के बीच मोसुल के तेलकूपों का प्रश्न (1923-25), पेरू और कोलम्बिया के बीच सीमा विवाद (1933) जैसे अनेक विवादों का राष्ट्रसंघ ने हल किया। लेकिन यह याद रखना चाहिए कि प्राय: ये मामले छोटे देशों से संबंधित थे।

प्रशासकीय कार्य : वेर्साई संधि ने जर्मन वहुल सार प्रदेश का प्रशासन 15 वर्षों के लिए राष्ट्रसंघ को सौंपा था। राष्ट्रसंघ के तत्वावधान में पांच सदस्यों का एक आयोग यह कार्य करता था। इस पर फ्रांस का प्रभाव अधिक था। इससे जर्मन जनता में असंतोष था जिसे व्यक्त करने पर उनका दमन किया जाता था। 1935 में आत्मनिर्णय का समय आने से पहले ही जर्मनी में सत्ता हिटलर के हाथों आ गई थी। समय आने पर तनावपूर्ण स्थिति में चुनाव हुए और जनता ने जर्मनी में विलय का निर्णय किया। राष्ट्रसंघ को एक कठिन जिम्मेदारी से मुक्ति मिली।

इसी प्रकार वाल्टिक सागर के तट पर स्थित डांजिग नामक बंदरगाह को 'अंतर्राष्ट्रीय नगर' बनाकर राष्ट्रसंघ को सौंपा गया। यह एक दोहरा प्रशासन था जिसमें

आर्थिक जिम्मेदारी पोलैंड की थी। प्रशासन की देखरेख एक उच्चायुक्त करता था। यहां के पोल और जर्मन नागरिकों में हमेशा तनाव रहता था। हिटलर ने उसका फायदा उठाया। असंतुष्ट पोलैंड ने एक दूसरा बंदरगाह गादीनिया बना लिया। पोलैंड के गलियारे और डांजिग में धीरे धीरे अशांति बढ़ती ही चली गई और हिटलर ने पूरा क्षेत्र ही हड़प लिया। इन उदाहरणों से राष्ट्रसंघ के प्रशासन की प्रतिष्ठा नहीं बढ़ती, फिर भी ये अंतर्राष्ट्रीय प्रशासन के अभिनव प्रयोग थे और प्रभुसत्ता के स्रोतों का एक नया आयाम प्रस्तुत करते हैं।

संरक्षण व्यवस्था : युद्ध काल में घोषित नारों में पराधीन क्षेत्रों के स्वशासन की भी बात थी। पेरिस में पराजित देशों से उनके उपनिवेश और अधिकृत क्षेत्र छीन लिए गए थे। विजेताओं द्वारा उनका प्रत्यक्ष रूप से हड़प लिया जाना अब संभव नहीं था। इसलिए एक कौशलपूर्ण संरक्षण की नई व्यवस्था लाई गई। जनरल स्मट्स के सुझाव पर विधान की 22वीं धारा के अंतर्गत इस व्यवस्था का प्रावधान किया गया। इसके अनुसार ये क्षेत्र तीन वर्गों में बांट दिए गए और उन्हें विभिन्न देशों के संरक्षण में रख दिया गया। इस वर्गीकरण का आधार क्षेत्रफल, जनसंख्या, आर्थिक आधार और राजनीतिक स्थिति को माना गया :

(अ) प्रथम श्रेणी में तुर्क साम्राज्य के आधीन क्षेत्र ईराक, सीरिया, फिलिस्तीन, ट्रांसजोर्डन और लेबनान रखे गए जो हर तरह स्वशासन के उपयुक्त थे। लेकिन फिलिस्तीन, ट्रांसजोर्डन और ईराक, इंग्लैंड को और सीरिया तथा लेबनान फ्रांस को सौंप दिए गए।

(ब). इस श्रेणी में जर्मनी के वे अफ्रीकी उपनिवेश थे जो क्षेत्रफल में बड़े होते हुए भी तत्काल स्वतंत्र होने के उपयुक्त नहीं थे। टोंगानिका तथा कैमरून का छठा हिस्सा और टोगोलैंड का एक तिहाई इंग्लैंड और शेष टोगोलैंड तथा कैमरून फ्रांस और राउंडा उरंडी बेल्जियम को सौंपे गए। इन क्षेत्रों में संभावनाएं बहुत थीं, लेकिन इनका इस्तेमाल संरक्षक ही करते थे।

(स) इस वर्ग में दक्षिण-पश्चिम अफ्रीका को छोड़कर शेष छोटे द्वीप और द्वीपसमूह थे। यहां आबादी भी नगण्य थी। दक्षिण-पश्चिम अफ्रीका को दक्षिण अफ्रीका तथा प्रशांत महासागर के द्वीप आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड और जापान को दे दिए गए।

इस व्यवस्था के क्रियान्वयन की तीन शर्तें थीं :

1. संरक्षित प्रदेशों के प्रशासन के संबंध में राष्ट्रसंघ की परिषद के निर्णय अंतिम और मान्य होंगे।

2. संरक्षक देशों को हर वर्ष संरक्षित क्षेत्रों के प्रशासन और प्रगति के विषय में राष्ट्रसंघ के सामने एक विस्तृत रिपोर्ट प्रस्तुत करनी होगी।

3. राष्ट्रसंघ द्वारा नियुक्त स्थाई आयोग (परमानेंट मैंडेट कमीशन) रिपोर्ट की छानबीन करेगा और आवश्यकता पड़ने पर संबंधित क्षेत्र का दौरा भी करेगा।

इन क्षेत्रों के प्रशासन का इतिहास साम्राज्यवादी देशों के कौशल का इतिहास है। राष्ट्रसंघ के नाम पर संरक्षक देशों ने मनमानी की। आयोग के प्रतिनिधि वास्तविक स्थिति का पता लगाने के लिए शिकायतों के बावजूद इन क्षेत्रों में कभी नहीं गए। यहां

की जनता की इच्छा और हितों की अवहेलना कर 'अ' श्रेणी के क्षेत्रों में इंग्लैंड और फ्रांस उपनिवेशों जैसा व्यवहार करते रहे। इन्होंने वहां की जनता में दरारें पैदा कीं और विशेष रूप से फिलिस्तीन में अरबों और यहूदियों के बीच वैमनस्य के बीज बोकर उन्हें हमेशा के लिए विभक्त कर दिया। छोड़ने से पहले इंग्लैंड ने जिस प्रकार यहूदी राज्य इसराइल के निर्माण को प्रोत्साहित किया वह अरबों के साथ विश्वासघात ही था।

'ब' और 'स' श्रेणी के क्षेत्रों में स्थिति बेहतर थी, क्योंकि न तो वहां स्वशासन की विशेष मांग थी और न ही वहां यह तत्काल संभव था। द्वितीय महायुद्ध ने बाद पिछले दो दशकों में इनमें से भी बहुत से क्षेत्र जैसे टोंगानिका (आधुनिक तनजानिआ) स्वतंत्र हुए हैं लेकिन दक्षिण-पश्चिम अफ्रीका, जिसे अफ्रीकी नामीबिया कहते हैं आज भी दक्षिण अफ्रीका की नस्लवादी सरकार के कब्जे में है। विश्व जनमत और राष्ट्रसंघ के प्रस्तावों के बावजूद। बहरहाल वहां मुक्ति संग्राम भी जारी है।

संरक्षण व्यवस्था इतने स्पष्ट रूप से साम्राज्यवादी लक्षणों से जुड़ी हुई थी कि उसने राष्ट्रसंघ को पूर्णतः बदनाम कर दिया। क्विन्सी राइट ने बड़े चुटीले शब्दों में कहा है : 'यह व्यवस्था एक पाखंड थी जिसका लक्ष्य था पुराने साम्राज्यवादी भेड़ियों को भेड़ के नए कपड़ों में छिपाना (द सिस्टम वाज ए हिपोक्रिटिकल शैम डिजाइंड टु डिस गाइस ओल्ड इम्पीरिअलिस्टिक वुल्व्स इन न्यू शीप्स क्लोदिंग) इस व्यवस्था में विजेताओं के भी उपनिवेश जैसे भारत और हिंद चीन भी शामिल होते तो गनीमत थी। अपने उपनिवेशों में बर्बरता के लिए बदनाम देश सभ्य कैसे हो जाते ?

अल्पसंख्यकों की समस्या : विश्वयुद्ध के दौरान आत्मनिर्णय का सिद्धांत इतना प्रचारित हुआ था कि अल्पसंख्यकों को ढेर सी आशाएं बंध चली थीं। लेकिन यूरोप में इस समस्या के हल में व्यावहारिक कठिनाइयां भी थीं। पूर्वी यूरोप में इनका वितरण इतना बिखरा हुआ था कि चेक, सर्व, यूनानी और मगयार जातियां कहीं बहुमत में थीं तो कहीं अल्पमत में। ऐसी स्थिति में राष्ट्रीयता के आधार पर राज्य बनाना हर कहीं संभव नहीं था। ऐसी स्थिति में अल्पसंख्यकों को आश्वस्त करने के लिए राष्ट्रसंघ के सदस्य देशों में निम्नलिखित उद्देश्यों को सामने रखकर एक समझौता हुआ :

1. अल्पसंख्यकों के जीवन और स्वायत्तता की सुरक्षा।
2. धार्मिक सहिष्णुता।
3. नागरिक अधिकारों की सुरक्षा।
4. कानून की समानता।
5. रोजगार के समान अवसर।
6. अदालतों और धार्मिक मामलों में अपनी अपनी भाषा के इस्तेमाल की छूट।
7. अल्पसंख्यकों की अपनी भाषा जीवित रखने की सुविधा और उसकी भाषा में शिक्षा का प्रबंध।

इन लक्ष्यों की पूर्ति की जिम्मेदारी राष्ट्रसंघ की अल्पसंख्यक समिति की थी। इस संबंध में कोई भी मामला सीधे परिषद या अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय में उठाया जा सकता था। लेकिन उल्लंघन कर्त्ताओं के विरुद्ध कुछ भी नहीं किया जा सकता था। सारे यूरोप

में अल्पसंख्यकों को यंत्रणा का शिकार होना पड़ा, लेकिन जब कोई सख्त कदम उठाने की बात होती तो सरकारें राष्ट्रसंघ से असहयोग करने लगतीं। इस प्रकार राष्ट्रसंघ आश्वासनों के अतिरिक्त अल्पसंख्यकों को कुछ भी नहीं दे सका।

राष्ट्रसंघ की असफलता

राष्ट्रसंघ का जिन स्थितियों में गठन हुआ था उनमें उसकी सफलतासंदिग्ध थी। फिर भी जापान के मंचूरिया पर आक्रमण के पहले वह असहाय नहीं लगता था। अपनी बढ़ती आवादी और उद्योग के विस्तार के लिए उपनिवेशों की अनिवार्य खोज में व्यस्त जापान ने 1931 में चीन के उत्तर स्थित मंचूरिया को दबोच लिया। चीन अपनी ही समस्याओं में उलझा हुआ था और मंचूरिया में लगी जापानी पूंजी पर कोई भी अंकुश लगाने में असमर्थ था। उपयुक्त अवसर देखकर जापान ने झूठे बहाने ढूंढे और आक्रमण कर दिया। वहां एक कठपुतली मांचुकूओ सरकार स्थापित की गई और 'सह-समृद्धि' के छद्म नारे के साथ जापान अपना प्रभाव बढ़ाने लगा। चीन ने विरोध किया। मामला राष्ट्रसंघ में उठा। जापान ने साम्यवाद के प्रसार को रोकने का ऐसा तर्क रखा जो पश्चिमी देशों को खामोश करने के लिए काफी था। विशेष रूप से इंग्लैंड जापान का पक्ष लेने लगा और परिषद में वस बहस होती रही। जापान अपनी पकड़ भी मजबूत करता रहा। अंत में लार्ड लिटन के नेतृत्व में इंग्लैंड, फ्रांस, अमेरिका, इटली और ब्रिटेन के प्रतिनिधियों का एक आयोग मंचूरिया भेजा गया। जापान ने उसकी अवहेलना की। चीन ने एसेंबली में भी बात उठाई। फिर भी बहसें होती रहीं। लिटन आयोग ने खुल-कर जापान की आलोचना तो नहीं की पर मंचूरिया को चीन का अभिन्न अंग माना और समझौता कराने की पहल की। जापान ने फिर भी इस रिपोर्ट का विरोध किया और राष्ट्रसंघ की सदस्यता छोड़ दी। अब एकगैर सदस्य के बारे में राष्टसंघ क्या करता?

राष्ट्रसंघ किंकर्त्तव्य विमूढ़ था। इधर मुसोलिनी ने उसे वेइज्जत कर डाला। मुसोलिनी ने भी बहाना बनाकर अबीसीनिया पर आक्रमण किया। पश्चिमी देश इटली की बढ़ती फासिस्ट ताकत से आक्रांत थे और मुसोलिनी को खुश रखना चाहते थे। इंग्लैंड ने तो चुपके चुपके इस आक्रमण को स्वीकार कर लिए जाने के विषय में वार्ता भी शुरू कर दी और उधर राष्ट्रसंघ में उसकी आलोचना भी करता रहा। फिर भी परिषद ने इटली को जिम्मेदार ठहराया और आक्रमण के विरुद्ध 16वीं धारा के अंतर्गत आर्थिक वहिष्कार और प्रतिवंध का प्रस्ताव किया। इस कार्य के लिए एक समिति भी बनाई गई। इटली को यदि केवल पेट्रोल मिलना बंद हो जाता तो वह घुटने टेक देता। लेकिन डरने के वजाय मुसोलिनी ने चेतावनी दे दी। ब्रिटिश विदेशमंत्री सैमुएल होर और फ्रांसीसी लावाल ने एक गुप्त योजना तैयार की लेकिन इस विश्वासघात का भंडाफोड़ हो गया। अबीसीनिया के लोग आसानी से पराजय नहीं मान रहे थे। अंत में सम्राट हैले सिलासी को भागना पड़ा। उसने लंदन और जेनेवा में व्यक्तिगत रूप से जाकर अपील की। कोई परिणाम सामने नहीं आया। उधर मुसोलिनी ने राष्ट्रसंघ को ही जिम्मेदार ठहराया। इंग्लैंड और फ्रांस ने अबीसीनिया पर इटली का प्रभुत्व स्वीकार कर लिया। कहा जा

सकता है कि मुसोलिनी ने पहले राष्ट्रसंघ की खिल्ली उड़ाई और फिर अवहेलना की तथा अंत में उसे ठुकरा भी दिया। राष्ट्रसंघ इस प्रहार से संभल नहीं सका। इतिहासकार रैम्जे म्योर के अनुसार अबीसीनिया पर आक्रमण राष्ट्रसंघ की क्षमता की अग्नि परीक्षा थी जिसमें वह बुरी तरह असफल हुआ। तबसे द्वितीय महायुद्ध की शुरुआत तक राष्ट्रसंघ निर्जीव सा पड़ा रहा। स्पेन के गृहयुद्ध में जिसमें प्रत्यक्ष परोक्ष रूप से यूरोप के कई देश शामिल थे राष्ट्रसंघ महज दर्शक बना रहा।

इस तरह 1939 के आते आते इतिहास को शूमन के शब्दों में राष्ट्रसंघ एक मिस्री ममी की तरह तामझाम के बावजूद निर्जीव संगठन बना रहा। नात्सीवाद के विस्तार के समय राष्ट्रसंघ का कोई महत्व नहीं रह गया था। जब महायुद्ध समाप्त हुआ और संयुक्त राष्ट्रसंघ गठन करने का प्रश्न उठा तो राष्ट्रसंघ को बाकायदा दफन कर दिया गया और उसी मजार पर नए संगठन की नींव रखी गई।

राष्ट्रसंघ की असफलता के कारण : यह निर्विवाद है कि राष्ट्रसंघ जैसी संस्था के लिए उपयुक्त वातावरण नहीं बन पाया था। कहा भी जाता है कि युद्ध तो उतना ही पुराना है जितना इंसान जबकि शांति अपेक्षतया एक नई अभिधारणा है। इस पुरानी युद्ध परंपरा पर नियंत्रण करना आसान नहीं था। विश्व के इतिहास में अब तक की सर्वाधिक विकसित संस्था राज्य है। उसकी शक्ति का स्रोत उसमें निहित सार्वभौमिकता है। किसी भी अंतर्राष्ट्रीय संस्था के सामने यह प्रश्न उठेगा ही कि उसकी शक्ति का स्रोत क्या है? ऐसी संस्था को उतनी ही शक्ति प्राप्त होगी जितनी सदस्य देश समवेत रूप से उसे प्रदान करेंगे। कोई भी राज्य अपने अधिकारों को सीमित करना नहीं चाहता। इस संदर्भ में कहा जा सकता है कि असफल तो राज्य हुए, राष्ट्रसंघ नहीं। (पावर्स फेल्ड लीग नाट लीग पीस)

इस मूलभूत कमजोरी के साथ राष्ट्रसंघ की संरचना में ही दोष थे। विल्सन ने यह भूल कर दी थी कि इसे पेरिस संधियों से जोड़ दिया था। ऐसी विवादास्पद संधियों की आलोचना का राष्ट्रसंघ पर असर पड़ना स्वाभाविक था। संगठन के पीछे मूल प्रेरक शक्ति अमेरिका की थी और वही अपनी आंतरिक राजनीति के कारण राष्ट्रसंघ का सदस्य नहीं बना। इससे राष्ट्रसंघ के स्थाइत्व और विश्वसनीयता पर प्रश्न उठ खड़ा हुआ। ई० एच० कार के अनुसार 'यूरोप के दरवाजे पर एक असहाय शिशु छोड़ दिया गया था जिसे देखने पर हर तरह से अटलांटिक पार उसके जनक की याद आती थी।'

राष्ट्रसंघ शुरू से ही विजेताओं के हाथ की कठपुतली लगने लगा था। जर्मनी इसमें इसलिए शामिल नहीं किया गया क्योंकि वह पराजित था और रूस इसलिए कि वह क्रांतिकारी था। ऐसे में लेनिन ने यदि उसे 'पूंजीवादी हथियार' कहा तो अतिशयोक्ति नहीं थी। अमेरिका, रूस और जर्मनी की अनुपस्थिति में इंग्लैंड, विशेषकर फ्रांस का राष्ट्रसंघ में बोलबाला था। जान व्हिटेकर का मत है कि 'राष्ट्रसंघ फ्रेंच विदेश मंत्रालय की एक शाखा जैसा था।' ऐसी स्थिति में अन्य सदस्य कैसे आश्वस्त होते? राष्ट्रसंघ में कुछ सांगठनिक दोष भी थे। एसेंबली का कमजोर होना और परिषद का सर्वशक्तिमान होना तथा इनके आपसी संबंधों का ठीक से परिभाषित न होना राष्ट्रसंघ की आंतरिक

कमजोरी थी। परिषद में अपने प्रभाव के कारण बड़ी शक्तियां कोई भी निर्णय अपने विरुद्ध नहीं जाने देती थीं। यह विशेषाधिकार भी अस्वीकार्य था। राष्ट्रसंघ की सदस्यता सतत और अनिवार्य नहीं थी। इसलिए अपने विरुद्ध जाते देखकर कोई भी देश उसकी उपेक्षा कर अलग हो सकता था और फिर गैर सदस्यों पर कौन सा अनुशासन लागू होता ?

सबसे बड़ी समस्या तो राष्ट्रसंघ की क्षमता ही थी। अधिक से अधिक राष्ट्रसंघ एक नैतिक शक्ति हो सकता था। लेकिन वह नैतिक बल उसकी निष्पक्षता की कमी और असमान व्यवहार के कारण उसे कभी नहीं प्राप्त हुआ। यदि कोई देश राष्ट्रसंघ के निर्णय को नहीं मानता तो वह अधिक से अधिक चौदहवीं धारा के अंतर्गत सदस्यों से दोषी देश के बहिष्कार की अपील कर सकता था जिसे माने जाने की कोई गारंटी भी नहीं थी। राष्ट्रसंघ के पास न अपनी कोई पुलिस थी न सेना। ऐसी स्थिति में राष्ट्रसंघ को पोपला बूढ़ा कहना उसकी शक्तिहीनता को ही रेखांकित करना है। 1930 के बाद उसे एकदम से लड़खड़ा जाने का एक कारण पश्चिम में गंभीर आर्थिक मंदी भी थी। उस समय राष्ट्रसंघ की ओर कौन ध्यान देता ? इसी बीच तानाशाहों का उदय हुआ जो एकदम सैन्यवादी और आक्रामक थे। अन्य देशों का नेतृत्व अदूरदर्शी था। फिर राष्ट्रसंघ कैसे बचता ?

मूल्यांकन : बीस वर्षों में ही राष्ट्रसंघ का पतन इसकी असफलता का प्रमाण हो सकता है लेकिन युद्ध के दौरान ही संयुक्त राष्ट्रसंघ के घोषणा पत्र की तैयारी और बाद में उसका बन जाना उसकी सफलता और उपयोगिता का प्रमाण है। 19वीं शताब्दी के गुटों की कूटनीति के बदले राष्ट्रसंघ ने खुली कूटनीति की परंपरा शुरू की थी जो एक स्वस्थ परंपरा थी, लेकिन यह चल नहीं सकी। 'गुटों की सुरक्षा' के स्थान पर 'सामूहिक सुरक्षा' का सिद्धांत भी उपयोगी था जो क्रियान्वित नहीं हुआ। वास्तव में राष्ट्रसंघ के गैरराजनीतिक कार्यों का अधिक महत्व है। महायुद्ध ने भारी संख्या में शरणार्थियों और बंदियों की समस्या पैदा की थी। इन विस्थापित और असहाय लोगों की पुनर्स्थापना की चुनौती को राष्ट्रसंघ ने निभाया। इसी तरह संक्रामक रोगों की समस्या के विश्वव्यापी रोकथाम की जरूरत समझकर हैजा, मलेरिया, चेचक और टी० बी० जैसे रोगों के विरुद्ध कार्य करने के लिए एक स्थाई संस्था बनी जिसे विश्व स्वास्थ्य संगठन का पूर्ववर्ती रूप कह सकते हैं।

राष्ट्रसंघ ने कुछ सामाजिक रोगों को नियंत्रित करने की दिशा में भी प्रशंसनीय कार्य किया। नशीली वस्तुओं और नारियों के व्यापार, बच्चों पर होने वाले अत्याचार और दास प्रथा के विरुद्ध अंतर्राष्ट्रीय प्रयास शुरू हुआ। गैरकानूनी संतानों और बाल विवाह जैसी समस्याओं पर भी विचार हुआ। अश्लील साहित्य के प्रकाशन की रोकथाम का भी प्रयास हुआ।

राष्ट्रसंघ ने अंतर्राष्ट्रीय कानूनों को संकलित करने का प्रयास किया। यह कार्य अब तक पूरा नहीं हो सका है।

राष्ट्रसंघ का मूल कार्य युद्ध समाप्त करना और शांति कायम करना था। इस दिशा

में उसे बहुत सीमित सफलता मिली। राष्ट्रसंघ न साम्राज्यवादी देशों को नियंत्रित कर सका, न फासिस्ट देशों को। एशिया और अफ्रीका के उपनिवेशों के लिए राष्ट्रसंघ ने कुछ नहीं किया। आसन्न महायुद्ध को भी राष्ट्रसंघ न टाल सका। वह एक कठपुतली बनकर रह गया।

राष्ट्रसंघ का उद्घाटन करते हुए फ्रांस के राष्ट्रपति पुऐंकारे ने कहा था : 'आपके हाथों विश्व का भविष्य है।' लेकिन राष्ट्रसंघ का रूप वही हो सकता था जो उसके सदस्य बनाते। जब तक युद्ध के कारण हैं तब तक युद्ध को कोई भी संस्था कैसे रोक सकती है? इसलिए राष्ट्रसंघ ने जिस अंतर्राष्ट्रीय सहयोग की भावना को जन्म दिया लैंगसम के अनुसार उसके लिए वह स्मरणीय रहेगा। राष्ट्रसंघ का सबसे बड़ा स्मारक संयुक्त राष्ट्रसंघ है जो अपनी पूर्ववर्ती संस्था के बहुत से दोषों से मुक्त होने और पहले से अधिक व्यापक होने के बावजूद सफल नहीं हो पा रहा है। फिर भी 'डूबते को तिनके का सहारा' की तरह एक विकल्प तो विद्यमान है।

14

रूस की समाजवादी व्यवस्था

मानव इतिहास में पहली बार रूस में एक सर्वथा अभिनव प्रयोग हुआ जिसका लक्ष्य राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, और सांस्कृतिक क्षेत्र में आमूल परिवर्तन तथा एक नए समाज की रचना था.। हम देख चुके हैं कि रूस में क्रांति क्यों और कैसे हुई। वहां कैसे प्रारंभिक कठिनाइयों से मुक्ति मिली। लेकिन क्रांति के विरोधी देश के,भीतर और बाहर भी मौजूद थे। अभी क्रांति का व्यावहारिक लाभ जनता को नहीं मिला था। समाजवादी समाज की रचना की दिशा में प्रारंभिक कदम ही उठाए गए थे लेकिन एक दशक में ही नए रूस का अस्तित्व स्वीकार किया जाने लगा। 1920 तक रूस की भूमि से प्रतिक्रांतिकारी फौजें हटा दी गईं थीं और रूस पश्चिम के पड़ोसियों से समझौते कर चुका था। लाल सेना ने आंतरिक और बाह्य विरोध को कुचल दिया था और रूस में अपेक्षतया शांति थी। 1918 में रूस का नया संविधान बना और सोवियत समाजवादी गणतंत्र की स्थापना हुई। रूस संघीय प्रणाली का राज्य बना जिसमें विभिन्न राष्ट्रीयताओं के लोग अलग अलग राज्यों में संगठित होकर सोवियत संघ के सदस्य बन गए। राज्य में केवल साम्यवादी दल को ही मान्यता दी गई क्योंकि उसे ही सर्वहारा के हितों का पोषक माना गया। एक नए तरह का जनतंत्र कायम हुआ, जिसमें अनुशासन और शीर्ष नेताओं का नियंत्रण अनिवार्य था। स्थानीय से केंद्रीय स्तर तक योग्य पार्टी सदस्यों को ही जिम्मेदारी सौंपी गई। राज्य का एक ऐसा स्वरूप सामने आया जिसे पश्चिमी देशों ने गैरप्रजातांत्रिक और धर्म परंपरा विरोधी कहकर प्रचारित किया, लेकिन वास्तव में इस स्वरूप से मेहनतकश लोगों के हित पूरे हुए।

इस नई व्यवस्था का लक्ष्य था शोषण का अंत। इसके लिए जरूरी था कि उत्पादन के सभी साधनों पर राज्य का अधिकार हो। इसलिए जमीन, कल-कारखाने, बैंक आदि का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया। नियंत्रण और संचालन के लिए एक उच्च आर्थिक आयोग की स्थापना की गई। इससे प्रारंभ में बहुत सी कठिनाइयां उठ खड़ी हुईं। कामगारों को न अनुभव था न व्यापक स्तर पर उनमें समन्वय था। नतीजा यह हुआ कि उत्पादन कम होते होते कहीं कहीं रुक सा गया। यातायात के साधनों का ठीक से संचालन न होने के कारण बहुत सी चीजें अपने गंतव्य तक पहुंच ही नहीं पाती थीं। फल, सब्जी और मछली जैसी चीजें सड़ने लगीं। किसानों के साथ भी समन्वय न हो पाया था। इससे जिन क्षेत्रों में राजनीतिक गतिविधि तेज नहीं थी वहां के किसान भूमि छोड़ने और सहकारी खेती या उत्पादन को राज्य के सुपुर्द कर देने जैसी बातों के लिए तैयार

नहीं थे। कहीं,कहीं विरोध भी हुआ। उत्पादन घटने लगा। 1920 में खेती योग्य 29% जमीन पर खेती नहीं की गई। करोड़ों लोगों के सामने जीवन मरण का प्रश्न आ खड़ा हुआ। कहीं कहीं तो भुखमरी की स्थिति पैदा हो गई। राजकीय और विदेशी सहायता के बावजूद काफी लोग भूख और प्यास से मरने लगे। क्रांति विरोधी नारे भी सुनाई पड़ने लगे।

नई आर्थिक नीति

लेकिन लेनिन ने एक बार पुनः सिद्ध कर दिया कि वह केवल एक स्वप्नदर्शी विचारक नहीं, सामाजिक चिंतन और व्यावहारिक राजनीति दोनों में असाधारण दूरदर्शिता रखता है। उसने यह स्पष्ट देखा कि तत्काल पूरी तरह समाजवादी व्यवस्था लागू करना या एक साथ सारी पूंजीवादी दुनिया से टकराना संभव नहीं है। जब तक अपने ही देश की प्रारंभिक समस्याएं नहीं सुलझ जातीं तब तक बड़ी बातों में उलझना उचित नहीं होगा। इसलिए 1921 में उसने एक नई नीति की घोषणा की जिसमें कई तरह के समझौते किए गए। ऐसा भी लग सकता था कि लेनिन अपने रास्ते से डगमगा रहा है या पीछे मुड़ रहा है। लेकिन वास्तव में पिछले अनुभवों से सीखकर व्यावहारिक कदम उठाना इस नीति का लक्ष्य था। इस नीति के मुख्य लक्षण निम्नवत थे।

1. किसानों से अनाज ले लेने के स्थान पर एक निश्चित कर लगाया गया। बचा हुआ अनाज किसान का था और वह इसका मनचाहा इस्तेमाल कर सकता था।

2. यद्यपि यह सिद्धांत कायम रखा गया कि जमीन राज्य की है फिर भी व्यवहार में जमीन किसान की हो गई। बाद में उसे कुछ हिस्सा दूसरों को उठा देने और मजदूर रखकर काम कराने का भी अधिकार मिल गया। इसका लाभ उठाकर कुछ चालाक और पहले से संपन्न लोग परोक्ष रूप से जमींदार बन बैठे।

3. 20 से कम कर्मचारियों वाले उद्योगों को व्यक्तिगत रूप से चलाने का अधिकार मिल गया।

4. उद्योगों का विकेंद्रीकरण कर दिया गया। निर्णय और क्रियान्वयन के बारे में विभिन्न इकाइयों को काफी छूट दे दी गई।

5. विदेशी पूंजी भी सीमित तौर पर आमंत्रित की गई।

6. विदेशी व्यापार तो राज्य के ही अधिकार में रहा लेकिन देश में व्यक्तिगत व्यवसाय को छूट दी गई। इससे व्यक्तिगत लाभ की प्रवृत्ति बढ़ी और बाद में सहकारी और राजकीय व्यवसाय को प्रतिस्पर्धा का सामना करना पड़ा।

7. व्यक्तिगत संपत्ति और जीवन का बीमा भी राजकीय एजेंसी द्वारा शुरू किया गया।

8. विभिन्न स्तरों पर बैंक खोले गए।

9. ट्रेड यूनियन की अनिवार्य सदस्यता समाप्त कर दी गई।

इस तरह शुद्ध समाजवाद के स्थान पर फिलहाल एक मिश्रित अर्थव्यवस्था लागू की गई और 'लाभ' की प्रवृत्ति, जो पूंजीवादी व्यवस्था का मूल आधार है, पूरी तरह

समाप्त नहीं की गई। व्यक्तिगत संपत्ति भी समाप्त नहीं हुई। उत्पादन और वितरण पर अधिकांशतः राज्य का ही नियंत्रण रहा फिर भी कृषि, उद्योग और व्यवसाय में एक सीमा तक व्यक्ति को छूट दी गई। जैसाकि इतिहासकार लैंगसम कहता है साम्यवादियों के मूल सिद्धांत 'हर व्यक्ति को उसकी जरूरत के अनुसार' को 'हर व्यक्ति को उसकी मेहनत के अनुसार' में परिवर्तित कर दिया गया।

यह एक समझौता था और इसकी आलोचना की जाती है। लेकिन यह भी सोचना चाहिए कि 1921 में रूस की जो स्थिति थी उससे बिना किसी समझौते के छुटकारा नहीं हो सकता था। इन व्यावहारिक कदमों से रूस का अर्थतंत्र पूरी तरह संभल गया और बाद की समाजवादी योजना की शुरुआत हो सकी। लैंगसम के अनुसार इस नीति ने प्रारंभ में वर्तमान अतिशयता पर मरहम लगाया। लेकिन दूरगामी परिणामों की दृष्टि से यदि देखें तो आज रूस में फिर उसी तरह की प्रवृत्ति पनप रही है। वहां पचास वर्षों की समाजवादी व्यवस्था के बावजूद पूंजीवादी प्रवृत्ति और संस्थाओं के विकास के लिए एक हद तक यह नई आर्थिक नीति भी जिम्मेदार लगती है।

लेनिन के उत्तराधिकारी

लेनिन ने जीवन भर अथक परिश्रम किया। 1922 तक रूस की क्रांति सफल होती दिखाई पड़ रही थी। तभी लेनिन का स्वास्थ्य एकदम गिरने लगा। उसकी हत्या का भी प्रयास हुआ। और जीवन के अंतिम दो वर्षों में कुछ दिनों के लिए ही—वह भी दुर्दम्य जिजीविषा के बल पर, लेनिन राज्य के कार्य कर सका। इस बीच यह निश्चित नहीं हो सका था कि लेनिन के बाद इतना बड़ा दायित्व कौन संभालेगा। अभी भी दल में सभी लोग पूरी तरह समर्पित नहीं थे—व्यक्तिगत महत्वाकांक्षाएं भी थीं। पुराने वर्ग संस्कारों से नेतृत्व भी अछूता नहीं था। सामूहिक नेतृत्व का सिद्धांत पूरी तरह लागू नहीं हो सका था। इधर जनवरी 1924 में लेनिन की मृत्यु हो गई।

एक तरफ त्रात्स्की ने लाल सेना के संगठन और सफलता में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। वह बुद्धिजीवी था और साम्यवाद से उसका नया सा संपर्क था। दूसरी ओर स्तालिन था जो एक मोची परिवार से उठकर पार्टी के मंत्री और प्रमुख पत्र 'प्रावदा' के संपादक का पद संभाल चुका था। कई बार जेल और साइबेरिया भेजे जाने के बाद भी वह हर बार छूटकर पार्टी का काम संभाल लेता। तीसरा व्यक्ति जिनोवियेव था जो अंतर्राष्ट्रीय मामलों में दक्ष था। अन्य देशों के कम्युनिस्टों से उसका संपर्क था, और वह विश्वक्रांति के लिए सब कुछ करने को प्रस्तुत था। इसके अलावा बुखारिन, कामेनेव आदि भी प्रमुख नेता थे। स्तालिन, कामेनेव और जिनेवियेव का त्रिगुट निकट संपर्क में था और यह त्रात्स्की की रूमानियत के पक्ष में नहीं था। लेनिन की मौत के बाद यही गुट शक्तिशाली हुआ और इनमें भी स्तालिन के ही हाथ वास्तविक सत्ता आई। त्रात्स्की कुछ दिनों बाद मेक्सिको भाग गया और स्तालिन को पार्टी का मंत्री तथा राज्य का प्रमुख बनाया गया। तीस वर्षों तक उसने रूस का शांति और युद्ध में नेतृत्व किया और धीरे धीरे रूस विश्व की प्रमुख शक्तियों में गिना जाने लगा। त्रात्स्की और स्तालिन के बीच

का अंतर गुंथर ने बड़े रोचक ढंग से प्रस्तुत किया है। उसके अनुसार जहां त्रात्स्की एक स्थाई क्रांति के रूमानी विचार में विश्वास करता था, स्तालिन एक गृहस्थ की तरह घर की व्यवस्था को महत्व देता था।

पंचवर्षीय योजना : विश्व के अर्थतंत्र में नियोजित अर्थव्यवस्था और पंचवर्षीय योजना रूस की ही देन है। विरोधियों से मुक्ति पाकर स्तालिन ने एक योजना क्रियान्वित की जिसने नई आर्थिक नीति के कारण उत्पन्न 'नेपमेन' और 'कुलक' वर्ग को, जो अपना प्रभाव बढ़ाते जा रहे थे, समाप्त कर दिया और रूस का तेजी से औद्योगिकरण किया।

राजकीय योजना आयोग (गास्प्लान) द्वारा तैयार की गई योजना 1928 में लागू की गई। इस योजना ने अपना लक्ष्य इस प्रकार निर्धारित किया :

1. रूस में आधुनिक तकनीक का उपयोग।
2. विदेशी प्रभाव से मुक्त रूस को एक औद्योगिक शक्ति में बदलना।
3. पूंजीवादी प्रवृत्तियों को समाप्त करना।
4. भारी उद्योग का विकास।
5. कृषि को सामूहिक पद्धति पर विकसित करना। और,
6. रूस को सुरक्षा के मामले में आत्मनिर्भर बनाना।

अर्थतंत्र को इस तरह नियोजित किया गया कि उत्पादन, वितरण और वित्तीय आधार एक निश्चित अनुशासन में विकसित होने लगा। धन और विशेषज्ञों की कमी थी। लेकिन दृढ़ निश्चय ने उन्हें दूर कर दिया। निर्यात पर जोर देकर विदेशी मुद्रा अर्जित की गई। जिससे आवश्यक मशीनें खरीदी जा सकीं और विदेशी विशेषज्ञों का सहयोग मिल सके। देश में तकनीकी शिक्षा का कार्यक्रम भारी पैमाने पर लागू किया गया जिससे भावी योजनाओं के लिए देश में ही तकनीशियन और इंजीनियर तैयार हो सकें। सारे देश को इस तरह जुटा दिया गया कि योजना के कुछ अंश समय से पहले ही पूरे हो गए। तुर्किस्तान-साइबेरिया रेलवे लाइन और बड़े बड़े जलविद्युत गृह समय से पहले ही तैयार हो गए। लाखों एकड़ के राजकीय फार्मों में उत्पादन के नए मानदंड स्थापित होने लगे। सामूहिक खेती आसानी से नहीं स्वीकार हुई और दिक्कतें पैदा हुईं। इस योजना में थोड़ी नरमी बरतनी पड़ी और किसानों को थोड़ी छूट दी गई। लेकिन धीरे धीरे इसे स्वीकार किया जाने लगा और कृषि की स्थिति संभल गई। यद्यपि मजदूरों और किसानों के जीवन स्तर पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा लेकिन योजना पूरी होते होते रूस का नक्शा ही बदलने लगा।

1933 से 1937 के लिए दूसरी पंचवर्षीय योजना तैयार की गई जिसमें उपयोग की चीजें बनाने और बेहतर उत्पादन पर जोर दिया गया। साथ ही आवास विकास पर काफी ध्यान दिया गया। इस योजना के पूरी होने से पहले ही कई क्षेत्रों, जैसे इस्पात के उत्पादन में, रूस इंग्लैंड से भी आगे निकल गया। इस योजना का स्पष्ट प्रभाव भी दिखाई पड़ने लगा और प्रारंभिक वर्षों के कठिन जीवन से रूसी जनता को मुक्ति मिलने

लगी। रहने के स्थान पहले से बेहतर थे। खाद्य पदार्थ की राशनिंग व्यवस्था समाप्त कर दी गई और दुकानों में जरूरत की चीजें उपलब्ध होने लगीं। केवल पांच प्रतिशत उत्पादन व्यक्तिगत क्षेत्र में बचा और रूस पूरी तरह एक समाजवादी देश बन गया।

देश के सांस्कृतिक जीवन में भी क्रांतिकारी परिवर्तन आया। साम्यवाद धर्म में विश्वास नहीं करता इसलिए चर्च की सारी संपत्ति का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया था और धार्मिक स्थानों को अन्य जनोपयोगी कार्यों में इस्तेमाल किया जाने लगा था। चर्च को हर तरह की राजकीय सहायता बंद कर दी गई लेकिन व्यक्ति स्तर पर धर्म छोड़ने के लिए किसी को मजबूर नहीं किया गया। चर्च भी व्यक्तियों के अनुदान पर निर्भर कर सकता था। सामाजिक जीवन में विवाह, तलाक और अन्य संस्कारों में चर्च का हस्तक्षेप समाप्त हो गया। शिक्षा की महत्ता निर्विवाद थी। इसलिए अशिक्षा दूर करने का कार्यक्रम तत्काल शुरू किया गया। प्रारंभिक और वयस्क शिक्षा के कार्यक्रमों द्वारा कुछ ही वर्षों में यूरोप के सबसे पिछड़े देशों में से एक रूस कई पश्चिमी देशों से अधिक शिक्षित हो गया। सोलह वर्ष तक शिक्षा अनिवार्य और निःशुल्क कर दी गई। उच्च शिक्षा के दरवाजे भी सबके लिए खोल दिए गए। विभिन्न क्षेत्रों में तकनीकी शिक्षा का प्रबंध किया गया लेकिन यह सब एक निश्चित योजना के अंतर्गत किया गया, जिसके तात्कालिक और दूरगामी लक्ष्य निश्चित थे। लोगों को केवल शिक्षित ही नहीं बनाया गया, उन्हें समर्पित नागरिक बनने की भी शिक्षा दी गई।

1938 में तीसरी योजना शुरू हुई लेकिन महायुद्ध शुरू होते ही उसे युद्ध के सांचे में ढालना पड़ा और सारी शक्ति युद्ध की तैयारी में लग गई। पिछली योजनाओं का ही परिणाम था कि इतना पिछड़ा और कृषि पर आश्रित रूस क्रांति के दो दशकों बाद ही एक महान औद्योगिक देश बन गया था और जब उस पर युद्ध थोपा गया तो उसे झेलने में वह समर्थ था। बाद में फासिज्म की पराजय में महत्वपूर्ण भूमिका भी उसने निभाई।

संविधान : क्रांति के तत्काल बाद एक ऐसा संविधान बना था जो तात्कालिक स्थितियों के लिए आवश्यक था। आंतरिक और विदेशी प्रतिरोध समाप्त हो जाने पर 1923 में संविधान में कुछ परिवर्तन किए गए थे लेकिन इस बीच स्थितियां काफी बदली थीं। समाजवादी कार्यक्रम लागू किए गए थे और उन्हें आशातीत सफलता मिली। देश की विभिन्न राष्ट्रीयताओं का समुचित विकास हुआ था। दो दशकों में पारंपरिक संस्कारों के स्थान पर नए जनवादी और समाजवादी संस्कार विकसित हुए थे। अब रूस एक स्थाई संविधान के लिए तैयार था। इसलिए 1936 में एक नया संविधान बनाया गया।

इस संविधान के अनुसार रूस ग्यारह सोवियत समाजवादी गणतंत्रों का संघ बनाया गया। हर गणतंत्र को इस संघ में रहने या उससे अलग हो जाने का अधिकार दिया गया।

देश में दो सदनों वाली व्यवस्थापिका का प्रावधान किया गया। सीधे जनता द्वारा चार वर्षों के लिए निर्वाचित 'सर्वोच्च सोवियत' में 570 सदस्यों का प्रावधान हुआ।

दूसरे सदन को 'राष्ट्रीयताओं की सोवियत' कहा गया जिसके सदस्य संघ की विभिन्न राष्ट्रीय इकाइयों द्वारा चुने जाते हैं।

कार्यपालिका के शिखर पर एक अध्यक्ष-परिषद का प्रावधान हुआ जिसमें एक अध्यक्ष (राष्ट्रपति), ग्यारह उपाध्यक्ष, चौबीस सदस्य और एक मंत्री होता है। शासन एक मंत्रिमंडल करता है जिसका हर सदस्य 'कोमिसार' कहलाता है और अलग अलग विभागों का कार्य देखता है।

इस संविधान में निर्वाचित न्यायपालिका का प्रावधान हुआ। स्थानीय, क्षेत्रीय, प्रादेशिक स्तरों के लिए अलग अलग न्यायालय बनाए गए। पूरे देश के लिए एक सर्वोच्च न्यायालय की भी व्यवस्था की गई और गणराज्यों में उच्च न्यायालय की। विशेष कार्यों के लिए विशेष न्यायालयों का भी प्रावधान हुआ।

जनवादी केंद्रीयता (डेमोक्रेटिक सेंट्रलिज्म) के आधार पर बना यह संविधान कई अर्थों में विशिष्ट था। पहली बार रूस में सामान्य वयस्क मताधिकार दिया गया जिसके आधार पर बिना किसी भेदभाव के 18 वर्ष से ऊपर का हर व्यक्ति मतदाता बन गया। इस संविधान में स्पष्ट उल्लेख न होने पर भी सत्ता कम्युनिस्ट पार्टी के ही हाथ में रखी गई। इस संविधान में नागरिक के अधिकारों के साथ उसके कर्तव्यों का भी स्पष्ट उल्लेख किया गया। इस संविधान ने एक ऐसे जनतंत्र की बुनियाद रखी जिसे पश्चिमी देश जनतंत्र मानने को ही तैयार नहीं और समाजवादी ऐसे ही जनतंत्र को वास्तविक जनतंत्र मानते हैं।

वैदेशिक संबंध : क्रांति के बाद रूस को अविश्वास की दृष्टि से देखा जा रहा था और पश्चिमी देशों ने प्रत्यक्ष, परोक्ष हर प्रयास किया कि क्रांति असफल हो जाए लेकिन जब उसकी जड़ें जम गईं तो उनका भी दृष्टिकोण बदला। दूसरी ओर उपनिवेशों और पिछड़े देशों में रूसी क्रांति एक प्रेरणा बन गई। क्रांति के तत्काल बाद संपूर्ण विश्व में साम्यवादी प्रचार, संगठन और समन्वय के लिए एक संस्था (कोमिंटर्न) बना दी गई थी। त्रात्स्की के नेतृत्व में विश्वक्रांति के सपने देखे जाने लगे और बहुत से देशों में मजदूरों के बीच काम शुरू हुआ। लेकिन शीघ्र ही यह उत्साह ठंडा पड़ गया और स्तालिन ने स्वयं स्वीकार किया कि 'पूंजीवाद की जड़ें इतनी गहरी हैं कि उन्हें तत्काल उखाड़ फेंकना संभव नहीं'। 'सोवियत गणतंत्रों का विश्वव्यापी संघ' और विश्वव्यापी साम्यवादी समाज की स्थापना ही उस संस्था के लक्ष्य थे। ये लक्ष्य पश्चिमी देशों से संबंध स्थापित करने के मार्ग में अवरोध थे। इस दिशा में ढील पड़ने से पश्चिमी देशों से संबंध सुधरने की संभावना बढ़ गई।

1921 में व्यावसायिक समझौते के लिए सबसे पहले इंग्लैंड तैयार हुआ। कुछ ही दिनों में जर्मनी और इटली जैसे देशों से भी समझौता हो गया। इस दिशा में सबसे बड़ी कठिनाई यह थी कि जारशाही ने बहुत भारी परिमाण में ऋण ले रखा था जिन्हें नई सरकार ने चुकाने से इनकार कर दिया। इसी आधार पर चर्चिल ने लेनिन को 'ग्रेट रेप्युडिएटर' (ऋण अस्वीकार करने वाला) कहा था। कोई भी नया समझौता करने से

पहले पुराने ऋण चुकाने की बात अवश्य उठती। 1921 के वाद रूस ने भी समझौतापूर्ण रवैया अपनाया। उसने स्पष्ट कर दिया कि यद्यपि नए रूस की कोई जिम्मेदारी नहीं है कि जारों के ऋण का भुगतान करे फिर भी मिलजुलकर विचार किया जा सकता है। जेनेवा में एक सम्मेलन हुआ जिसमें अमेरिका को छोड़कर उन 34 देशों ने हिस्सा लिया जिन्होंने ऋण दिए थे। कोई समझौता नहीं हो सका। लेकिन सम्मेलन में आए देशों ने रूस की समाजवादी सरकार से वार्ता कर उसे एक प्रकार से मान्यता तो दे ही दी थी। लेकिन वैधानिक मान्यता प्रमुख देशों में केवल जर्मनी से प्राप्त थी। अगले ही वर्ष रूस का बहिष्कार करने की प्रवृत्ति समाप्त हो गई। सत्ता संभालते ही मजदूर दल के ब्रिटिश प्रधानमंत्री रैम्जे मैकडानल्ड ने 1924 में रूस को मान्यता दे दी। इटली, चीन और फ्रांस जैसे देशों ने भी यही किया। युद्ध शुरू होने तक रूस को विश्व के प्रायः सभी प्रमुख देशों ने मान्यता दे दी।

लोकार्नो संधियों ने रूस की बिल्कुल उपेक्षा कर रखी थी और ऐसा लगता था कि पश्चिमी देश आपस में ही मैत्री करके संतुष्ट हो लेंगे। रूस को इससे खतरा महसूस हुआ और उसने इसे एक षड्यंत्र के रूप में देखा। उसने अपने पड़ोसियों से अनाक्रमण संधि कर अपनी सुरक्षा का प्रबंध कर लिया।

1933 में जर्मनी में सत्ता हिटलर के हाथों आई और उसने साम्यवाद के विरुद्ध एक दमनकारी कार्यक्रम शुरू कर दिया। पूरब में जापान भी साम्राज्यवादी रास्ते पर था। अब रूस की पूर्वी और पश्चिमी दोनों ही सीमाएं अरक्षित थीं। नतीजा यह हुआ कि रूस ने और तत्परता से सुरक्षा की व्यवस्था शुरू कर दी। 1934 में रूस ने अपना पुराना विरोध छोड़कर राष्ट्रसंघ की सदस्यता स्वीकार कर ली। उसने जर्मनी के विरुद्ध फ्रांस और चेकोस्लोवाकिया से सुरक्षात्मक संधि भी कर ली। लेकिन जब रूस ने देखा कि हिटलर की बढ़ती आक्रामकता के विरुद्ध फ्रांस और इंग्लैंड कुछ नहीं कर रहे तो उसे लगा कि उनका इरादा शायद हिटलर को रूस की ओर मोड़ देने का है। उसके बार बार आग्रह करने पर भी हिटलर विरोधी मोर्चा नहीं बन सका। तब मजबूरन 1939 में रूस ने जर्मनी से ही संधि कर ली और मोलोतोफ-रिबेनट्राप संधि ने रूस को भावी जर्मन आक्रमण के विरुद्ध तैयारी का मौका दे दिया। इतिहासकार ई० एच० कार के अनुसार दो बहिष्कृत देश आपस में मिल गए। यह एक कुशल कूटनीति थी जिसका रूस को निश्चित लाभ मिला। जब हिटलर ने द्वितीय महायुद्ध शुरू होते ही बिजली की तरह पश्चिमी यूरोप को रौंद डाला तो उसने अपनी पूर्व निर्धारित योजना के अनुसार रूस पर भी आक्रमण कर दिया। लेकिन उसे स्तालिनग्राद में एक ऐतिहासिक सबक मिला। सारी शक्ति लगाकर भी वह इस एक नगर पर कब्जा नहीं कर सका। शुरू में थोड़ा नुकसान उठाकर भी रूसी नेताओं ने पूरब से भयानक आक्रमण किया और हिटलर की राजधानी बर्लिन में सबसे पहले रूसी सेनाएं पहुंच गईं। इस प्रकार हिटलर के पतन में रूस ने सर्वाधिक महत्वपूर्ण भूमिका प्रस्तुत की।

दूसरा महायुद्ध समाप्त होने से पहले ही रूस को एक महान शक्ति माना जाने लगा था। युद्धकाल के शीर्ष सम्मेलनों में रूजवेल्ट और चर्चिल के साथ स्तालिन भी भाग लेता

था। मित्र राष्ट्रों की संयुक्त सेना में अमेरिकी आइजनहावर के बाद जनरल जुकोव को ही महत्व प्राप्त था। युद्ध की समाप्ति के बाद रूस को उपेक्षित रखने का प्रश्न ही नहीं था। उसके विरुद्ध चाहे जितनी शंका और शत्रुता हो, चाहे राष्ट्रसंघ हो या अन्य कोई अंतर्राष्ट्रीय मामला, अमेरिका के बाद रूस की ही प्रतिष्ठा थी। तीन दशकों में ही तिरष्कृत, आक्रांत और कमजोर रूस विश्व की ही महान शक्ति बन गया और वहां की जनता में क्रांति ने स्थाई रूप से अपनी जड़ें जमा लीं।

15

यूरोप में तानाशाही

यूनान का पश्चिमी प्रजातंत्र धीरे धीरे विकसित होता हुआ सारे यूरोप में फैल रहा था। ब्रिटेन में पार्लमेंट सबसे शक्तिशाली संस्था बन गई थी। 1848 की क्रांति के बाद यूरोप में कहीं भी राजवंश पूरी तरह स्वच्छंद नहीं रह गया। इस क्षेत्र में सबसे पीछे जर्मनी और रूस थे। जर्मनी में बिस्मार्क और विलियम द्वितीय राइखस्टाग को रबर स्टाम्प समझते रहे लेकिन वहां भी प्रथम विश्व युद्ध के बाद वाइमार गणतंत्र स्थापित हो गया था। रूस में भी 1917 के बाद एक समाजवादी जनतंत्र स्थापित हो गया था। इस प्रकार 1921 तक सारे यूरोप में लगभग प्रजातांत्रिक व्यवस्था स्थापित हो चली थी। लेकिन एक वर्ष के बाद ही एक झटके में यह आडंबर टूट गया और इटली में फासिज्म की काली छाया मंडराने लगी। एक ही दशक बाद जर्मनी नात्सीवाद की चपेट में आ गया। सारा यूरोप और इसके बाद प्रायः संपूर्ण विश्व ही फासिस्ट तानाशाहों से आक्रांत हो गया। लेकिन द्वितीय महायुद्ध में ये ध्वस्त भी हो गए। यह जानना आज भी प्रासंगिक है कि इन तानाशाहों के प्रादुर्भाव, उनकी शक्ति और अंत में इनके पतन का आधार क्या था।

इटली में फासिज्म

हम यह देख चुके हैं कि एकीकरण के बाद भी इटली अपने को अपूर्ण समझता था। इटली में प्रगति सीमित थी, प्रजातंत्र भ्रष्ट और लड़खड़ा रहा था। ऐसी स्थिति में मुसोलिनी ने इटली की राष्ट्रीय आकांक्षाओं का आक्रामक आह्वान किया और इटली एक ज्वार पर सवार अनिश्चित भविष्य की ओर बढ़ चला।

इटली में फासिज्म के प्रादुर्भाव का प्रमुख कारण था वर्तमान से असंतोष, क्षोभ और एक प्रकार की निराशा। यह असंतोष सबसे मूर्त था अपूर्णता के विरुद्ध। 1870 के बाद भी इटली को एड्रियाटिक सागर तट पर स्थित कुछ क्षेत्रों, विशेषकर फिउमे नहीं मिल सके थे। प्रथम महायुद्ध में जर्मनी का साथ छोड़कर मित्र राष्ट्रों की ओर से लड़ना भी बेकार हो गया था। इटली का कहना था कि इंग्लैंड और फ्रांस को तो कई तरह के पुरस्कार मिले लेकिन उन्हें क्या मिला? उसे लगा : 'जीत तो हुई लेकिन शांति लुप्त हो गई।' इस दिशा में सरकार भी कुछ नहीं कर रही थी। इसके विपरीत जब दाननजिओ ने अपने कुछ सहयोगियों के साथ फिउमे पर जबरदस्ती कब्जा किया तो सरकार ने यूगोस्लाविया से संधि कर उसे फिउमे से बाहर कर दिया। राष्ट्रवादियों को बहुत क्षोभ हुआ। अल्बानिया में भी इटली का प्रभाव कम हो रहा था। अफ्रीका और भूमध्यसागर

में इटली की प्रमुखता स्थापित नहीं हो पा रही थी। जनता सरकार को ही इस सबके लिए जिम्मेदार समझने लगी थी।

इस भावनात्मक असंतोष के पीछे आर्थिक विपन्नता थी। दक्षिणी इटली शुरू से गरीव रहा है। एकीकरण के बाद स्थिति वदली नहीं थी। सिसली में बेरोजगारी चरम-सीमा पर थी। उत्तर में औद्योगिक विकास हुआ था लेकिन वहां मजदूर असंतुष्ट थे। युद्ध की समाप्ति पर लौटे सैनिक सर्वहार (प्रोलेतारिआ आफ द ट्रेंचेज) बन गए थे और सरकार की अकर्मण्यता पर नाराज थे। इटली की स्थिति साम्यवाद के प्रसार के अनुकूल थी और उसका प्रभाव वढ़ भी रहा था। युद्ध के बाद हुए चुनाव में उनको पहले से दो गुनी सीटें मिली थीं। रूसी क्रांति की सफलता प्रेरणा का काम कर रही थी। इटली के सत्ताधारी इससे आतंकित भी थे। चर्च का जनता पर प्रभाव था और वह समाजवाद का कट्टर विरोधी था। सामंत और उद्योगपति भी गरीवों और मजदूरों की वढ़ती ताकत कुचल देना चाहते थे। ज्यों ज्यों मजदूर संगठित होते जा रहे थे त्यों त्यों उनके विरुद्ध षड्यंत्र वढ़ रहे थे।

इटली में प्रजातंत्र असफल हो गया था। जर्मनी और इटली का एकीकरण एक ही साथ हुआ था। विस्मार्क ने प्रजातंत्र को मजवूत नहीं किया था लेकिन वदले में एक स्थिर सरकार, प्रगति और प्रतिष्ठा कायम की थी। इटली में संवैधानिक राजतंत्र स्थापित तो हुआ, लेकिन दलीय व्यवस्था परंपरा विरुद्ध थी। कोई भी राजनीतिक दल वहुत दिनों तक स्पष्ट वहुमत नहीं बनाए रख पाता था। प्रायः दक्षिणपंथी और मध्यमार्गी दल मिल-जुलकर सरकारें चलाते थे। पचास वर्षों में भी स्वस्थ संसदीय प्रणाली नहीं विकसित हो पाई। राजनीतिक नेता अयोग्य ही नहीं भ्रष्ट भी थे। प्रजातंत्र इटली में वदनाम हो चला था।

कानून और व्यवस्था की स्थिति के वारे में अमरीकी पत्रकार जान व्हिटेकर ने लिखा कि इटली में तर्क से चाकू ज्यादा कारगर है। इटली के उपनिवेश भी सांत्वना देने में असमर्थ थे।

सामान्य असंतोष के दौरान स्थितियों में तत्काल परिवर्तन, रोजगार और राष्ट्रीय सम्मान की भूखी जनता को एक ऐसा विकल्प चाहिए था जो तत्काल कुछ करे। चर्च, सामंतों और उद्योगपतियों को भी समाजवाद विरोधी एक शक्तिशाली उपकरण चाहिए था। मुसोलिनी उनके लिए वरदान सा था।

मुसोलिनी (1883-1943) का पूरा नाम वेनितो मुसोलिनी था। उसके पिता लोहार और मां शिक्षिका थीं। वह अपनी मां के प्रभाव में शिक्षक बन गया। लेकिन वह महत्वाकांक्षी था और एक मामूली शिक्षक की जिंदगी से असंतुष्ट था। वह अध्ययन के लिए स्विट्जरलैंड चला गया जहां वह समाजवादी विचार के प्रभाव में आया। जेनेवा और लोसान्न में उसने अपनी संगठन शक्ति का परिचय दिया और लौटकर इटली के आंदोलनों में भाग लेता रहा, साथ साथ अध्यापन भी। उसे सज़ा मिली और अंत में वह समाजवादी दल के मुख्य पत्र 'अवांती' का संपादक वन बैठा।

समाजवादी लोग प्रथम महायुद्ध के विरुद्ध थे क्योंकि उसे पूंजीवादियों का आपसी

झगड़ा समझा जा रहा था। मुसोलिनी का भी शुरू में यही मत था लेकिन बाद में उसने युद्ध में एक अवसर देखा और इटली के युद्ध में शामिल होने का हिमायती बन गया। उसे समाजवादी दल से हटना पड़ा और वह औद्योगिक नगर मिलान से एक नया पत्र 'इटली की जनता' निकालने लगा। युद्ध के बाद की स्थिति पर विचार करने के लिए उसने पुराने सैनिकों को निमंत्रित किया और कुछ लोगों ने मिलकर एक संगठन बनाया जो बाद में 'फासिस्ट दल' के नाम से जाना गया। लकड़ी के बंधे बोझ को अपना निशान और एकता का प्रतीक बनाकर मुसोलिनी ने उग्रवादी नारों के साथ परिवर्तन का एक 'क्रांतिकारी कार्यक्रम' प्रस्तुत किया। ज्यों ज्यों आर्थिक कठिनाइयां बढ़ती गईं और सरकार असफल होती गई त्यों त्यों उसका प्रभाव की बढ़ता गया।

उसने अपने दल को षड्यंत्रकारी आधार पर संगठित किया था। अपने पत्र और भाषणों के माध्यम से वह आग उगलता था और उसके युवा अनुयाई विरोधियों पर हर सही गलत ढंग से प्रहार करते थे। कम्युनिस्टों से भयभीत सरकार स्वयं चुपके चुपके मुसोलिनी की मदद करती थी। 1921 के चुनाव में उसे 35 सीटें मिलीं। विभिन्न कारणों से असंतुष्ट लोगों का सहयोग मुसोलिनी को मिलता रहा और वह साम्यवाद के विरुद्ध एक सशक्त मोर्चे के रूप में प्रतिष्ठित हो गया। उसे मालिकों से बराबर सहायता मिल रही थी। उसके दल की शाखाएं पूरे देश में खुल गईं। उसने अब खुलेआम सरकार में हिस्सेदारी की मांग की। नेपल्स में अपने अनुयाइयों की सभा में उसने घोषणा की : 'या तो हमें सरकार में शामिल किया जाएगा या हम रोम में सरकार. पर कब्जा कर लेंगे।'

इटली की ढुलमुल सरकार इस चेतावनी से डर गई और उन्हें सहभागी बनाने को तैयार हो गई। लेकिन मुसोलिनी ने इनकार कर दिया और पार्टी को 'रोम चलो' का नारा दे दिया। प्रधानमंत्री फाक्ता ने आपात्काल की घोषणा कर सख्ती से निबटाना चाहा लेकिन शासक इमैनुएल गृहयुद्ध की संभावना से डर गया और उसने मुसोलिनी को ही सरकार बनाने के लिए निमंत्रित किया। इस तरह 1922 में वह असाधारण अधिकारों सहित इटली का प्रधानमंत्री बन गया। एक बार जो अधिकार मिल गए उन्हें वापस करने का प्रश्न ही नहीं था। उनमें वृद्धि होती रही और वह 'एकमात्र नेता' कहा जाने लगा।

आंतरिक नीति : मुसोलिनी ने पहले सरकार और देश का फासिस्टीकरण किया। सभी पार्टियों पर प्रतिबंध लग गया। समाजवादी और कम्युनिस्ट नेताओं की हत्या तक करवाई जाने लगी। पार्लमेंट एक मुहर बन गई और राजा नाममात्र को सलाहकार। 'विश्वास करो, आज्ञा पालन करो और संघर्ष करो' (ट्रस्ट, ओबे, फाइट) इन नारों के साथ फासिस्ट दल सारे देश और तंत्र पर हावी होता गया। स्वतंत्रता समाप्त कर दी गई। विरोधियों के दमन के लिए 'ओवरा' नामक संस्था थी जो किसी के साथ भी कुछ कर सकती थी।

ट्रेड यूनियनें भंग कर दी गईं। वर्ग संघर्ष के स्थान पर वर्ग सहयोग का नारा देकर मजदूरों को जबरदस्ती शांत कर दिया गया। कृषि, उद्योग, ऋण और बीमा, व्यवसाय

तथा अन्य पेशों के क्षेत्र में राष्ट्रीय आयोग बना दिए गए। कुल मिलाकर बाईस आयोग गठित हुए। जिनमें प्रत्येक का अध्यक्ष मुसोलिनी था और प्रशासन फासिस्ट दल के महत्वपूर्ण लोगों के हाथ में। आर्थिक जीवन में 'सिंडिकेट' और निगम (कारपोरेशन) का एक नया ही प्रयोग शुरू हुआ जो योग्यता और प्रोत्साहन के नाम पर विशिष्टों को बढ़ावा था। कुछ दिन के लिए तो लगा कि इटली में चमत्कार हो गया है।

फासिज्म जीवन के किसी अंग को अछूता नहीं छोड़ना चाहता था। हर उम्र के लोगों के लिए अलग अलग संस्थाएं बनाई गईं। लड़कों को उम्र के हिसाब से दलों में बांटा गया और अनुशासन, मनोरंजन, स्वास्थ्य और सिद्धांत को मिलाकर उनकी पूरी लामबंदी की गई। मुसोलिनी नारी स्वातंत्र्य का विरोधी था और उन्हें घर के अंदर पत्नी और मां बनने तक सीमित रखना चाहता था। वह जानता था कि इस कैथोलिक बहुल देश में पोप से अच्छे संबंध जरूरी हैं। 1871 से ही पोप इटली को मान्यता देने से इनकार करता रहा और अपने महलों में द्वीप सा जीवन जीता था। मुसोलिनी ने पोप पिअस ग्यारहवें से वार्ता शुरू की और 1929 में एक समझौता हो गया जिसके द्वारा पोप के महलों को एक स्वतंत्र राज्य मान लिया गया। उसे अपना सिक्का और डाक टिकट चलाने तथा राजदूत नियुक्त करने तक का अधिकार मिल गया। पिछले वर्षों के लिए उसे मुआवजा दिया गया। पिछले साठ वर्षों का द्वंद्व समाप्त हो गया और पोप ने कहा : इटली को ईश्वर और ईश्वर को इटली वापस मिल गए। (गाड हैज बीन रिस्टोर्ड टु इटली ऐंड इटली टु गाड)।

इस प्रकार धर्म और राष्ट्रीयता का सहारा लेकर मुसोलिनी ने इटली को नई संस्कृति से लैस करना चाहा। अपने को आर्यों और गौरवशाली परंपराओं से जोड़कर मारिनेती, रोसिनी और जांतील जैसे लेखक फासिस्ट दर्शन को बल देने लगे। युद्ध को गौरवान्वित किया जाने लगा। फासिज्म आक्रामक और उत्कट राष्ट्रवादिता का दर्शन बन गया। मुसोलिनी एक भूतपूर्व समाजवादी था। उसने विभिन्न विचारों का अध्ययन किया था और उसका मूल आधार वैज्ञानिक समाजवाद का विकल्प प्रस्तुत करना था। वह वर्ग संघर्ष (क्लास स्ट्रगल) के स्थान पर सहयोग (क्लास कोलाबोरेशन) की बात करता था जो मूलतः सत्ताधारी वर्ग के हित में होते हुए भी मेहनतकश वर्ग को भ्रम में डाल सकता था। सर्वहारा के अधिनायकत्व की संभावना से आतंकित लोगों को अपने आर्थिक विचारों और प्रशासन द्वारा आश्वस्त किया कि मध्यवर्ग का ही अधिनायकत्व कायम रहेगा। उसके विचार राष्ट्रीय 'सिण्डीकैलिज्म' के नाम से जाने जाते हैं। उसने मालिकों और मजदूरों के सहयोग के लिए एक मंत्री के नियंत्रण में तेरह सिंडीकेटों का संगठन किया जिनमें से छः पूंजीपतियों के छः मजदूरों के और एक वकील, डाक्टर जैसे पेशेवर लोगों के लिए थे। मजदूरों के हड़ताल करने का या यूनियन बनाने का अधिकार तो छीन लिया गया लेकिन उनके सुरक्षा के लिए छुट्टी, बीमा और संसद में प्रतिनिधित्व की व्यवस्था की गई। इस प्रकार उसने समाजवाद को रोकने का वही प्रबंध किया जिसकी शुरुआत बिस्मार्क ने जर्मनी में की थी। विभिन्न आर्थिक इकाइयों के लिए अलग अलग निगम संगठित किए गए जिन पर फासिस्ट दल का नियंत्रण था।

इस प्रकार मुसोलिनी की आंतरिक नीति का लक्ष्य था जीवन के विभिन्न अंगों पर फासिस्ट दल का नियंत्रण। एक पिरामिड जैसी व्यवस्था की कठोर जकड़ जिसके शिखर नेता (इलदूचे) अर्थात वह स्वयं हो, राष्ट्रीय अहंकार और गौरव के लिए पूरे देश की लामवंदी, उसके प्रतिस्पर्धी विकल्पों—समाजवादियों और साम्यवादियों का निर्मम दमन, तात्कालिक व्यापक प्रगति आदि। और इनमें उसे निश्चय ही प्रारंभिक सफलता मिली।

परराष्ट्र नीति : इटली की संपूर्णता और सम्मान सारे इटली की भूख थी। मुसोलिनी ने स्पष्ट कहा था कि हमें भूमि की भूख है क्योंकि हम संख्या में वहुत हैं। (वी आर हंग्री फार लैंड विकाज वी आर प्रालिफिक ऐंड इन्टेन्ड टु रिमेन सो) इसे ही शांत करने का उसने सीधा प्रयास किया।

कैथरिनडफ ने मुसोलिनी की विदेश नीति के संबंध में लिखा है : 'भूमध्य सागर इटली का साम्राज्य होने के स्थान पर उसके लिए जेल वन गया था। कार्सिका, माल्टा, न्यूनिस और साइप्रस इस जेल की सलाखें थीं और स्वेज तथा जिब्राल्टर इसके पहरेदार।' इस जेल को तोड़कर अटलांटिक और भारतीय महासागरों तक पहुंचे विना इटली अपनी स्वतंत्रता को अधूरी समझता था। इसलिए विस्तार उसकी विदेश नीति का प्रेरक तत्व था।

यूनान और अल्वानिया की सीमा निर्धारण के समय हुए दंगों में तीन इटालियन भी मारे गए थे। मुसोलिनी ने यूनान को चेतावनी दी और राष्ट्रसंघ द्वारा मुआवजा मांगा। न मिलने पर उसने कार्फू द्वीप पर कब्जा कर लिया और राष्ट्रसंघ द्वारा मुआवजा दिलाए जाने पर ही उसे छोड़ा। इससे इटली की इज्जत बढ़ी। 'फउमे' पर इटली का प्रभुत्व स्थापित किया गया। अल्वानिआ जैसे अक्षम पड़ोसी पर परोक्ष रूप से इटली का ही प्रभुत्व स्थापित हो गया।

फ्रांस में इटली के मजदूरों की हालत दयनीय थी। नीस और सवाय पर फ्रांस के कब्जे की याद दिलाकर उसने उसे धमकाया। मजदूरों की हालत तो सुधरी ही फ्रांस भी उससे आतंकित रहने लगा। उसके साम्यवाद विरोधी स्वर के कारण फ्रांस और इंग्लैंड उसका समर्थन करने लगे। जव हिटलर ने पहली वार आस्ट्रिया में हस्तक्षेप करना चाहा तो उसने विरोध करके योजना असफल कर दी।

इटालियन राष्ट्रवाद आक्रामक हो चला था मारिओकार्ली कहता था कि 'इटलीवासी हमेशा युद्धरत रहे हैं और रहेंगे।' 1896 में अवीनीसिया द्वारा अडोवा में हुई पराजय इटालियन जनमानस में राष्ट्रीय अपमान की स्मृति वन गई थी। उस पराजय का वदला एक आह्वान वन सकता था। मुसोलिनी ने यही किया। अवीसीनिया का शासक हैले सिलासी अयोग्य था। उसकी सीमा पर सोमालीलैंड का क्षेत्र इटली के कब्जे में था। सीमा विवाद खड़ा करना आसान होता है। सीमा पर झड़पें हुईं और मुसोलिनी ने वहां सेना भेज दी। राष्ट्रसंघ में हायतोवा मची। लेकिन इटली का तर्क था—इथीयोपिआ (अवीसीनिया) को इंग्लैंड अपने पौंड की ताकत से लेना चाहता है और हम खून देकर।

जब आर्थिक बहिष्कार का प्रस्ताव पास हुआ तो मुसोलिनी ने राष्ट्रसंघ को ठुकरा दिया और अबीसीनिया को हड़प गया।

मुसोलिनी को हिटलर का खुला समर्थन मिला था और दोनों की निकटता की पृष्ठभूमि बन गई थी। हिटलर के रोम आने पर उसका भव्य स्वागत हुआ और निकटता बढ़ती गई। जब हिटलर ने फिर आस्ट्रिया में हस्तक्षेप किया तो मुसोलिनी ने विरोध नहीं किया। इस प्रकार बर्लिन और रोम एक साथ हो गए और बाद में तोकियो के शामिल होने पर बर्लिन और रोम तोकियो की धुरी बनी। स्पेन के गृहयुद्ध में फ्रांको की मुसोलिनी ने खुलकर सहायता की और वहां भी एक तरह की फासिस्ट सरकार स्थापित हो गई। इधर महायुद्ध निकट आता जा रहा था। मुसोलिनी ने स्पष्ट कह दिया था कि 'समझौता संभव नहीं है—या वे या हम' (द स्ट्रगल बिटवीन द टू वल्ड्र्स कैन परमिट नो काम्प्रोमाइज —आइदर वी आर दे)

इस युद्ध में इटली जर्मनी की तरह तैयार नहीं था क्योंकि जर्मनी को बिस्मार्क ने दृढ़ आर्थिक तंत्र दिया था जब कि इटली अंदर से जर्जर था। प्रारंभिक सफलताओं के बाद इटली लड़खड़ाने लगा और जब मित्र राष्ट्रों ने सिसली पर हमला कर दिया तो मुसोलिनी अपनी पार्टी और सरकार से अपदस्थ कर दिया गया। हिटलर की कोशिश भी नाकामयाब रही और मुसोलिनी को पकड़कर गोली मार दी गई।

मूल्यांकन : फासिज्म पूंजीवाद का भ्रष्टतम रूप है। लेकिन वह मुखौटे रंगीन लगाता है। मुसोलिनी कहता था : 'फासिज्म का अर्थ है जीवन को गंभीरतापूर्वक लेना।' (फासिज्म मीन्स टेकिंग लाइफ सीरियसली) मुसोलिनी ने सोचा था कि जब इंग्लैंड और फ्रांस लड़कर कमजोर हो जाएंगे तब वह हमला करेगा। इस प्रकार उसने जून 1940 में आक्रमण की घोषणा की। आर्थिक रूप से जर्जर और राजनीतिक रूप से अस्थिर इटली में फासिज्म साम्यवाद के विकल्प के रूप में विकसित हुआ। मध्यवर्ग के अधिनायकत्व को सर्वहारा के अधिनायकत्व के विकल्प के रूप में प्रस्तुत किया गया। यहां वास्तव में एक व्यक्ति की सत्ता के पीछे सारी प्रतिक्रियावादी और पूंजीवादी ताकतें थीं। फासिज्म के मूल तत्व उत्कट और उग्र राष्ट्रवाद, सैनिकवाद, एकतंत्र, नस्लवाद और रूमानी दृष्टिकोण होते हैं। थके हारे घोड़े को चाबुक मारकर जिस तरह कुछ दौड़ाया जा सकता है उसी प्रकार फासिज्म देश की अर्थव्यवस्था को कुछ दिनों के लिए गतिमान कर देता है। युद्ध की आवश्यकताएं रोजगार पैदा कर देती हैं। कठोर अनुशासन और आतंक के कारण कानूनों का पालन होता है। लगता है देश में अनुशासन और ऊर्जा का संचार हो गया है। पर वास्तव में फासिज्म एक रोग है निदान नहीं।

मुसोलिनी ने इटली के असंतोष और हीन भाव का प्रयोग किया था। दुनिया के विकास की दौड़ में पिछड़ा इटली का पूंजीपति अतिरिक्त संरक्षण चाहता था जो फासिज्म में उपलब्ध था। इसका खूब लाभ उठाया गया। लेकिन यह अर्थतंत्र वास्तविकताओं पर नहीं आधारित था और समाज की मूल आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं करता था इसलिए उसका स्थाई होना असंभव था। फासिज्म का दोतरफा विरोध सुनिश्चित था। समाजवाद तो इसका मूल विरोधी है ही पश्चिमी देश भी आर्थिक और राजनीतिक कारणों से

इतनी आक्रामक राष्ट्रवादिता के विरोधी बनने को मजबूर हैं। जिस प्रकार फासिज्म देश-काल की उपज था उसी प्रकार उसका पतन भी स्थितियों के विकास के कारण अवश्यंभावी था।

जर्मनी में नात्सीवाद

नात्सीवाद फासिज्म का अधिक नस्लवादी और अधिक गतिमान जर्मन संस्करण है। 'प्रथम महायुद्ध ने जर्मन नगरों का विनाश नहीं किया था लेकिन जर्मन मस्तिष्क को पूरी तरह नष्ट-भ्रष्ट कर दिया था। द्वितीय महायुद्ध ने जर्मन नगरों को तबाह कर दिया लेकिन उसने मस्तिष्क को नया और स्वस्थ कर दिया।' ल्यूडविग हैम्बर्गर का यह विश्लेषण जर्मन समस्या का महत्वपूर्ण पहलू उजागर करता है। नात्सीवाद के उदय में जर्मनी का भ्रष्ट जनमानस सहायक सिद्ध हुआ था।

वाइमार गणतंत्र : प्रथम महायुद्ध में जब तक जर्मनी का पलड़ा भारी था जर्मन जनता भुलावे में रही लेकिन 1918 में ज्यों ज्यों जर्मनी हारता गया असंतोष बढ़ता गया। नवंबर में सम्राट विलियम द्वितीय भी भाग खड़ा हुआ और समाजवादियों के प्रभाव में शासकों के प्रति विरोध इतना बढ़ा कि सत्ता उन्हीं के नेता एबर्ट के हाथ में आ गई। 11 नवंबर को इस नई सरकार ने युद्ध विराम पर हस्ताक्षर कर दिए।

सारे जर्मनी से राजपरिवार भाग चले थे और राजनैतिक जीवन असाधारण रूप से उद्वेलित हो गया था। साम्यवादी दल ऐसी स्थिति का लाभ उठाकर रूसी क्रांति की तरह जर्मनी में भी मजदूरों की सत्ता स्थापित कर मार्क्स का सपना पूरा करना चाहता था। लेकिन रणनीतिक गलतियों के कारण कम्युनिस्ट पार्टी के नेता रोजा लुक्सेमबुर्ग और 'स्पार्टकस' नाम से विख्यात लीब्कनेख्ट गिरफ्तार कर लिए गए और जेल के रास्ते में ही उन्हें मार डाला गया।

इस अनिश्चितता की स्थिति में भी यह तय हो गया था कि जर्मनी में राजतंत्र नहीं लौटेगा। राजतंत्रवादियों के घोर विरोध के बावजूद जर्मनी में गणतंत्र की स्थापना हो चुकी थी और जनवरी 1919 में पहली बार संसद का चुनाव हुआ। जर्मनी के राजनीतिक दलों में नामों और गुटबंदियों के बहुत से परिवर्तन हुए और 421 सीटों में से 'सोशलडेमोक्रेट्स' नामक दल को 163 सीटें प्राप्त हुईं। किसी दल के बहुमत के अभाव में तीन दलों—सोशलडेमोक्रेट्स, सोंट्रिस्ट और डेमोक्रेट्स ने संयुक्त रूप से वाइमार नामक नगर में पहली वैधानिक सरकार बनाई और फ्रीडरिख एबर्ट को गणतंत्र का पहला राष्ट्रपति चुना। एक नया संविधान बनाया गया जिसके अनुसार बालिग मताधिकार, सात वर्ष के लिए कार्यपालिका के शीर्ष स्थान के लिए राष्ट्रपति और दो सदनों वाली व्यवस्थापिका का प्रावधान किया गया।

इस शिशु 'वाइमार गणतंत्र' को वेर्साई की विनाशकारी और अपमानजनक संधि को कार्यान्वित करना था, रूढ़िवादी सत्ता वाले देश की सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक व्यवस्था में परिवर्तन करने थे और एक असंगठित शासन तंत्र द्वारा नित प्रतिदिन का शासन चलाना था। इस गणतंत्र की सबसे बड़ी समस्या यह थी कि जर्मनी में न तो प्रजा-

तंत्र की परंपरा थी न गणतंत्र की। कोई भी दल इतना संगठित और शक्तिशाली नहीं था कि जनता और शासन दोनों को संभाल सके। देश हीनभाव से ग्रस्त था। अपमान और कुंठा देश की बढ़ती विपन्नता के हल की मानसिकता के मार्ग में अवरोध थे। देश में विभिन्न दल, विशेषकर राजतंत्र समर्थक, निरंतर सरकार का तख्ता पलटने के षड्यंत्र करते रहते थे। सबसे बड़ी मार आर्थिक थी। जर्मनी के प्रमुख आय स्रोत या तो छीन लिए गए थे या उनपर विजेताओं का अंकुश था। प्रजातंत्र के हिमायती पश्चिमी देशों ने जर्मनी की पहली प्रजातांत्रिक सरकार को कोई प्रोत्साहन नहीं दिया।

'वाइमार गणतंत्र' को विशेष सफलता लोकार्नो संधियों के समय मिली जब स्ट्रेसेमान्न के दूरदर्शी नेतृत्व ने उपेक्षित और अपमानित जर्मनी को यूरोपीय परिवार तथा राष्ट्रसंघ में सम्मानित स्थान दिलवाया। प्रारंभ में युद्ध के पूरे खर्चे की क्षति पूर्ति की अव्यावहारिक समस्या भी धीरे धीरे हल होने लगी। आर्थिक स्थिति कुछ संभल ही रही थी कि 1929 में पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के इतिहास का तब तक का सबसे बड़ा संकट आ टूटा। सारे पश्चिमी जगत का अर्थतंत्र लड़खड़ाने लगा। बेरोजगारी चरम सीमा पर पहुंच गई। कल-कारखाने बंद होने लगे और मुद्रा का इतना अवमूल्यन हो गया कि इसका मूल्य उस कागज के मूल्य से भी घट गया जिस पर नोट छपते थे।

शार्लमन के साम्राज्य और अपनी परंपराओं से प्रेरित जर्मन अहं फिक्टे, हेगेल और नीत्शे जैसे विचारकों के प्रभाव में कट्टर राष्ट्रवादिता की ओर बढ़ता रहा है। नेपोलियन से त्रस्त जर्मन भूमि पर प्रशा के पुनरुत्थान और बिस्मार्क की विजयों के बाद जर्मन साम्राज्य स्थापित हुआ था। इस साम्राज्य ने असाधारण प्रगति की थी जिसके बल पर विलियम द्वितीय ने 'विश्व राजनीति' (वेल्ट पालिटिक) करने की नीति में विश्वयुद्ध मोल लिया था और पराजित जर्मनी को पेरिस में पंगु बना दिया गया था। ऐसे में वस्तुस्थिति को स्वीकार कर पाना असंभव ही था।

जर्मन सेनापतियों ने वेर्साई की संधि को राजनीतिज्ञों का आत्मसमर्पण कहा था। पूरे जर्मनी में शायद ही कोई विभीषण रहा हो जिसने इस संधि को सहर्ष स्वीकार किया हो। इस संधि का अंत होना पूरे देश की मनोकामना थी। विलियम के पलायन के बाद वाइमार गणतंत्र की स्थापना हुई थी लेकिन प्रजातंत्र जर्मनी परंपरा नहीं था। आज्ञा देने या आज्ञा पालन करने का अभ्यस्त जर्मनी संसदीय व्यवस्था के लिए तत्काल तैयार नहीं था। एक नवजात प्रजातंत्र पर एक कठोर संधि के क्रियान्वयन और हर्जाना चुकाने की जिम्मेदारी थी। प्रजातंत्र के हिमायती पश्चिमी देशों ने इसे सहारा देने के बजाय शोषण किया। परिणाम यह हुआ कि युद्धोत्तर जर्मनी में स्थिरता नहीं आई। इस बीच स्ट्रेसेमान्न अकेला दूरदर्शी राजनेता हुआ लेकिन उसे समझौतावादी समझा जाता था। देश का एकमात्र सम्मानित व्यक्ति हिंडेनबर्ग बूढ़ा सैनिक था। कुल मिलाकर जर्मनी में राजनीतिक अस्थिरता, नेतृत्व का अभाव, भटकाव और हताशा का वातावरण था।

जर्मनी एक संपन्न देश है। एकीकरण के बाद जर्मनी भी फ्रांस और इंग्लैंड के लिए एक चुनौती बन गया। लेकिन वेर्साई संधि ने जर्मनी के लोहा, कोयला और उत्पादन का एक बड़ा अंश विजेताओं को सुपुर्द कर दिया था। अब उत्पादन के लिए कोई प्रोत्साहन

नहीं था। जर्मन मुद्रा का अवमूल्यन होता जा रहा था और स्थिति ऐसी आ गई कि विदेशी अपनी मुद्रा के कुछ सिक्के खर्च कर सारे देश का भ्रमण कर सकता था लेकिन जर्मन झोलों में अपनी मुद्रा भरकर भी पेट भर भोजन नहीं कर पाता था। जहां प्राकृतिक साधन भरपूर हों और जहां के लोग मेहनतकश तथा कुशल हों वहां का अर्थतंत्र ध्वस्त होने पर क्षोभ और निराशा बढ़ेगी ही। ई० एच० कार के अनुसार यह बात विजेताओं की समझ में बाद में आई कि जर्मनी की वित्तीय स्थिति जितनी बेहतर होगी वह अपने ऋण का उतनी ही आसानी से भुगतान कर सकेगा। लेकिन तब तक देर हो चुकी थी।

जर्मनी के सारे उपनिवेश छीन लिए गए थे। विजेताओं के उपनिवेश पहले की तरह ही समृद्धि का आधार बने हुए थे। जर्मनी की नौसेना ध्वस्त कर दी गई थी। उसे वायुसेना रखने की अनुमति नहीं थी। स्थल सेना एक लाख तक सीमित थी। किसी भी तरह की सैनिक तैयारी पर अंकुश था। हजारों वर्ग मील जर्मन भूमि दूसरे देशों को दे दी गई थी। लाखों जर्मन दूसरे देशों में अल्पसंख्यक बन गए थे। जर्मन भूमि को चीरता हुआ सा पोलैंड का गलियारा एक छुरे की तरह घुसा हुआ था। जर्मन भूमि पर विदेशी सेनाएं मौजूद थीं। उसे प्रारंभ में राष्ट्रसंघ का सदस्य भी नहीं बनाया गया। इस तरह जर्मनी एक कमजोर, महत्वहीन और अपमानित देश बना दिया गया। जर्मनी इसे कैसे और कब तक स्वीकार करता ?

ऐसी स्थिति में समाजवादियों का प्रभाव और सरकार पर दबाव बढ़ रहा था। उनकी ताकत से जर्मन उद्योगपति आतंकित थे। वे हर कीमत पर इसे समाप्त करना चाहते थे। जर्मनी हताश था और जर्मन लेखक स्पेंगलर की पुस्तक 'पश्चिमी जगत का पतन' (डिक्लाइन आफ दि वेस्ट) जर्मनी में मूर्त हो चला था।

हिटलर का प्रादुर्भाव : इस स्थिति को हिटलर ने चमत्कारी ढंग से बदल डाला। हिटलर का 1889 में आस्ट्रिया के एक साधारण परिवार में जन्म हुआ था। उसे न परिवार का स्नेह मिला न उचित लालन-पालन। वह वियेना के चित्रकला विद्यालय में प्रवेश चाहता था, लेकिन उसे प्रवेश नहीं मिला। उसके मित्र और सहयोगी मंत्री अलबर्ट स्पीअर ने लिखा है कि प्रवेश न पाने का उसके जीवन पर बहुत गहरा असर पड़ा। न परिवार से कुछ मिला, न समाज से उसने अपना पारिवारिक नाम बदलकर 'हिटलर' रख लिया। प्रथम महायुद्ध में वह एक सैनिक की हैसियत से पुरस्कृत भी हो चुका था। 1920 में म्यूनिख में फेडेर के साथ मिलकर उसने 'नेशनल सोशलिस्टजर्मन वर्कर्स पार्टी' का गठन किया और राष्ट्रीय निर्माण का एक 25 सूत्रीय कार्यक्रम बनाया। उसने खुलेआम वेर्साई संधि, फ्रांस, यहूदियों, पूंजीपतियों और वाइमार गणतंत्र पर प्रहार करना शुरू कर दिया। 1923 में लूडेनडार्फ के साथ उसने दुस्साहसपूर्ण ढंग से सत्ता पर अधिकार करने का प्रयास किया। यह प्रयास सफल नहीं हुआ और वह गिरफ्तार कर लिया गया। जेल में उसने अपनी आत्मकथा (माइन काम्फ) लिखी जो बाद में नात्सी पार्टी की बाइबिल बन गई। यह पुस्तक घृणा की भावना से ओतप्रोत थी और आग्नेय शब्दों,में जर्मनी के दुश्मनों को रेखांकित करती थी। रिहा होकर

उसने अपने दल का नए सिरे से संगठन किया। आर्यों की पवित्रता के सूचक 'स्वास्तिक' को प्रतीक रूप में ग्रहण कर सैनिक ढंग से पार्टी संगठित की गई। पार्टी के आतंककारी दल (एस० ए० स्टुटर्म आबटाइट्टुंगेन) और रक्षक दल (एस० एस० शुत्स स्टाफलेन) विरोधियों को तबाह करने और अपने दल का प्रचार-प्रसार करने में व्यस्त थे। उद्योगपति और सामंत, शूमन के अनुसार, अपनी समृद्धि और विशेषाधिकार के प्रति कम्युनिस्ट, समाजवाद, ट्रेड यूनियन और अन्य तत्वों द्वारा वास्तविक और काल्पनिक खतरे पैदा किए जाने के कारण इनकी मदद कर रहे थे।

धीरे धीरे असंतुष्ट वर्ग को हिटलर के राष्ट्रवादी समाजवाद में आशा की किरण दिखाई देने लगी। हिटलर की अद्‌भुत वक्तृता का जादुई असर होता था। उसके विरोधी पार्टी से हटा दिए गए और वह पार्टी में अपनी सत्ता और जर्मनी में पार्टी की सत्ता के लिए व्यस्त हो गया। पवित्र रोमन साम्राज्य और विस्मार्क द्वारा स्थापित साम्राज्य के गौरवशाली उत्तराधिकारी साम्राज्य (थर्ड राइख) की स्थापना ही उसका एक मात्र लक्ष्य बन गया। हिटलर मजदूरों को बहकाने में सफल नहीं हो सका लेकिन युवा वर्ग, जिसका भविष्य अनिश्चित था, उसके पीछे था। उसके यहूदी विरोधी रुख ने शिक्षा, व्यवसाय और अन्य पेशों में नई संभावना जगा दी। मध्यवर्ग साम्यवाद के व्यक्तिगत संपत्ति विरोधी सिद्धांत से घबड़ाकर उसके पीछे चला गया। जर्मन पार्लमेंट में भी उसके दल का महत्व बढ़ता जा रहा था। 1930 के चुनाव में पहले के 12 सदस्यों के स्थान पर 107 प्रतिनिधि चुने गए। राजनीतिक अस्थिरता देखकर 1932 में होने वाला राष्ट्रपति का चुनाव टालने की कोशिश हुई परंतु हिटलर ने इसका विरोध किया। अंत में चुनाव हुआ। एक मामूली व्यक्ति हिटलर बूढ़े मार्शल हिंडेबर्ग का प्रतिद्वंदी था। फिर भी हिंडेनबर्ग को स्पष्ट बहुमत नहीं मिला। दूसरे चुनाव में वह विजयी हुआ परंतु हिटलर को भी एक करोड़ चौंतीस लाख मत मिले यह आशीत सफलता थी।

प्रधानमंत्री ब्रूनिंग अध्यादेशों की मदद से कब तक शासन करता? उसने इस्तीफा दे दिया। पापेन ने दक्षिणपंथी सरकार बनाई और चुनाव कराया जिसमें नात्सी पार्टी को 230 सीटें मिलीं। इतनी सीटें किसी दल को नहीं प्राप्त हुई थीं। फिर भी हिटलर को मंत्रिमंडल नहीं बनाने दिया गया। संसद भंग कर दी गई। पुनः चुनाव में नात्सी पार्टी को सबसे अधिक स्थान मिले। राजनीति का ध्रुवीकरण प्रारंभ हो गया था क्योंकि कम्युनिस्ट पार्टी को भी सौ स्थान मिले थे। कोई दूसरा रास्ता न देखकर हिंडेनबर्ग ने हिटलर के समक्ष मिलीजुली सरकार बनाने का प्रस्ताव रखा जिसे हिटलर ने नामंजूर कर दिया क्योंकि वह सहयोग के विषय में आश्वस्त नहीं था। श्लाइशर को प्रधानमंत्री बनाया गया जिसने बाद में अपने को असमर्थ पाकर इस्तीफा दे दिया।

हिंडेनबर्ग कमजोर हो चुका था। हिटलर को 'राष्ट्रपति निवास' में आमंत्रित किया गया। नात्सी दल चुपचाप पूरी तैयारी के साथ इंतजार कर रहा था। 30 जनवरी 1933 को जब हिटलर राष्ट्रपति के महल से निकला तो वह चांसलर (प्रधानमंत्री) था। उसके लाखों समर्थकों ने अभूतपूर्व प्रदर्शन किया जिसके अनुशासन और साज-सज्जा से बर्लिन-वासी स्तब्ध रह गए। 'अस्वीकार, वसूली और पुनरुद्धार' के नारों के साथ नात्सी दल

और हिटलर सत्तारूढ़ हो गए। जर्मनी एक भयानक विभीषिका की ओर बढ़ चला।

हिटलर जैसा क्रूर, गंवार और असंस्कृत व्यक्ति दर्शन, साहित्य और संस्कृति की गौरवशाली परंपरा वाले देश जर्मनी में कैसे सफल हो सका?

प्रथम महायुद्ध में पराजय और विशेषकर वेर्साई की संधि ने जर्मनी को रोगी बना दिया था। जर्मन एकीकरण के पहले से ही राष्ट्रीय अहं को गुब्बारे की तरह फुलाया जा रहा था। 'सुपर मैन' की कल्पना 'सुपर नेशन' से जोड़ी जा रही थी। जर्मनी के सभी प्रमुख विचारक-फिक्टे, हेगेल, कांट, नीत्से, जर्मनी को सर्वशक्तिशाली और सर्वोच्च बनाने की दिशा में तैयार कर रहे थे। प्रशा के नेतृत्व में जर्मन एकीकरण ने इस क्रम को आगे ही बढ़ाया था। बिस्मार्क ने जर्मन राज्य नहीं जर्मन साम्राज्य की स्थापना की थी। तीव्र गति से आर्थिक प्रगति करने के बाद भी विश्व में प्रभुत्व स्थापित करने की दौड़ में जर्मनी पिछड़ गया था। 'विश्व राजनीतिक' करने के दावे के साथ विलियम द्वितीय ने पूंजीवादी देशों की आर्थिक होड़ को अनिवार्य युद्ध तक पहुंचा दिया था और युद्ध में जर्मनी को प्रारंभिक सफलता मिली थी। तभी पलड़ा पलट गया जर्मनी परास्त और अपमानित हुआ। युद्ध के बाद का जर्मनी इतिहास में पहली बार अपने को असहाय महसूस कर रहा था। एक जर्मन शिक्षक स्पेंगलर ने जब 'डिक्लाइन आव द वेस्ट' लिखा तो पाश्चात्य व्यवस्था के पतन के बहाने उसने जर्मनी के ही अनिवार्य पतन का चित्रण किया। जर्मन हताशा की यह प्रतिनिधि अभिव्यक्ति थी। ऐसे समय में जर्मनी को आशा और विश्वास की आवश्यकता थी। उसे ऐसा व्यक्ति, विचार और दल चाहिए था जो वर्तमान की अवज्ञा कर भविष्य के लिए आश्वस्त करता। हिटलर ने वर्तमान का वही चमत्कारी विकल्प प्रस्तुत किया।

जर्मन जाति आज्ञा देनी और आज्ञा का पालन करने की ही परंपरा का निर्वाह करना जानती थी। जर्मनी में किसी स्तर पर, परिवार से राज्य तक जनतांत्रिक मूल्य नहीं स्थापित हो पाए थे। 1919 के बाद प्रजातांत्रिक सरकार की स्थापना हुई तो वह अन्य परिस्थितियों के अलावा जर्मन मनोवृत्ति के कारण भी सफल नहीं हो पा रही थी। यदि जर्मनी में जनतंत्र का विकास हुआ होता तो नात्सीवाद वहां कभी नहीं पनप पाता। इटली में प्रजातंत्र के विकल्प के रूप में फासिज्म की सफलता जर्मनी को प्रेरणा दे रही थी। जो इटली में संभव हुआ था वह जर्मनी में भी हो सकता था।

जर्मनी का आर्थिक संकट असहनीय तो था ही उसका समाधान भी संभव नहीं लग रहा था। बेरोजगारी सबसे निकट की और सबसे भयावह समस्या थी। जर्मन मुद्रा 'मार्क' के अवमूल्यन ने तो अभी या कभी नहीं की स्थिति पैदा कर दी थी। ऐसे समय में कोई भी 'शार्टकट' स्वीकार्य होता हिटलर ने इसे प्रस्तुत किया।

अपनी आत्मकथा 'माइन काम्फ' में हिटलर ने घोर नक्सलवादी व्याख्या प्रस्तुत की थी जो मुख्य रूप से यहूदी विरोधी थी। यूरोप में ईसाई समाज के यहूदी विरोधी होने की परंपरा का आधार एक यहूदी 'जूडा' का ईसा मसीह के प्रति विश्वासघात था। लेकिन वास्तविक आधार अपनी संख्या के अनुपात में अत्यधिक महत्वपूर्ण होना था। ये सांस्कृतिक जीवन में महत्वपूर्ण तो थे ही उद्योग और बैंकिंग पर उनका असाधारण

प्रभुत्व था। यहूदी विरोध का मतलब था उनपर दबाव डालकर अपना स्थान छोड़ने के लिए मजबूर करना ताकि गैर यहूदी जर्मन लोग विश्वविद्यालयों, बाजारों और कारखानों में उनके द्वारा रिक्त किए गए स्थान प्राप्त कर लें। यहूदी विरोधी भावना के इस व्यावहारिक पक्ष को ही ध्यान में रखकर उसे राजनैतिक और वैचारिक जामा पहनाया जाता था। हिटलर के इस नारे में लोगों को तात्कालिक लाभ दिखाई दिया था और वे उसके पीछे आ खड़े हुए थे।

जर्मनी की तात्कालिक स्थिति का विकल्प साम्यवादियों के पास था और उनका आंदोलन तेजी से बढ़ रहा था इस कारण जर्मनी की सभी प्रतिक्रियावादी शक्तियां—पूंजीपति, जमींदार, और पादरी आदि आतंकित थे। वे किसी कीमत पर जर्मनी को साम्यवाद से मुक्त रखना चाहते थे। हिटलर ने जितना तीखा प्रहार यहूदियों पर किया था उतनी ही कड़ी आलोचना वह साम्यवाद की भी करता था। समाजवाद के विकल्प के रूप में ही उसने राष्ट्रीय समाजवाद का नारा दिया जो नात्सीवाद का ही दूसरा नाम था। इस काम में उसे धीरे धीरे सभी समाजवाद विरोधी ताकतों की मदद मिलती रही। किया नन्दा...

उपर्युक्त स्थितियों में हिटलर के व्यक्तित्व और क्षमता की भी एक भूमिका थी वह असाधारण वक्ता था और भीड़ को मनमाने ढंग से नचाने की क्षमता रखता था। साथ ही वह एक क्रूर संगठनकर्ता था और अपने लक्ष्य के मार्ग में आने वाली किसी भी शक्ति या व्यक्ति को रौंदता आगे बढ़ जाता था। कितनी ही बार उसने अपनी पार्टी का शुद्धीकरण (पर्ज) किया। जिसका अर्थ था उन व्यक्तियों की हत्या जिससे वह असंतुष्ट होता था। पूरी नात्सी पार्टी एक सैनिक आधार पर संगठित थी—वही अनुशासन, वही तौर-तरीके। तमाशों और 'कार्नीवाल' की प्रेमी जर्मन जनता हिटलर की सभाओं और प्रदर्शनों से अत्यंत प्रभावित होती थी क्योंकि सब कुछ इतना भव्य आडंबरपूर्ण और भड़कीला होता था कि वह हिटलर की शक्ति और योग्यता का प्रमाण बन जाता था। फिर भी जैसा कि गुंथर ने लिखा था, तानाशाहों में हिटलर सबसे कम संभ्रांत और सभ्य था। उसकी सफलता का रहस्य अन्य किसी विकल्प का अभाव था।

नात्सी जर्मनी : हिटलर, जिसे एकमात्र नेता (फ्यूरर) कहा जाने लगा था, हिंडेनबर्ग के मरने पर राष्ट्रपति भी बन गया। उसने चुनाव प्रणाली को इस तरह बदल डाला कि केवल नाजी ही चुने जा सकते थे। शासन में भी उन्हें स्थान मिलने लगा। राइखस्टाग की इमारत में उसने खुद आग लगवाई और इसका कम्युनिस्टों पर आरोप लगाकर उनका राजनीतिक जीवन समाप्त कर दिया गया।

हिटलर के दमन का दूसरा शिकार यहूदी हुए। वह शुरू से यहूदियों से घृणा करता था। यही हाल अधिकांश मध्यवर्गीय यूरोपियन लोगों का था जो संख्या के अनुपात में यहूदियों की भारी सफलता के कारण उनसे द्वेष करते थे। वे आपस में इस तरह रहते थे कि अपने देश के जनजीवन में पूरी तरह सम्मिलित होकर भी अपने को अलग रखे हुए थे। वे कंजूस और निर्मम समझे जाते थे। शेक्सपियर के नाटक 'मर्चेंट आफ वेनिस' का पात्र-शाइलाक, जो कर्ज वसूली के बदले कर्जदार का मांस तक मांग बैठता है, यहूदियों का प्रति-

निधि चरित्र समझा जाता है। यह यहूदी विरोधी भावना सदियों से मौजूद रही है और उनका यूरोप भर में दमन होता रहा। लेकिन हिटलर ने तो इसे राष्ट्रीय नीति ही बना डाला। पहले विश्वविद्यालयों और अन्य संस्थाओं से उन्हें निष्कासित किया गया और उनके व्यवसाय वहिष्कार को प्रोत्साहित किया गया। उनकी नागरिकता छीन ली गई। उनके विरुद्ध दंगे करवाकर उन्हें आतंकित कर दिया गया। यहूदी भारी संख्या में जर्मनी छोड़कर भागने लगे। उन्हीं में विश्वविख्यात वैज्ञानिक आइंसटाइन भी था। उन्हें गिरफ्तार किया जाने लगा और उनकी हत्या होने लगी। इस दौर में हिटलर के शासन-काल में 70 लाख से अधिक यहूदी, वच्चे-बूढ़े तक, गैस की भट्टियों में झोंक दिए गए। यहूदियों की यंत्रणा के कितने ही दस्तावेज सुरक्षित हैं लेकिन हालैंड के एक परिवार की वारह वर्षीय लड़की आन फ्रांक की डायरी सबसे मार्मिक दस्तावेज है। इतना अमानवीय कुकृत्य इतिहास में कभी नहीं हुआ। जब राष्ट्रवादिता का ज्वर पूंजीवाद के कीटाणुओं के कारण फैलता है तो पूरे देश को सन्निपात हो जाता है और बहुत से अनर्थ होते हैं।

नात्सी कार्यक्रम 'ऊपर से सत्ता नीचे से विश्वास' पर आधारित था। पूरा अर्थतंत्र युद्ध स्तर पर चालू हुआ। यहूदियों से स्पर्द्धा समाप्त हो जाने पर क्रुप्स और थाइसन जैसे उद्योगपति परिवारों ने नात्सियों का साथ देकर खूब लाभ उठाया। युद्ध संबंधी उद्योग ने बहुतों को रोजगार दिया। नियंत्रित अर्थव्यवस्था में आयात-निर्यात इस तरह नियोजित किया गया कि कुछ दिनों के लिए आर्थिक संकट दूर होता प्रतीत हुआ। प्रथम महायुद्ध जर्मनी की भूमि पर नहीं लड़ा गया था। इसलिए वहां भौतिक विनाश नहीं हुआ था। लैंगसम के अनुसार तीन 'सी' (केमिस्ट, कोल और कार्टेल) ने जर्मनी का कायाकल्प कर दिया। कोयला था ही, रसायनशास्त्रियों ने पेट्रोल को छोड़ कर वे चीजें भी वना लीं, जो जर्मनी में उपलब्ध नहीं थीं और चुनौती स्वीकार करना तो जर्मनी का स्वभाव ही है। हिटलर के शासन के पहले तीन वर्षों में ही निर्यात व्यापार आयात से 55 करोड़ मार्क (जर्मन मुद्रा) बढ़ गया। गोरिंग के नेतृत्व में एक चार वर्षीय योजना बनी और जर्मनी को पूरी तरह आत्मनिर्भर बनाने का संकल्प लिया गया। जर्मनी यूरोप की सबसे बड़ी औद्योगिक शक्ति बन गया, लेकिन यह सब उथले स्तर पर हुआ था। वह विजयोन्मुख सेना को तो संभाल सकता था, लेकिन पराजय झेलना उसके लिए संभव नहीं था। क्योंकि उसकी नींव कृषि, उद्योग और व्यवसाय की व्यापक और नैसर्गिक प्रगति पर नहीं वल्कि एक आक्रामक और उग्र नस्लवादी अधिनायक की आवश्यकताओं पर स्थापित थी।

शिक्षा, धर्म और संस्कृति पर भी नात्सी आवरण चढ़ा दिया गया। हर संस्था का उपयोग समाज को नात्सी सांचे में ढालने के लिए किया जाने लगा। कुछ नई संस्थाएं इसी उद्देश्य से बनाई गईं। हर उम्र के लिए अलग संस्था थी जो नात्सी सिद्धांतों के सहारे जर्मन जनता को 'शासक जाति' बनाने के लिए प्रयत्नशील थी। इतिहास, दर्शन और कला सबको उग्र राष्ट्रवादी रंग दिया जा रहा था। हिटलर के वारह वर्षीय साम्राज्य में जर्मन साहित्य और कला का जो विकृत रूप प्रस्तुत हुआ उससे आज भी जर्मन जनता की प्रतिष्ठा धूल धूसरित होती है।

परराष्ट्र नीति : विदेशों से संबंध के मामले में हिटलर ने शुरू में बड़ी सावधानी बरती। सत्ता पर अधिकार होते ही उसने जर्मनी को राष्ट्रसंघ, निरस्त्रीकरण सम्मेलन और श्रम संगठन से अलग कर लिया था। उसने घोषणा कर दी कि जर्मनी किसी अन्य देश से निम्न स्तर नहीं स्वीकार कर सकता। उसने तत्काल जर्मनी का शस्त्रीकरण शुरू कर दिया। पश्चिम में सामना करने के लिए पूरब में पोलैंड से 10 वर्षों के लिए अनाक्रमण संधि कर ली।

पहले उसने राइन प्रदेश से विदेशी सेना हटाई और फिर आस्ट्रिया को हड़पने की योजना शुरू हुई। मुसोलिनी के विरोध और नात्सी प्रभाव की कमी से फिलहाल यह योजना पूरी नहीं हुई, लेकिन धीरे धीरे डांजिग और मेमेल क्षेत्रों पर नात्सी पार्टियों का पूरी तरह नियंत्रण हो गया। प्रारंभिक शंकाओं के बाद हिटलर और मुसोलिनी चोर चोर मौसेरे भाई की तरह निकट आ गए। अब हिटलर ने आस्ट्रिया में नात्सी प्रचार बढ़ाया। उसने प्रधानमंत्री डालफस को पदत्याग करने पर मजबूर किया और नात्सी दल को सत्तारूढ़ किया। अंत में आस्ट्रिया का जर्मनी में विलय हो गया।

एक तरफ उसने जर्मनी के संतुष्ट हो जाने की बात की और दूसरी ओर चेकोस्लोवाकिया के जर्मन बहुल प्रांत सुडेटेनलैंड में नात्सी गतिविधि बढ़ा दी। वहां चेक जाति की प्रमुखता पर पक्षपात का आरोप लगाकर उसने सुडेटेनलैंड को हड़पने की तैयारी पूरी कर ली। स्थिति बिगड़ते देखकर ब्रिटिश प्रधानमंत्री चेंबरलेन ने हस्तक्षेप किया। लेकिन म्यूनिख में इंग्लैंड और फ्रांस ने सूडेटेनलैंड हिटलर को सुपुर्द कर दिया। किसी भी कीमत पर संतुष्ट करने की यह नीति (अपीजमेंट पालिसी) बहुत घातक सिद्ध हुई। कुछ ही दिनों बाद हिटलर संपूर्ण चेकोस्लोवाकिया को हड़प गया। मध्य यूरोप में उसका लक्ष्य पूरा हो चला था। अब पूरब में विस्तार होना था और इस विस्तार में रूस पर आक्रमण भी शामिल था। लेकिन फिलहाल वह पश्चिम में सामना करना चाहता था। इसलिए पश्चिम से निराश होकर जब रूस ने जर्मनी से सुरक्षा समझौता करना चाहा तो हिटलर तैयार हो गया और एक संधि हो गई।

जब हिटलर ने अपने नुस्खों के सहारे पोलैंड पर भी आक्रमण कर दिया तो अंत में फ्रांस, इंग्लैंड आदि ने हस्तक्षेप किया और द्वितीय विश्वयुद्ध छिड़ गया। इस महायुद्ध में हिटलर का तंत्र लड़खड़ा गया और प्रारंभ की आशातीत सफलता के बाद मित्र देशों की शक्ति के सामने जर्मनी पराजित होने लगा। 1945 में जब विजयी सेनाएं बर्लिन पहुंची तब तक अपने बंकर में हिटलर आत्महत्या कर चुका था।

मूल्यांकन : हिटलर और उसका तंत्र नृशंसता के निकृष्टतम उदाहरण हैं। आज जर्मनी में उसकी कोई स्मृति नहीं है परंतु एक पीढ़ी पहले ही संपूर्ण जर्मनी उसके पीछे मानो पागल था। लेकिन तब भी फ्रीडरीख के अनुसार विरोध का स्वर एकदम बंद नहीं किया जा सकता था। अलबर्ट स्पीअर के अनुसार उसके सहयोगी भी कभी कभी विरोध करते थे। लेकिन सेना और जासूस पुलिस (गेस्टेपो) की मदद से हिटलर अपने ढंग से अपनी योजनाएं क्रियान्वित करता था। गोबेल्स का विश्वास था, 'झूठ को इतना दुहराओ कि वह सच लगे।' इसके प्रचारतंत्र के सहारे हिटलर ने अपनी सफलताओं और ऐतिहासिक

भूमिका को इस तरह प्रचारित कराया कि जर्मन लोग अपनी जाति की सर्वोच्चता के विषय में आश्वस्त हो गए। इतिहासकार अलेन बुलौक ने सच ही लिखा है : 'हिटलर का एकमात्र कार्यक्रम था सत्ता, पहले जर्मनी में अपनी सत्ता फिर जर्मन सत्ता का यूरोप में विस्तार। शेष तो बस सजावट थी। (हिटलर हैड ओन्ली वन प्रोग्राम-पावर फर्स्ट हिज ओन पावर इन जर्मनी ऐंड देन एक्सपैन्शन आफ जर्मन पावर इन यूरोप रेस्ट वाज विंडो ड्रेसिंग)।

हिटलर मानसिक रोगी था। उसे एक रोगी समाज ही सत्ता दे सकता था। जर्मन आदर्शवाद और राष्ट्रवाद विकृत होकर नस्लवाद बन चुका था। औद्योगिक तथा औपनिवेशिक दौड़ में पिछड़ जाने पर विलियम ने विश्व राजनीति का जो दौर शुरू किया था उसे ही पूरा करने का काम हिटलर ने भी किया। वह व्यक्ति ही नहीं, एक प्रवृत्ति भी था।

इतिहासकार बर्न्स के अनुसार नात्सीवाद फासिज्म से अधिक उतावला और कट्टर था। न केवल अपने मताग्रह और कर्मकांडों में बल्कि अपनी भयानक असहिष्णुता और विस्तार के उत्साह में भी यह वाद एक धर्म की तरह था। हिटलर इस नए धर्म का पोप तो बन बैठा था लेकिन वह और उसका तंत्र इतिहास के सहज विकास के मार्ग में अवरोध थे। यह पूंजीवादी विस्तार का अंतर्विरोध ही था जिसने हिटलर जैसा विनाशकारी व्यक्ति पैदा किया था। नात्सीवाद और हिटलर के प्रादुर्भाव की जिम्मेदारी से पाश्चात्य सभ्यता कभी नहीं बच सकती। एक-दो व्यक्तियों या गलतियों को या हिटलर के चरित्र को रेखांकित करने मात्र से इतिहास की सही समझ नहीं बन सकेगी। हिटलर और नात्सीवाद के बीज आधुनिक यूरोप के आर्थिक राजनीतिक विकास में ही विद्यमान थे।

16

महायुद्धों के बीच शांति के प्रयास

पेरिस की संधियां आपसी सहकार का परिणाम न होकर उन निर्णयों के समान थीं जिन्हें विजेताओं ने पराजित देशों को कटघरे में खड़ा करके उन पर थोप दिया था। इन संधियों के आधार पर स्थाई शांति की अपेक्षा नहीं की जा सकती थी। इसीलिए तो कहा गया था : युद्धों का अंत करने वाला युद्ध समाप्त हो गया। अब शुरू होती है शांति का अंत करने वाली शांति। फ्रांसीसी मार्शल फाश ने तो संधि होते ही कह दिया था कि यह बीस वर्षों के लिए युद्धस्थगन समझौता मात्र है। और दरअसल 20 वर्षों के बाद ही 1939 में द्वितीय विश्वयुद्ध शुरू हुआ।

राष्ट्रसंघ बनने के बावजूद शांति के लिए अतिरिक्त प्रयास करने की आवश्यकता समझी जा रही थी। इसके लिए एक तरफ शांति और सामूहिक सुरक्षा के लिए विभिन्न देशों द्वारा अलग अलग और मिलकर भी प्रयास किए जा रहे थे तथा दूसरी ओर निरस्त्रीकरण को आवश्यक समझा जा रहा था। इन प्रयासों की समीक्षा करने पर स्पष्ट हो जाएगा कि ये कितने सतही थे और वास्तव में सभी देश केवल अपनी ही सुरक्षा को लेकर चिंतित थे। ऐसे देशों में फ्रांस अग्रणी था।

सामूहिक सुरक्षा

आधुनिक युग की यह अनिवार्यता है कि राज्यों के बीच के संबंधों और इनकी बढ़ती जटिलता के कारण विभिन्न क्षेत्रों में विभिन्न स्तरों पर सामूहिक कार्यों का महत्व समझा जा रहा है। सुरक्षा के क्षेत्र में भी यह स्पष्ट है कि किसी महाशक्ति के अलावा कोई राज्य न केवल अकेले अपनी सुरक्षा कर पाने में समर्थ नहीं है बल्कि उसका अकेले रहना भी अब असंभव होता जा रहा है। प्रथम महायुद्ध के बाद की स्थितियों में सामूहिक सुरक्षा पर इस आधार पर बल दिया गया कि तमाम सार्वभौम राज्य शांति और सुरक्षा तथा आक्रमण के विरुद्ध स्वत: स्वीकृत उत्तरदायित्व का निर्वाह करें। आक्रामक के विरुद्ध सामूहिक दबाव की कार्रवाई की जाए। इस प्रकार राज्यों के बीच एकता और उनके बीच सामान्य शांति को बार बार रेखांकित किया गया। 'एक सबके लिए और सब एक के लिए' (वन फार आल ऐंड आल फार वन) के सिद्धांत को न केवल स्वीकार किया गया बल्कि उसका प्रचार-प्रसार भी किया गया। राष्ट्रसंघ के निर्माण में इसे औपचारिक और संस्थागत स्वरूप प्रदान कर दिया गया।

राष्ट्रसंघ की धाराओं (11वीं से 15वीं) ने सामूहिक सुरक्षा और अंतर्राष्ट्रीय

विवादों में सामूहिक भूमिका का प्रावधान किया। 16वीं धारा ने इस सिद्धांत के अनुसार एक वैधानिक धारा प्रस्तुत की कि यदि कोई देश युद्ध की स्थिति पैदा करता है तो अन्य देश सामूहिक रूप से उसका प्रतिकार करेंगे। यह प्रतिकार कैसा होगा न तो यह स्पष्ट था न ही उसे कारगर बनाने के वैधानिक और व्यावहारिक आधार थे। इन्हें लागू करने की स्थिति के बारे में स्पष्टता के अभाव और कार्यान्वयन के उपकरणों (सेना आदि) के न होने से राष्ट्रसंघ के तत्वावधान में सामूहिक सुरक्षा का सिद्धांत पूरी तरह चरितार्थ न हो सका।

सुरक्षा के लिए सबसे अधिक बेचैन और प्रयासरत फ्रांस था। फ्रांस 1870 और 1915 के बीच पैंतालिस वर्षों में दो बार जर्मनी द्वारा रौंदा जा चुका था। कहते हैं, फ्रांसीसी प्रधानमंत्री क्लमांसो अपने घर की उत्तर-पूर्व की खिड़कियां बंद रखता था। उसे जर्मन हमले का आतंक हर क्षण ग्रस्त किए रहता था। पेरिस संधियों के दौरान ही फ्रांस ने इंग्लैंड और अमेरिका से अलग अलग गारंटी ली थी कि जर्मन संकट के समय परस्पर सहयोग प्राप्त हो सके। ई० एच० कार ने 1919 के बाद के वर्षों में फ्रांस की सुरक्षा की लगातार मांग को इस काल का सबसे महत्वपूर्ण और निर्णायक तत्व कहा है। इसीलिए पेरिस में फ्रांस ने अपने लिए राइन नदी की सीमा का प्रस्ताव किया था ताकि उसे भौगोलिक सुरक्षा प्राप्त हो जाए। लेकिन यह मांग स्वीकार नहीं हो सकी थी। समझौते के अनुसार राइन के तट पर पंद्रह वर्षों के लिए मित्र राष्ट्रों की सेनाएं रखने का प्रबंध किया गया था।

पहले तो फ्रांस इंग्लैंड के खुले या गुप्त सहयोग के लिए प्रयास करता रहा लेकिन इंग्लैंड और फ्रांस के हित आपस में इस तरह टकराते थे कि कोई स्थाई सहयोग या संधि संभव नहीं थी। हारकर फ्रांस ने छोटे देशों से ही संधि का सिलसिला शुरू कर दिया। 1920 में फ्रांस और बेल्जियम में एक संधि हुई जो अंशतः गुप्त रखी गई। इसके द्वारा सुरक्षा की दृष्टि से दोनों देशों में अत्यंत निकट संबंध स्थापित हो गया। लेकिन बेल्जियम तो एक छोटा सा देश है। पूरब में पोलैंड से पुरानी मित्रता थी और फ्रांस ने रूस के विरुद्ध उसकी मदद भी की थी। 1921 में फ्रांस और पोलैंड के बीच राजनीतिक दृष्टि से खुली और सैनिक दृष्टि से गुप्त संधि हो गई। इसी समय चेकोस्लोवाकिया, यूगोस्लाविया और रूमानिया के साथ जर्मन आक्रमण के विरुद्ध फ्रांस ने एक 'लघु मैत्री संघ' (लिटिल आंतांत) बना लिया। इसे धीरे धीरे सैनिक संघ में भी बदल दिया गया। ये प्रयत्न कितने खोखले और हास्यास्पद थे यह 1933 में सिद्ध हो गया जब फ्रांस हिटलर की बंदरघुड़की के सामने भी झुक गया।

जेनेवा प्रोटोकाल : राष्ट्रीय स्तर के प्रयत्नों को फ्रांस भी अपर्याप्त समझता था इस लिए राष्ट्रसंघ के तत्वावधान में भी प्रयत्न जरूरी समझा गया। निरस्त्रीकरण के पहले फ्रांस सुरक्षा की एक सामूहिक गारंटी चाहता था। राष्ट्रसंघ की एसेंबली में जब यह प्रश्न उठा तो एक आयोग संगठित कर दिया गया जिसे परस्पर सहयोग संधि का प्रारूप तैयार करने को कहा गया। आयोग द्वारा प्रस्तुत सुझावों का सार था :

1. 'आक्रमण की स्थिति' का निर्णय काउंसिल करे।

2. संधिकर्ताओं में से किसी पर हमला होने पर सब सहयोग करें।

3. काउंसिल द्वारा निर्धारित निरस्त्रीकरण का दो वर्षों के भीतर पालन न करने वाले देश को पारस्परिक सहयोग न प्राप्त हो।

राष्ट्रसंघ की एसेंबली ने 1923 में इस प्रारूप को स्वीकार कर लिया। लेकिन अमेरिका की अनुपस्थिति और ब्रिटेन की अस्वीकृति से यह निरर्थक हो गया। दूसरे वर्ष ब्रिटिश प्रधानमंत्री मैकडानल्ड और फ्रांसीसी प्रधानमंत्री एरिओ स्वयं जेनेवा आए और अंतर्राष्ट्रीय विवादों के शांतिपूर्ण हल का मसविदा (जेनेवा प्रोटोकाल) स्वीकृत हो गया। इसमें निम्नलिखित प्रस्ताव शामिल थे :

1. देशों के बीच वैधानिक विवादों को अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय और राजनीतिक विवादों को परिषद में अनिवार्यतः भेजा जाए।

2. युद्ध को अपराध घोषित किया जाए।

3. किसी विवाद पर विचार के समय सैनिक तैयारी वर्जित हो।

4. विवादों के उपर्युक्त हल न ढूंढ़ने वाले देश को आक्रमणकारी माना जाए।

5. युद्ध में खर्च की जिम्मेदारी आक्रमणकर्ता पर होगी।

6. आक्रमणकर्ता के विरुद्ध राष्ट्रसंघ की 16वीं धारा के अंतर्गत कार्रवाई होगी।

7. राष्ट्रसंघ के निरस्त्रीकरण संबंधी निर्णय सर्वमान्य होंगे।

इन आदर्शवादी सिद्धांतों का ब्रिटेन ने लेबरदल की सरकार के पतन होते ही मानने से इंकार कर दिया। औरों को भी एतराज था। कैनेडा के प्रतिनिधि ने कहा : 'जब हम ऐसे मकान में रहते हैं जिसमें आग लग ही नहीं सकती तो आग के विरुद्ध बीमा करवाने से क्या फायदा होगा ?' ऐसी स्थिति में लागू होने से पहले ही यह समझौता बेकार हो गया। इससे यह अवश्य स्पष्ट हुआ कि एक ओर फ्रांस सामूहिक सुरक्षा की निरर्थक बातों के लिए भी तैयार है तथा दूसरी ओर ब्रिटेन अपने औपनिवेशिक और व्यावहारिक हितों के आगे किसी भी आदर्श को आने नहीं देगा।

लोकार्नो संधियां

1919 के बाद जर्मनी में फ्रांस के प्रति घृणा और अविश्वास तो स्वाभाविक था, लेकिन फ्रांस भी, जर्मनी के पंगु होने के बावजूद, आश्वस्त नहीं था। मित्रों की तलाश में उसने यूगोस्लाविया, रूमानिआ और चेकास्लोवाकिया के साथ संधि कर एक छोटा गुट (लिटिल आंतांत) बना लिया था। लेकिन उसे अच्छी तरह पता था कि संकट की घड़ी में ये देश मदद नहीं कर पाएंगे। जर्मनी ने पचास वर्षों में दो बार फ्रांस को रौंदा था। इसकी पुनरावृत्ति की आशंका की अब कल्पना मात्र से फ्रांसीसी राजनेता आक्रांत थे।

प्रथम महायुद्ध के दौरान ही लेनिन ने जर्मनी से समझौता करके रूस को युद्ध से अलग कर लिया था। 1921 तक रूस और जर्मनी के बीच रापाल्लो की संधि हो गई। पश्चिमी देश अब जर्मन सैनिकीकरण से अधिक रूस में सफल हो रहे समाजवाद से चिंतित थे। रूस और जर्मनी में हुई संधि से फ्रांस सबसे अधिक घबराया हुआ था। उसने जर्मनी के प्रति कड़ा रवैया अपनाना शुरू किया। जर्मनी ने तनाव कम करने के लिए एक पीढ़ी

तक युद्ध न करने के समझौते का प्रस्ताव किया लेकिन फ्रांस ने फिलहाल इसे मानने से इंकार कर दिया।

जेनेवा प्रोटोकाल के असफल होने के बाद फ्रांस को ऐसा लगा कि जर्मनी के प्रति लगातार कड़ा रवैया अपनाने से उसका कोई लाभ नहीं हो रहा है। उधर जर्मन विदेश मंत्री स्ट्रेसेमान्न भी समझौते की नीति का समर्थक था। ब्रिटेन में स्थापित लेबर पार्टी की सरकार भी तनाव कम करने की पक्षधर थी। ऐसे माहौल में स्ट्रेसेमान्न ने जनवरी 1925 में प्रस्ताव किया कि फ्रांस, जर्मनी, इंग्लैंड और इटली मिलकर 'राइन लैंड पैक्ट' के द्वारा फ्रांस तथा जर्मनी के बीच की सीमा की गारंटी दें। फ्रांस ने देखा कि पहली बार जर्मनी स्वेच्छा से अलसास और लोरेन की क्षति को स्वीकार करने को तत्पर है। उसने अपने संधि मित्रों पोलैंड, बेल्जियम और चेकोस्लोवाकिया को भी वार्ता में शामिल करने का आग्रह किया।

इस प्रकार सात देशों—फ्रांस, जर्मनी, इंग्लैंड, इटली, बेल्जियम, चेकोस्लोवाकिया और पोलैंड के प्रतिनिधि, स्विटजरलैंड के नगर लोकार्नो में अत्यंत सौहार्द्रपूर्ण वातावरण में मिले। वार्ताओं के बाद सात समझौते हुए। उनके अनुसार :

राइन लैंड पैक्ट : इसके अनुसार (1) जर्मनी, बेल्जियम और फ्रांस ने युद्ध के स्थान पर शांतिपूर्ण तरीकों से आपसी विवादों को तय करने का निश्चय किया।

2. वेर्साई संधि द्वारा निर्धारित फ्रांस और जर्मनी तथा बेल्जियम और जर्मनी के बीच की सीमाओं की गारंटी दी गई और राइन क्षेत्र का असैनिकीकरण कर दिया गया।

3. इन समझौतों के उल्लंघन के मामले राष्ट्रसंघ की कौंसिल को सुपुर्द करना तय हुआ।

4. किसी आक्रमण के समय गारंटी देने वाले राज्यों के लिए तत्काल क्रियाशील होने का प्रावधान हुआ।

मध्यस्थता संधियां : जर्मनी ने पोलैंड और चेकोस्लोवाकिया के साथ अपनी सीमाओं के संबंध में संधियां कीं और विवाद पैदा होने पर एक 'स्थायी समझौता कमीशन' को निर्णय का अधिकार दिया गया फिर भी निर्णय न होने पर मामला अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय को सुपुर्द किया जा सकता था।

गारंटी संधियां : इनके अनुसार फ्रांस ने पोलैंड और चेकोस्लोवाकिया के साथ यह निश्चय किया कि आक्रमण के समय वे परस्पर एक दूसरे की मदद करेंगे।

मध्यस्थता कन्वेंशन : इसके अनुसार जर्मनी ने बेल्जियम और चेकोस्लोवाकिया के साथ विवादों को मध्यस्थता द्वारा तय करने का निर्णय लिया।

इन समझौतों ने पहली बार जर्मनी विरोधी भावना को समाप्त किया और ई०एच० कार के अनुसार बड़ी शक्तियों के परिवार में जर्मनी के प्रवेश की पृष्ठभूमि तैयार की। जर्मनी ने अलसास लोरेन पर और फ्रांस ने राइन क्षेत्र पर अधिकार की संभावना का परित्याग कर दिया। इन समझौतों ने पहली बार पेरिस संधियों में परिवर्तन की जर्मन

आकाक्षा और फ्रांस की सुरक्षा और यथास्थिति की आकांक्षा के बीच एक संतुलन पैदा करने की कोशिश की।

सीमाएं स्वीकृत हो जाने से भय और शंका का वातावरण समाप्त होने लगा और 1926 तक ये समझौते लागू हो गए। प्रतिशोध और प्रतिहिंसा की नीति का अंत होता दिखाई पड़ा। जर्मनी राष्ट्रसंघ का सदस्य बना लिया गया। सामान्य निरस्त्रीकरण भी संभव दिखाई पड़ने लगा। कटुता इतनी आसानी से दूर हो सकती है यह अविश्वसनीय था। लोकार्नो भावना एक उत्साहवर्धक मुहावरा बन गया। ब्रिआं और स्ट्रेसेमान्न को नोबेल शांति पुरस्कार से सम्मानित किया गया।

यह वातावरण भ्रामक था। जैसाकि डेविड टामसन कहता है इन समझौतों का अर्थ खतरनाक और आश्वस्तकारी दोनों ही हो सकता था। ई० एच० कार तो यह भी कहता है कि अंततोगत्वा इन समझौतों ने वेर्साई संधि के साथ राष्ट्रसंघ को भी समाप्त कर दिया। सबसे बड़ा दोष तो यह था कि जर्मनी की पूर्वी सीमाओं के बारे में कोई निर्णय नहीं लिया गया और ब्रिटेन द्वारा उनके संबंध में कोई गारंटी न देने से सामूहिक सुरक्षा का सिद्धांत ध्वस्त हो गया। एल्सास और लोरेन की आशा जर्मनी ने छोड़ दी थी लेकिन यूपेन, मालमेदी, डान्त्सिग, पोलैंड का गलियारा और उत्तरी साइलेशिया के मामले बाकी थे। क्लमांसो ने स्वीकार किया था कि 'ये समझौते भ्रामक हैं' और लोकार्नो भावना फ्रांस की सुरक्षा के लिए खतरनाक सिद्ध हो सकती है। वास्तव में ये समझौते केवल जर्मनी के हित में सिद्ध हुए। फ्रांस ने जो संधि-व्यवस्था शुरू की थी वह इससे कमजोर हुई। निरस्त्रीकरण की दिशा में यहां कुछ भी नहीं किया गया। राष्ट्रसंघ के बाहर किए गए समझौते ने उसे कमजोर ही बनाया।

ब्रिटिश प्रधानमंत्री चैम्बरलैन इनसे इतना प्रभावित हुआ था कि उसने इन्हें 'युद्ध और शान्ति की विभाजक रेखा' करार दिया था। ब्रिआं ने इनमें 'नए युग का प्रारंभ' देखा। स्ट्रेसेमान्स को लगा कि अब राष्ट्रीय नागरिकता के स्थान पर 'उदात्त यूरोपीय नागरिकता' संभव हो सकेगी। बड़े उत्साह से सभी शांति के नए युग का स्वागत करने में खो सा गए। इसे मासूमियत कहा जाए या मूर्खता कि पूरब में सब कुछ अनिश्चित छोड़ कर बिना रूस की सहभागिता के पश्चिमी देश आश्वस्त हो रहे थे। बिना रूस के शामिल हुए यूरोप में कोई भी समझौता स्थाई और निरापद नहीं हो सकता था। इसलिए गाथार्न हार्डी का यह मत सही लगता है कि ये संधियां युद्ध को दूर रखने वाली एक प्रभावशाली और भयानक बिजूखा (मोस्ट इफेक्टिव ऐंड फार्मिडेबुल लुकिंग स्केअर क्रो) मात्र थीं। परिस्थितिवश क्षणिक सद्भावना भले ही पैदा हो गई हो लोकार्नो से हिटलर तक पहुंचने में केवल सात वर्ष लगे।

पेरिस समझौता : लोकार्नो के बाद जर्मन लोग वेर्साई संधि में संशोधन की आशा करने लगे थे और उधर फ्रांस में समझा जा रहा था कि अब जर्मनी ने वेर्साई को सहर्ष स्वीकार कर लिया है। दोनों का मोहभंग होना था। युद्ध नीति का अंत हुए बिना कोई भी सुरक्षित नहीं महसूस कर रहा था। इस संबंध में विभिन्न देशों में योजनायें बन रही थीं। 1927 में राष्ट्रसंघ की एसेंबली में पोलैंड ने युद्ध निषेध का प्रस्ताव रखा जो पारित

हो गया। अमेरिका में युद्ध को समाप्त करने का आंदोलन चल रहा था। फ्रांस के विदेश मंत्री ब्रिआं ने अमरीकी जनता को एक खुले पत्र में युद्ध निषेध के विषय में लिखा। शीघ्र अमेरिकी विदेशमंत्री केलाग ने फ्रांसीसी विदेशमंत्री ब्रिआं के समक्ष एक बहुपक्षीय समझौते का प्रस्ताव रखा। पत्राचार के बाद अगस्त 1927 में पेरिस में अमेरिका, फ्रांस, ब्रिटेन, जर्मनी, इटली, जापान, पोलैंड, बेल्जियम और चेकोस्लोवाकिया के प्रतिनिधियों ने समझौते पर हस्ताक्षर किए जिसका मूल स्वर था : युद्ध को राष्ट्रीय नीति का उपकरण बनाने की नीति का परित्याग। (रिननशिएसन आफ वार ऐज ऐन इन्स्ट्रूमेंट आफ नेशनल पालिसी)

केलाग-ब्रिआं समझौते के नाम से भी प्रख्यात इस समझौते के अनुसार आत्मरक्षा के अलावा किसी भी हालत में युद्ध को वर्जित माना गया। कुछ ही हफ्तों में इसे तीस देशों ने स्वीकार कर लिया। रूस और अमेरिका भी पहली बार एक साथ शामिल हुए। इसे मानने वालों की संख्या राष्ट्रसंघ के सदस्यों से भी बढ़ गई। नैतिक दृष्टि से यह महान घटना थी। इतिहास में पहली बार युद्ध को एक अपराध घोषित किया गया। इसे विवेक की पराकाष्ठा समझा जा सकता था लेकिन वास्तव में यह तत्कालीन बचकानी राजनीति का उदाहरण था। युद्ध आत्मरक्षा में हो सकते थे लेकिन यह आत्मरक्षा ब्रिटेन के लिए उपनिवेशों की और मानरो सिद्धांत के अंतर्गत अमेरिका के लिए पूरे लातिन अमेरिका की रक्षा भी थी। इस तरह आत्मरक्षा विभिन्न देशों के विशेष हितों के अनुसार परिभाषित होती थी। कोई भी युद्ध आत्मरक्षा में किया गया सिद्ध हो सकता था, फिर किस युद्ध पर निषेध था ?

जब तक युद्ध के कारण महाशक्तियों की आधिपत्य की महत्वाकांक्षा, उपनिवेश, शोषण, गरीबी, असमानता और नस्लवाद हैं तब तक युद्ध कैसे समाप्त होता या हो सकता है ? नैतिक घोषणाओं से ही दुनिया बदल सकती तो एक ही अवतार और कुछ परी-पैगंबर इसके लिए काफी नहीं थे क्या ?

केलाग को शांति का नोबेल पुरस्कार दिया गया था लेकिन दो ही वर्षों में आर्थिक संकट आया और वह दूर भी नहीं हुआ कि इटली और जर्मनी के तानाशाहों ने खुलेआम युद्ध छेड़ दिया।

निरस्त्रीकरण

ज्यों ज्यों अस्त्र-शस्त्र घातक और भयावह होते गए हैं त्यों-त्यों उनपर नियंत्रण के बारे में गंभीरता से सोचना अनिवार्य होता गया है। प्रथम महायुद्ध में विनाश के विकराल स्वरूप को देखकर ही विल्सन ने अपने चौदह सिद्धांतों में निरस्त्रीकरण शामिल किया था। पेरिस संधियों के द्वारा पराजित देशों में निरस्त्रीकरण करने के बाद सामान्य निरस्त्रीकरण की दिशा में कदम उठाने की बात थी। लेकिन फ्रांस इस बात पर जोर देता रहा कि बिना राष्ट्रीय सुरक्षा की गारंटी के निरस्त्रीकरण संभव नहीं है। फिर भी इस दिशा में कुछ प्रयास हुए।

प्रथम महायुद्ध के बाद निरस्त्रीकरण के लिए किए गए प्रयासों में एक ऐसा नौसिखु-

आपन था जिसे 'अमेचरिस' कहकर सार्वेल ने उस पर व्यंग्य किया है। निरस्त्रीकरण क्या है? इसे स्पष्ट करते हुए कोहेन ने लिखा है कि यह ऐसी प्रक्रिया है जो ऐसी स्थितियां पैदा करती हैं जिनके कारण राष्ट्रों के लिए शांति भंग करना और उनके लिए खतरा पैदा करना असंभव हो जाता है न कि एक मोल-तोल की प्रक्रिया जो युद्ध तैयारी का खर्चा कम कर सके (ए प्रासेस आफ क्रिएटिंग कंडीशंश्व्हिच मेक इट डिफिकल्ट आर इंपासिबुल फार नेशंस टू ब्रेक आर इनडेंजर.पीस ऐंड नाट ए बारगेनिंग प्रासेस टू रिड्यूस दि कास्ट आफ प्रीपेयरिंग फार वार) कोहेन ने निश्चित ही प्रथम महायुद्ध के बाद निरस्त्रीकरण के लिए किए गए प्रयासों पर व्यंग्य किया है। क्योंकि ले-देकर उस समय प्रमुख देशों के बीच मोल-तोल ही होता रहा।

निरस्त्रीकरण की आवश्यकता पर विचार करते समय जो बात सबसे पहले सामने आती है वह है विनाश का आतंक। प्रथम महायुद्ध में यूरोप में जितना विनाश हुआ उससे विजेता और पराजित दोनों ही समान रूप से आतंकित हो गए थे। इस आतंक का मानवीय पक्ष यह था कि उजड़े घर, गांव, परिवारों में क्षत-विक्षत व्यक्ति मानवीय संवेदना को निरंतर कुरेदते रहते थे। मानव द्वारा मानव का विनाश रुक न सके तो नियंत्रित तो हो ही यह आवश्यक लगने लगा था। इसके अलावा शस्त्रीकरण इतना खर्चीला हो गया था कि निरस्त्रीकरण आवश्यक था। कोई भी देश अपने आर्थिक निर्माण और विकास की गति को कम किए बिना अपने को शस्त्र सज्जित नहीं कर सकता था। सबसे बड़ी बात तो यह थी कि शस्त्रीकरण से भय, शंका और प्रतिस्पर्द्धा की अनंत प्रक्रिया शुरू होती है। जिससे शीतयुद्ध जनमता है और युद्ध की तलवार बराबर लटकती रहती है। ऐसी स्थिति में प्रथम महायुद्ध के बाद किसी न किसी रूप में निरस्त्रीकरण की कोशिश करना एक अनिवार्यता थी।

यूरोप के इतिहास में निरस्त्रीकरण के प्रयासों का युद्ध की बढ़ती भयावहता से सीधा संबंध रहा है। सत्रहवीं शताब्दी में 30 वर्षीय युद्ध के बाद वेस्टफेलिया की संधि 1648 में यह प्रवृत्ति पहली बार दिखाई पड़ती है। वैचारिक स्तर पर प्रसिद्ध लेखक ग्रोशियस ने अपनी पुस्तक 'युद्ध और शांति के नियम' में अंतर्राष्ट्रीय संबंधों को नियमित करने का आधार प्रस्तुत किया। यह विचार भले ही कार्यान्वित न हुआ हो लेकिन उसके माध्यम से अंतर्राष्ट्रीय कानून का जन्म हुआ। नेपोलियन के युद्धों ने जब सारे यूरोप को रौंद डाला तो 'होली एलायंस' और 'कंसर्ट आफ यूरोप' के माध्यम से कुछ प्रयास हुए जो छद्म होते हुए भी अपना ऐतिहासिक महत्व रखते हैं। क्रीमिया के युद्ध के बाद पेरिस की संधि में भी अंतर्राष्ट्रीय नियमों की बात उठाई गई थी। 1870 में ग्रेट ब्रिटेन तथा 1877 में इटली ने इस दिशा में पहल की जिसका कोई परिणाम नहीं निकला। 1898 में रूस के जार निकोलस के प्रयासों से हालैंड की राजधानी हेग में एक सम्मेलन हुआ। जिसमें अनिवार्य मध्यस्थता की बात की गई। यह वही समय था जब यूरोप के देश युद्ध से डर कर युद्ध की तैयारी में संलग्न थे। इसीलिए 1907 में हेग सम्मेलन फिर बुलाया गया। लेकिन उसके निर्णयों पर किसी ने ध्यान नहीं दिया और यूरोप युद्ध के गर्त में जा ही गिरा। युद्ध की समाप्ति पर हुई संधियों में निरस्त्रीकरण को बाकायदा कार्यान्वित

किया गया। पराजित देश तो निरस्त्र किए ही गए वेर्साई संधि में (8वीं धारा) अन्य देशों के निरस्त्रीकरण की भी बात की गई। राष्ट्रसंघ के निर्माण के बाद निरस्त्रीकरण को सदस्यता के लिए एक शर्त बना दिया गया।

वाशिंगटन सम्मेलन : युद्धोत्तर काल में निरस्त्रीकरण की दिशा में पहला प्रयास वाशिंगटन में हुआ। अमेरिका की पहल पर नौसेना के क्षेत्र में शक्ति सीमित करने के लिए वाशिंगटन में 1922 में एक सम्मेलन बुलाया गया जिसमें ब्रिटेन, फ्रांस, इटली, और जापान भी सम्मिलित हुए। इस संबंध में यह सहमति हो गई कि युद्धपोतों के क्षेत्र में अमेरिका, ब्रिटेन, जापान, फ्रांस, और इटली में 5 : 5, 3 : 1, 1.67 : 1.67 का अनुपात रखा जाए। यह समझौता दस वर्षों के लिए था।

छोटे जहाजों के विषय में कोई समझौता नहीं हो सका। जहरीली गैस पर तो नियंत्रण की बात हुई लेकिन क्रूजन, पनडुब्बियों, विध्वंसकों, पर कोई नियंत्रण नहीं लग सका। वायुसेना के संबंध में भी कोई बात नहीं हुई। फ्रांस को यह शिकायत रह गई कि उसे इटली के बराबर समझा गया जबकि उसका समुद्रतट दो तरफ पड़ता था और इसलिए उसे अधिक बड़ी नौसेना की जरूरत थी। फिर भी यह अकेला निरस्त्रीकरण सम्मेलन था जिसे सफल कहा जा सकता है। इसके पीछे शायद नौसेना का बढ़ता हुआ खर्च था। जिसके कारण प्रमुख नौसेनिक शक्तियों में आपस में फैसला किया था। कुछ भी हो बिना गुणात्मक परिसीमन के केवल परिमाण का नियंत्रण विशेष महत्व नहीं रखता था।

इसके बाद 1927 में जेनेवा में अमेरिका, इंग्लैंड और जापान ने पहल की लेकिन कोई परिणाम नहीं निकला। 1930 में लंदन में नौसैनिक क्षेत्र में सीमित समझौता हुआ। 1935-36 में लंदन में हुए नौसेना संबंधी सम्मेलन का भी कोई उत्साहवर्धक परिणाम नहीं निकला।

राष्ट्रसंघ और निरस्त्रीकरण : राष्ट्रसंघ में एक स्थायी सलाहकार आयोग का गठन हुआ, जिसमें सैनिक विशेषज्ञ रखे गए। बाद में गैर सैनिक लोग भी शामिल किए गए। इस आयोग ने हर देश की सैनिक शक्ति को सीमित करने का सुझाव रखा लेकिन उसपर अमल नहीं हो सका। इस आयोग के आंकड़ों ने स्पष्ट कर दिया कि बिना सुरक्षा की गारंटी और व्यापक निरस्त्रीकरण के इस दिशा में प्रगति नहीं होगी। बाद में राष्ट्र-संघ में वाशिंगटन सम्मेलन के निर्णयों को उन देशों तक विस्तृत करने की बात उठाई गई जो उसमें शामिल नहीं थे। इस दिशा में परस्पर सहायता संधिका प्रारूप और जेनेवा प्रोटोकाल भी महत्वपूर्ण कदम थे। पर इनमें से किसी को सफलता नहीं मिली। लंदन में 1930 में एक सम्मेलन बुलाया गया लेकिन वहां भी नौसेनिक विषयों पर ही कुछ हो सका। प्रस्ताव और सुझाव आते रहे। राष्ट्रसंघ ने निरस्त्रीकरण पर व्यापक रूप से विचार विमर्श करने के लिए 1925 में तैयारी के लिए एक आयोग गठित किया। 6 वर्षों के प्रयास के बाद उसने एक प्रारूप प्रस्तुत किया जिसके आधार पर केलाग-ब्रिआं समझौते के बाद के वातावरण में ही 1932 में जेनेवा में एक निरस्त्रीकरण सम्मेलन आयोजित हो सका। सम्मेलन में ब्रिटिश विदेशमंत्री हेंडरसन की अध्यक्षता में

रूस और अमेरिका, जो राष्ट्रसंघ के सदस्य नहीं थे, सहित 61 देश सम्मिलित हुए। इधर ब्रिटेन में लेबर दल पराजित हो गया और हेंडरसन अब एक सामान्य राजनेता रह गया। दूसरी ओर आर्थिक संकट के बादल मंडरा रहे थे। फिर भी सेना के तीनों अंगों तथा निरस्त्रीकरण के आर्थिक और राजनीतिक पक्षों पर विचार के लिए पांच समितियां बनाई गईं। वार्ता के दौरान कुल छः सौ प्रस्ताव आए। इन परस्पर विरोधी प्रस्तावों का समन्वय कर पाना असंभव था।

ब्रिटिश प्रस्ताव ने संख्या के स्थान पर गुणात्मक शक्ति को ध्यान में रखने पर जोर दिया। फ्रांस ने सुरक्षा के पूर्वग्रह से ग्रस्त होकर एक अंतर्राष्ट्रीय सेना या पुलिस संगठित करने का प्रस्ताव रखा। अमेरिका ने सभी देशों की शक्ति में सीधे एक तिहाई की कटौती का प्रस्ताव किया। रूस ने शीघ्रता, व्यापकता और स्थाई नियंत्रण पर जोर दिया। ये प्रस्ताव भी समय समय पर बदलते रहे। सम्मेलन के दौरान ही हिटलर का प्रादुर्भाव हो चुका था। हिटलर के उद्देश्यों से निरस्त्रीकरण का तालमेल नहीं था। वह तत्काल सम्मेलन से हट गया। युद्ध की तैयारियां हर जगह शुरू हो गईं फिर निरस्त्रीकरण कौन और कैसे करता ?

इस विषय में विभिन्न देशों के रुख पर स्पेन के प्रतिनिधि माद्रिआगा ने तीखा व्यंग्य किया। उसके अनुसार जंगल में आक्रामकता और आतंक सीमित करने के लिए एक सभा हुई जिसमें हाथी ने जबड़ों पर और शेर ने सूड़ पर नियंत्रण करने को कहा, अर्थात सभी ने उसी अंग पर रोक लगाना चाहा जो उसके पास नहीं था। जेनेवा में विभिन्न देश भी तो यही कर रहे थे। फिर उसकी सफलता का प्रश्न कहां उठता ?

इस सम्मेलन की असफलता का विश्लेषण करें तो स्पष्ट हो जाएगा कि वहां कोई कमतम स्वीकृति की बात ही नहीं थी। फ्रांस अपनी सुरक्षा, ब्रिटेन अपने उपनिवेशों, अमेरिका अपनी दूरी और शक्ति के कारण उत्पन्न निश्चितता के कारण कोई भी ऐसा काम करने को तैयार नहीं थे जिसमें उन्हें विशेष त्याग करना पड़ता। शस्त्रास्त्रों का तकनीकी पक्ष इतना जटिल था कि उसका निवारण विशेषज्ञ ही कर सकते थे, राजनीतिज्ञ नहीं। संपूर्ण विश्व पर पूंजीवादी और साम्राज्यवादी ताकतों का प्रभाव था जिसे शस्त्रों के जोर पर ही कायम रखा जा सकता था। शस्त्रों के व्यापार में अरबों रुपया लगा हुआ था और ये व्यापारी अपना व्यवसाय क्यों घटने देते जबकि उनका सरकार पर भी निर्णायक प्रभाव था। निहित स्वार्थों की रक्षा के लिए कृतसंकल्प देश पाखंड चाहे जितना कर लें वास्तव में शस्त्रों की होड़ कम करना उनके हित में नहीं था। आज जबकि परमाणु अस्त्रों के भंडारों के कारण एक आतंक का संतुलन (बैलेंस आफ टेरर) कायम हो गया है और दुनिया विनाश के कगार पर खड़ी है तब भी निरस्त्रीकरण नहीं हो पा रहा है। तब उस समय कैसे हो पाता ?

निरस्त्रीकरण का लक्ष्य युद्ध की संभावना और भयंकरता को कम करना होता है पर इसके लिए युद्ध के कारणों पर प्रहार किए बिना सफलता मृगमरीचिका ही है।

17

द्वितीय महायुद्ध

जिस समय 1920 में शांति के स्थायित्व पर शंका की जा रही थी उस समय भी यह सोचना मुश्किल था कि एक और महायुद्ध इतना निकट है। जब जर्मनी को पंगु बनाया गया था तब किसे पता था कि वह हिटलर की बैसाखी लगा कर दौड़ने भी लगेगा। जब जेनेवा में क्षत-विक्षत लोगों ने युद्ध की विभीषिका हृदय-विदारक दृश्य उपस्थित किया तो कौन सोच सकता था कि विनाश को फिर निमंत्रण दिया जा रहा है। विभिन्न माध्यमों से प्रकाशित आंकड़ों ने दहलाने वाला चित्र उभारा था और यह सोचना कठिन था कि बेहतर आंकड़ों की तैयारी हो रही है। यह अविश्वनीय था कि जिस पीढ़ी ने एक भयानक युद्ध झेला है वही उसकी पुनरावृत्ति करने को प्रस्तुत हो जाएगी और विश्व पुन: एक विनाशक घटनाचक्र में इतनी जल्दी फिर फंस जाएगा। फिर भी ऐसा ही हुआ।

सुदूर पूर्व में जब जापान ने मंचूरिया को धर दबोचा था तभी भविष्य का पूर्वाभास हो जाना चाहिए था। पेरिस संधि और अपनी आंतरिक व्यवस्था से असंतुष्ट इटली में जब सत्ता मुसोलिनी और फासिज्म के चंगुल में आ गई तब भी स्पष्ट हो जाना चाहिए था कि हवा का रुख किधर है। राष्ट्रसंघ के गठन के बाद भी जब फ्रांस इधर उधर बेईमानी और बचकानी संधियां करता रहा तो यह निर्विवाद था कि विभिन्न देश अपनी सुरक्षा के बारे में आश्वस्त नहीं हैं। हिटलर की भ्रष्ट और आक्रामक विचारधारा से सभी परिचित थे फिर भी उसके हाथ में सत्ता आने के बावजूद पश्चिमी यूरोप के शासक नहीं चेते। स्पेन में वैधानिक सरकार को फासिस्ट ताकतों ने निर्लज्ज हस्तक्षेप के द्वारा उखाड़ फेंका और प्रजातंत्र के हिमायती देश नपुंसक नैतिक समर्थन देते रहे। अब भी समाजवाद को फासिज्म से ज्यादा ख़तरनाक समझा जा रहा था और युद्ध के बादल मड़राने लगे थे।

युद्ध की पृष्ठभूमि क्या थी ?

पहला विस्फोट यूरोप में नहीं एशिया में हुआ। जापान ने 1931 में मंचूरिया पर आक्रमण किया और एक चीनी प्रांत को हड़प कर पूरे दक्षिण-पूर्वी एशिया को हड़पने की तैयारी करने लगा। फ्रांस और इंग्लैंड एक शताब्दी पहले जो कुकृत्य कर चुके थे वही जापान अब कर रहा था। जापान खतरनाक हो सकता था लेकिन वह दूर था। फिर यही घटना और करीब दुहराई गई। मुसोलिनी ने अबीसीनिया हड़प लिया और धर्म का

राजनीतिक फायदा उठाने वाली पश्चिमी ताकतें धर्म के नाम पर भी दुनिया के सबसे पुराने ईसाई साम्राज्य की मदद करने नहीं आईं। जर्मनी में सत्ता उग्रवादी और नस्लवादी साम्राज्य के हिमायती हिटलर के हाथों में आ गई। जब उसने राइन क्षेत्र में हस्तक्षेप किया तभी उसे सबक देना चाहिए था। लेकिन इसके विपरीत उससे ही लोग आतंकित होते गए। स्पेन में फ्रांको ने फासिस्टों की मदद से संवैधानिक सरकारी तख्ता पलट दिया और प्रजातंत्र के समर्थक केवल नैतिक समर्थन देते रह गए।

म्यूनिख में ब्रिटेन और फ्रांस के प्रधानमंत्रियों ने स्वयं की हुई संधियों और घोषणाओं को ताक पर रखकर चेकोस्लोवाकिया के साथ ज्यादती होने दी और तुष्टीकरण की नीति के द्वारा हिटलर से शांति खरीदने का मोह पालते रहे। म्यूनिख समझौते के बारे में चर्चिल ने स्पष्ट कहा था : फ्रांस और ग्रेट ब्रिटेन को युद्ध और असम्मान में से एक को चुनना था। उन्होंने असम्मान चुना अब उन्हें युद्ध मिलेगा। (फ्रांस ऐंड ग्रेट ब्रिटेन हैड टु यूज बिटवीन वार ऐंड डिसआनर दे चोज डिसआनर। दे विल हैव वार) पश्चिमी नेताओं को जैसे सांप छू गया था। जब हिटलर ने किसी भी तरह से जर्मन कहे जाने वाले सारे प्रदेश हड़प लिए और पोलैंड पर भी आक्रमण कर बैठा तब उन्हें होश आया और पश्चिमी देशों ने हस्तक्षेप किया।

अब तक यह स्पष्ट हो चुका था कि यह एक व्यक्ति या देश की बात नहीं, विश्वव्यापी खतरा है। रोम—बर्लिन—टोकियो धुरी पर सारा विश्व केंद्रित नजर आने लगा था। फ्रांस में सरकारों की अस्थिरता मुहावरा बन चुकी थी। इंग्लैंड में चर्चिल के अलावा अन्य नेता स्थिति की गंभीरता नहीं समझ रहे थे। अकेले वही आसन्न युद्ध की योजना बना रहा था। लेकिन उसे युद्ध लोलुप कहा जा रहा था। अमेरिका की यूरोप से दूर रहकर दोनों तरफ से लाभ उठाने की पुरानी नीति थी। प्रथम महायुद्ध में वह बहुत मजबूरी में शामिल हुआ था और युद्ध समाप्त होते ही अपने राष्ट्रपति विलसन को अपमानित करके भी अपनी खोल में लौट गया था। रूजवेल्ट अपनी व्यावहारिकता और दूरदर्शिता के बावजूद यूरोप के खतरे का महत्व नहीं समझ रहा था और तटस्थ बना रहना चाहता था। अमेरिकी जासूसों द्वारा चेतावनी दिए जाने के बाद भी उसने पहल नहीं की और जब जापानी हवाई-बेड़े ने पर्ल हार्बर को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया तभी वह युद्ध में शामिल हुआ।

युद्ध की पूर्व संध्या पर पश्चिमी देशों के शासक, विशेष रूप से इंग्लैंड का प्रधानमंत्री चैम्बरलेन प्रवाह में बहते चले जाने वाली मनोवृत्ति से ग्रस्त थे। म्यूनिख से एकमात्र सबक यह लिया गया था कि शक्ति में कमी से बेइज्जती और हार भी संभव है (इनफीरियारिटी आफ पावर इमीडिएटली एवेलेबुल इन यूरोप उड ब्रिंग ह्यूमिलियेशन ऐंड माइट ब्रिंग जनरल डिफीट) यह कितनी बड़ी विडंबना है कि तब भी मूल कारणों का विश्लेषण और तदनुकूल तैयारी नहीं हो रही थी। म्यूनिख में चेकोस्लोवाकिया के साथ हुए बलात्कार के भागीदार इंग्लैंड और फ्रांस अब जर्मनी के पड़ोसियों—विशेषकर पोलैंड, और सुदूर स्थित तुर्की जैसे देशों को भी सुरक्षा की गारंटी दे रहे थे।

रूस के प्रति अविश्वास बना ही हुआ था। रूसी विदेशमंत्री लितविनोफ ने बार-बार कहा था कि 'शान्ति अविभाज्य है' (पीस इज इनडिविजिबुल) अर्थात युद्ध से शांति भंग होने पर वह किसी क्षेत्र या देश तक सीमित नहीं रहेगा। यह बात पश्चिमी देशों के शासकों को समझ में नहीं आ रही थी। इतिहासकार शूमन का भी यही मत है कि विश्व को भयानक विनाश से बचाया जा सकता था यदि धुरी देशों के विरुद्ध रूस से मिलकर एक 'ग्रैंड एलायंस' बना लिया जाता। अमेरिका अभी भी 'गोलार्ध की सुरक्षा' (हेमिसफेअर डिफेंस) यानी केवल उत्तरी और दक्षिणी अमेरिका की सुरक्षा की नीति अपनाए हुए था। इसीलिए जब संयुक्त राज्य अमेरिका के राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने हिटलर और मुसोलिनी से आगामी दस वर्षों के लिए अनाक्रमण समझौता (नान एग्रेशन पैक्ट) करने की अपील की तो इटली और जर्मनी में इसका मखौल उड़ाया गया।

मई 1939 में धुरी देशों—जर्मनी, इटली और जापान, नें एक इस्पाती समझौता (पैक्ट आफ स्टील) कर लिया। जिसके द्वारा उनके बीच का पहले का समझौता एक सैनिक संधि में बदल गया।

पश्चिमी देशों द्वारा ठुकराए जाने पर और अपनी राष्ट्रीय सुरक्षा के हित में रूस ने अगस्त 1939 में जर्मनी के साथ दस वर्षों का अनाक्रमण समझौता (मोलोतोफरिबेन ट्राप पैक्ट) कर लिया। हिटलर जो अमेरिका की ओर से आश्वस्त था अब रूस की ओर से भी निश्चित हो गया। दुनिया के दोनों सबसे बड़े देशों मे उसे फिलहाल कोई खतरा नहीं रहा। ऐसी स्थिति में अपनी पूर्व निश्चित योजना के अनुसार हिटलर ने सितंबर 1939 में पोलैंड पर हमला कर दिया। उसे अब भी आशा थी की शायद म्यूनिख की पुनरावृत्ति हो जाए और पोलैंड की मदद के लिए कोई न आए। लेकिन इस बार पानी नाक के ऊपर चला गया था। ब्रिटेन और फ्रांस पोलैंड की मदद में आ खड़े हुए और द्वितीय महायुद्ध में शुरू हो गया।

इस तरह स्पष्ट है कि बिना मजबूर हुए किसी पश्चिमी देश ने फासिज्म के विरुद्ध न तो आवाज उठाई न उसे समय रहते कुचल डालने में पहल की। अपनी कातरता, अदूरदर्शिता और हित पूर्ति के संकीर्ण दृष्टिकोण और पूंजीवादी अंतर्विरोधों के कारण वे दुनिया को इस विभीषिका से नहीं बचा सके और अपने देशों की सामान्य जनता को भी तबाह किया।

यह महायुद्ध 1939 में शुरू हुआ और छः वर्षों बाद फासिस्ट ताकतों के पतन के बाद ही समाप्त हुआ।

कौन जिम्मेदार था इस विनाशकारी अपराध के लिए ?

नूरेम्बर्ग में जब नात्सी युद्ध अपराधियों पर मुकदमा चल रहा था तो उन्होंने क्षोभ से कहा था : 'आप युद्ध में जीत गए हैं इसलिए हम कटघरे में हैं। हम विजयी होते तो आज हमारी जगह आप होते।' यह सच भी है। प्रायः हिटलर और मुसोलिनी को जिम्मेदार ठहराकर पश्चिमी देश और अधिकांश इतिहासकार अपना दामन बचाते रहे हैं। युद्ध के कारणों के स्पष्ट होते ही उनका भी दोष स्पष्ट हो जाता है।

युद्ध के मूल कारण क्या थे ?

इतिहासकार डेविड टामसन ने इस संबंध में एक सरलीकरण प्रस्तुत किया है। उसके अनुसार जर्मनी में नात्सियों ने इसलिए सत्ता हथिया ली थी कि थोड़े लोग ही उन्हें गंभीरतापूर्वक ले रहे थे। कुछ अन्यों का विश्वास था कि वे सत्ता पर अधिकार की दौड़ में नात्सियों को पीछे छोड़ देंगे। इसी प्रकार नात्सी जर्मनी ने यूरोप पर इसलिए प्रभुत्व स्थापित कर लिया कि सभ्य लोग यही सोचते रह गए कि ऐसी राक्षसी व्यवस्था सफल होने को कौन कहे जिंदा भी कैसे रह सकती है।

यह एक मासूम सा विश्लेषण है। नात्सी पार्टी की जर्मनी में और नात्सी जर्मनी की यूरोप में प्रारंभिक सफलता को इतिहास के वृहत्तर परिप्रेक्ष्य से और इतिहास की मूल धारा से काटकर देखता है दूसरे द्वितीय महायुद्ध के कारणों में नात्सियों की विशेष जिम्मेदारी को रेखांकित करता है।

जब 1919 में यह कहा गया था कि युद्ध को समाप्त करने वाला युद्ध समाप्त हो गया और अब शुरू होती है शांति, जो शांति को समाप्त कर देगी—या यह कि वेर्साई संधि केवल युद्ध-स्थगन समझौता है तो निश्चित ही यह स्वीकार किया गया था कि युद्ध के कारण बने हुए हैं और यह भी कि प्रथम महायुद्ध अभी समाप्त नहीं हुआ है। यह एक यथार्थ था।

युद्ध के मूल कारणों—पूंजीवाद, उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद तथा उनके अंतर्निहित अंतर्विरोधों को अलग करके भी देखें तो यह स्पष्ट हो जाएगा कि प्रथम महायुद्ध के बाद पेरिस में की गई व्यवस्था न केवल शांति के लिए एक सकारात्मक प्रयास नहीं थी उलटे वह एक युद्ध उत्प्रेरक व्यवस्था थी।

पेरिस में पराजित देशों के साथ क्रूरता वरत कर प्रतिहिंसा के बीज बोए गए थे। बर्ट्रंड रसेल ने जर्मनी और फ्रांस के बीच इसी. बदले की भावना (रिवांस) को यूरोप में युद्धों का सतत कारण बताया है। नेपोलियन का बदला बिस्मार्क ने लिया और बिस्मार्क का बदला क्लमांसो ने। क्लमांसो का बदला लेना बाकी ही था जिसे हिटलर ने लिया।

ए० जे० पी० टेलर के अनुसार वेर्साई संधि में जर्मन राष्ट्रीयता की अपराधपूर्ण उपेक्षा की गई थी। साथ ही संधि की 231वीं धारा के अनुसार युद्ध में हुई सारी क्षति की जिम्मेदारी जर्मनी पर थोप दी गई थी। ऐसी संधि का अंत जर्मनी के लिए सम्मान ही नहीं जीवन-मरण का प्रश्न बन गया था। पूरे युद्ध का मुआवजा देना और अपनी धरती पर विदेशी सेना को झेलना किसी भी राष्ट्र के लिए दुष्कर होता। जर्मनी तो एक आक्रामक सैनिक परंपरा का देश था। कोई भी व्यक्ति जो जर्मन जनता को आश्वस्त करता, वर्तमान संकट और अपमान से मुक्ति और गरिमामय भविष्य के सपने दिखाता, मुर्दा होते जा रहे जर्मन राष्ट्र में प्राण फूंकता, वह रातों-रात लोकप्रिय हो जाता और जनता उसका अंधानुकरण करती। इतिहास साक्षी है कि ऐसा ही हुआ। इसलिए युद्ध का एक स्पष्ट तात्कालिक कारण जर्मनी में नात्सीवाद का उदय हो सकता है। लेकिन नात्सीवाद के जन्म और विकास के लिए कौन जिम्मेदार था ?

इटली में फासिज्म के जन्म और विकास को भी इसी संदर्भ में देखना चाहिए।

इटली, इंग्लैंड और फ्रांस जैसी आर्थिक राजनैतिक व्यवस्था का अनुकरण कर रहा था और उसने प्रथम महायुद्ध में मित्र राष्ट्रों का साथ दिया था। पेरिस संधियों के वाद उसके असंतोष और वहां अर्थतंत्र तथा प्रजातंत्र की असफलता के बाद मुसोलिनी के हाथ में सत्ता आने के इतिहास से हम परिचित हैं। इटली में फासिज्म की विजय को दवाने के बजाय पश्चिमी देशों के वर्ताव ने उसे विश्वसनीय और सम्मानित वना दिया। इसी प्रकार जापान भी प्रथम महायुद्ध में मित्र राष्ट्रों का साथी था लेकिन पेरिस में असंतुष्ट होने के बाद वह उनसे दूर होता गया और पूंजीवादी औपनिवेशिक महत्वाकांक्षा ने जापान को आक्रमक वना दिया और उसने एशिया में फासिज्म का सूत्रपात कर दिया। जापान और इटली का फांसिस्ट विकास निश्चित ही युद्ध का कारण वना।

तीनों ही देशों में प्रतिक्रियावादी शक्तियां एक जुट हो गई थीं। धर्म, खामोशी और तटस्थता से षड्यंत्रों में शामिल था। पोप ने फासिज्म का कभी विरोध नहीं किया। सामंती मूल्यों को प्रश्रय मिला। पूंजीपतियों ने अपने हितों का भरपूर विस्तार किया। देश के आर्थिक स्रोतों का भरपूर इस्तेमाल, उद्योगों का अधिक से अधिक विस्तार, विदेशी वाजारों में वृद्धि और इसके लिए राष्ट्रीय एकजुटता विना आक्रामक हुए संभव नहीं था। इन लक्ष्यों के लिए उत्कट राष्ट्रवादिता एक उपयोगी उपकरण था। शुरू में इस विकास पर ध्यान नहीं दिया गया लेकिन जव पुराने साम्राज्यवादियों के सामने नए साम्राज्यवादी उठ खड़े हुए और प्रतिस्पर्धा में मात देने तक को तैयार हो गए तो अंत-र्विरोध स्पष्ट हो गए और संघर्ष अनिवार्य हो गया।

इनके अतिरिक्त कुछ अन्य स्थितियों का विश्लेषण भी प्रासंगिक होगा। प्रथम महायुद्ध के दौरान विश्व को प्रजातंत्र के लिए सुरक्षित वनाने का नारा दिया गया था। आत्मनिर्णय के सिद्धांत की वकालत की गई थी। इसके वावजूद उपनिवेशों में राष्ट्र-वाद के सहज और नैसर्गिक विकास का भी गला घोंटा जा रहा था। यूरोप में तो अंशतः राष्ट्रवाद को प्रोत्साहित भी किया गया था लेकिन एशिया और अफ्रीका में न तो राष्ट्र-वाद को मान्यता दी जा रही थी न प्रणातंत्र को। उल्टे यथासंभव उन्हें भटकाया जा रहा था और दमन कार्य तेज होता जा रहा था। दूसरी ओर उपनिवेशों के मालिक देशों में स्वयं राष्ट्रवाद उग्र से उग्रतर होता जा रहा था—विशेष रूप से आर्थिक राष्ट्रवाद के रूप में। फासिज्म का मुकावला शुरू में पश्चिमी देश इसलिए भी नहीं कर पा रहे थे क्योंकि उनका चरित्र भी तो कहीं न कहीं फासिस्ट ही था। इसीलिए युद्ध के पहले किए गए विभिन्न देशों के साथ समझौतों की लगातार अवहेलना की गई और आस्ट्रिया तथा चेकोस्लोवाकिया के साथ हिटलर के कुकृत्य को वरदाश्त किया गया। इस प्रकार सारे विश्व में असंतोष वढ़ रहा था स्थिति हर कहीं विस्फोटक होती जा रही थी।

प्रथम महायुद्ध के वाद जर्मनी में स्थापित 'वाईमार गणतंत्र' को पुराने प्रजातंत्रों की मदद की अपेक्षा थी। जर्मनी में पहली बार जन प्रतिनिधियों की सरकार बनी थी। इस नई सरकार को वेर्साई संधि ने पनपने नहीं दिया। यदि युद्ध की जिम्मेदारी केवल जर्मनी की ही मानी जाती तो भी उसे शासक विलियम द्वितीय और उसके सहयोगी व्यक्तियों पर ही थोपी जानी चाहिए थी। लेकिन ऐसा न करके पूरे देश को नतीजे भुग-

तने और सजा भोगने को मजबूर किया गया। जो व्यवहार द्वितीय महायुद्ध के बाद जर्मन गणतंत्र के साथ हुआ यानी सहानुभूति और सहयोग का व्यवहार वही पहले महायुद्ध के बाद भी होता तो स्थिति नात्सीवाद के अनुकूल न होती। यह अध्ययन का विषय है कि जर्मनी में प्रथम महायुद्ध के बाद हिटलर का उदय हुआ और द्वितीय महायुद्ध के बाद विली ब्रांट का जिसे नोबेल शांति पुरस्कार दिया गया।

पश्चिमी शासक साम्यवाद से इतने आक्रांत थे कि उन्होंने उसे फासिज्म से भी अधिक खतरनाक समझा था। रूसी क्रांति के दमन के लिए उन्होंने हर प्रत्यक्ष-परोक्ष कोशिश की थी और करते रहे थे लेकिन फासिज्म के विरुद्ध उन्होंने ऐसा कुछ नहीं किया। उन्होंने रूस को न तो पेरिस संधियों में शामिल किया न बाद की अन्य व्यवस्थाओं में। राष्ट्रसंघ में भी बहुत दिनों तक उसे सदस्य नहीं बनने दिया गया। नात्सीवाद के उदय के बाद जब स्तालिन ने हिटलर के विरुद्ध दोस्ती का हाथ बढ़ाया तो उसे झटक दिया गया। यूरोप में युद्ध हो या शांति बिना रूस को सम्मिलित किए उसकी सफलता असंभव थी। बाद में हिटलर का दमन भी बिना रूसी सहयोग के नहीं संभव हुआ था।

नस्लवाद किसी न किसी रूप में सामाजिक और राजनीतिक जीवन में हमेशा ही एक तत्व रहा है लेकिन जब से फ्रांसीसी वैज्ञानिक गोबीनो ने नस्लवाद को वैज्ञानिक आधार प्रदान कर दिया था (जानवरों पर प्रयोग करके उसने यह सिद्ध किया था कि आदमियों की कुछ नस्लें दूसरों से अधिक शक्तिशाली और योग्य होती हैं) वह एक राजनीतिक शक्ति बनने लगा था। दो महायुद्धों के बीच नस्लवाद तानाशाहों के हाथ में एक भयानक उपकरण बन गया और अल्पसंख्यकों, विशेषकर 'यहूदियों' का भारी पैमाने पर दमन और विनाश किया गया। इस विकृति का अंत सामान्य स्थिति में संभव नहीं था।

इस संदर्भ में प्रथम महायुद्ध के बाद शांति की पिपासा के कारण पैदा हुई कातरता को भी रेखांकित किया जाना चाहिए। कभी कभी शांति के लिए युद्ध आवश्यक होता है लेकिन फ्रांस और इंग्लैंड के प्रधानमंत्री शांति का अर्थ युद्ध टालना समझते रहे और उसी के लिए निरंतर कोशिश की। इसीलिए उन्होंने तुष्टीकरण (अपीजमेंट) की नीति अपनाई। जिसका चर्मोत्कर्ष म्यूनिख में हुआ जबकि उन्होंने सारी नैतिकता और व्यावहारिकता को ताक पर रखकर निर्लज्जतापूर्वक हिटलर द्वारा चेकोस्लोवाकिया के साथ किए गए बलात्कार को भी स्वीकार कर लिया और उसे शांति के लिए आवश्यक बताया। शांति भंग होने में सालभर भी नहीं लगा। तुष्टीकरण की नीति कभी सफल नहीं होती। द्वितीय महायुद्ध के पहले तो यह घातक सिद्ध हुई।

विल्सन के सिद्धांतों में सामान्य निरस्त्रीकरण की बात की गई थी लेकिन पेरिस संधियों द्वारा केवल परास्त देशों को निरस्त्र किया गया था। सामान्य निरस्त्रीकरण के लिए जो भी सतही प्रयास किए गए वे असफल सिद्ध हुए क्योंकि सभी राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए आतंकित थे। ई० एच० कार ने फ्रांस द्वारा राष्ट्रीय सुरक्षा की तलाश को दो महायुद्धों के बीच की सबसे महत्वपूर्ण बात बताई है लेकिन यह तलाश तो सबकी थी, फ्रांस केवल उसमें अपनी विशेष परिस्थितियों के कारण अग्रणी था। जब परस्पर अविश्वास

और आशंका व्याप्त हो तो निरस्त्रीकरण की जितनी भी बात की जा, वास्तव में निरंतर शस्त्रीकरण होता रहता है। द्वितीय महायुद्ध के पहले अवश्यंभावी रूप से निरस्त्रीकरण के प्रयास असफल हुए थे और इंग्लैंड तक को अपने इतिहास में पहली बार सैन्य सेवा को अनिवार्य करना पड़ा था। प्रारंभ होने के पहले नए शस्त्रास्त्रों की तलाश और पारंपरिक हथियारों का भंडार बनाने पर असंख्य धन खर्च किया गया, साथ ही विभिन्न राष्ट्रों में दूसरों के प्रति वैमनस्य और घृणा का सुनियोजित प्रचार किया गया और जबानी तौर पर युद्ध को टालने की बात करते हुए वास्तव में युद्ध को निरंतर अनिवार्य बनाया गया।

इतिहासकार टायनबी का कहना है युद्ध का जन्म युद्ध की इच्छा से होता है। इसलिए यह मनोविज्ञान का विषय है विज्ञान का नहीं (वार इज ए मैटर आफ साइकालोजी, नाट आफ टेकनालोजी, द विल टु फाइट) यह एक भ्रामक विचार है। युद्ध स्थितियों में निहित होते हैं मस्तिष्क में नहीं। जब तक दुनिया में बहुमत का शोषण होगा तब तक युद्ध कैसे रुक सकेगा ? संपन्न के बीच संघर्ष अनिवार्य है।

द्वितीय महायुद्ध के उपर्युक्त कारण मूल कारण की अभिव्यक्ति मात्र थे। मूल कारण है आर्थिक विषमता, औद्योगीकरण से उत्पन्न पूंजीवादी व्यवस्था में शोषण की अनिवार्यता, शोषकों के बीच का अपना अंतर्विरोध और दुनिया का कई स्तरों पर परस्पर विरोधी तत्वों में विभाजित होना। यह निर्विवाद है कि औद्योगिक क्रांति के बाद गरीबों की संख्या बढ़ती चली गई है और अमीर और अधिक अमीर तथा गरीब और अधिक गरीब होते गए हैं। इन दोनों के बीच की खाई बढ़ती रही है। दोनों अलग अलग संगठित होते रहे हैं और दोनों वर्गों के बीच संघर्ष अनिवार्य होता चला गया है। इसी प्रकार उद्योग के पूंजीवादी विकास का आधार 'मुनाफा' है और इसलिए सारा विकास शोषण पर आधारित है। शोषण न हो तो यह व्यवस्था मर जाएगी। इसलिए शोषण बढ़ता गया है और परिस्थितिवश शोषित वर्ग भी संगठित होकर प्रतिकार करता रहा है। इस प्रकार संघर्ष इस व्यवस्था में ही निहित रहा है। इसके अलावा शोषकों के बीच के अपने अंतर्विरोध हैं, जैसे पूंजीवादी राज्यों और फासिस्ट राज्यों के बीच का अंतर्विरोध। इसके नाते स्वयं इनमें तनाव रहता है और द्वितीय महायुद्ध के पहले तो मुख्य रूप से इसी तनाव ने विस्फोट किया।

अंत में यह भी निर्विवाद है कि विश्व में समता और समानता नियम नहीं अपवाद थीं। जीवन के हर क्षेत्र में हर स्तर पर विषमता थी और है। द्वितीय महायुद्ध इन्हीं कारणों के समन्वित परिणामस्वरूप शुरू हुआ और छः वर्षों तक संहार का अद्वितीय क्रम चलता रहा।

युद्ध का प्रारंभ 1 सितंबर 1939 को हिटलर के पोलैंड पर विद्युतगति से प्रहार (ब्लित्सक्रीग) द्वारा शुरू हुआ। जर्मन स्थल सेना (वेअर माख्ट) और वायुसेना (लुफ्त वाफ्फे) के मिलेजुले प्रहार से पोलैंड चकित रह गया और एक महीने में ही उसने आत्मसमर्पण कर दिया।

युद्ध प्रारंभ होते ही ब्रिटेन और फ्रांस तथा उनके उपनिवेश युद्ध की घोषणा कर चुके थे (ज्ञातव्य है कि भारत के वायसराय ने बिना भारतीयों की राय लिए इंग्लैंड की ओर से युद्ध की घोषणा कर दी थी और विरोध में प्रांतों के मंत्रिमंडलों ने इस्तीफा दे दिया था) युद्ध के प्रारंभिक कुछ महीनों में पोलैंड के अंत के साथ ही बाल्टिक सागर के तट पर स्थित राज्यों पर रूस का कब्जा हो गया। इस तरह युद्ध का केंद्र पूर्वी यूरोप ही बना रहा, पश्चिम में तो युद्ध की स्थिति थी युद्ध नहीं हो रहा था। इसीलिए इसे 'फोनी वार' भी कहा गया है। युद्ध हो भी रहा था तो आर्थिक नाकेबंदी के कारण समुद्रों में।

इस दौर की सबसे प्रमुख बात यह थी कि मुसोलिनी ने अपनी सीमाओं के कारण हिटलर से अपेक्षित सहयोग नहीं किया। इस बीच हिटलर ने नार्वे और डेनमार्क पर कब्जा कर लिया। नार्वे के नेता क्विजलिंग ने नात्सी पार्टी संगठित कर ली थी और उसने अपने देश पर हिटलर के विजय में जिस प्रकार सहयोग किया उससे विश्वासघात का एक नया विभीषणी मुहावरा प्रारंभ हो गया।

मई 1940 में ब्रिटेन को अपने योग्यतम राजनेता चर्चिल का आह्वान करना पड़ा और एक राष्ट्रीय सरकार का प्रधानमंत्री होते ही उसने न केवल अपने देश बल्कि हिटलर द्वारा आक्रांत तमाम देशों में एक नई स्फूर्ति भर दी। उसमे अपने एक विख्यात भाषण में कहा : 'मित्रो ! इस समय मैं आपको खून आंसू, परिश्रम और पसीने के अलावा कुछ नहीं दे सकता। आप हमारी नीति जानना चाहेंगे, हमारी नीति है ऐसे दुश्मन के खिलाफ हर कहीं लड़ना, जमीन पर, हवा में, समुद्रों में, जिसके शैतानी हरकतों का पूरे इतिहास में कोई मिसाल नहीं मिलता। आप हमारा उद्देश्य जानना चाहेंगे, हमारा उद्देश्य है जीतना, किसी भी कीमत पर। जीत के बिना हमारा अस्तित्व ही संभव नहीं।' इस उद्घोष ने निश्चित ही आत्मविश्वास बढ़ाने में मदद की।

इस बीच जर्मनी ने हालैंड, बेल्जियम और लुक्सेमबुर्ग पर कब्जा कर लिया था। डंकर्क के पास घिरे तीन लाख पैंतीस हजार ब्रिटिश सैनिकों ने चमत्कारी ढंग से अपने को बचाकर संगठन और साहस का असाधारण परिचय दिया।

अब फ्रांस की बारी थी। फ्रांस की सरकार बुरी तरह आतंकित थी। 5 जून 1940 को जर्मन सेना ने उस 'मैगिनोलाइन' को खिलौना साबित कर दिया जिसे फ्रांस के इंजीनियरों और सेनापतियों ने एक दुर्भेद्य सुरक्षा पंक्ति माना था। इसी बीच इटली ने भी फ्रांस के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। अब फ्रांस अपनी रक्षा करने में असमर्थ था। 14 जून को पेरिस का पतन हो गया और जब अमेरिका भी मदद के लिए तैयार नहीं हुआ तो प्रधानमंत्री रेनो ने त्यागपत्र दे दिया और पेतें प्रधानमंत्री बना। इस बूढ़े प्रतिक्रियावादी मार्शल ने साम्यवाद से फ्रांस को बचाने के लिए आत्मसमर्पण की बात की। चर्चिल ने फ्रांस और ब्रिटेन का संघ बनाकर रक्षा का निमंत्रण दिया लेकिन भीरु पेतें आत्मसमर्पण कर चुका था और एक अपमानजनक संधि के द्वारा फ्रांस ने सत्ता जर्मनी को सुपुर्द कर दी। पेरिस पर जर्मनी का कब्जा था। देश के मध्य में विशी नामक नगर को केंद्र बनाकर एक शत्रु सहयोगी कठपुतली सरकार चलने लगी। इस बीच सेना का

एक अज्ञात अफसर फ्रांस के बाहर से प्रतिरोध का आह्वान करता रहा और इसी दुर्दम्य दगाल ने देश-विदेश में यह भ्रांति दूर की कि फ्रांस ने आत्मसमर्पण किया है। उसने लंदन में फ्रांस की स्वतंत्र सरकार बनाई। इधर फ्रांस में देश भक्तों, विशेषकर साम्यवादियों ने प्रतिरोध (रेजिस्टेंस) का एक अभूतपूर्व उदाहरण प्रस्तुत किया।

फ्रांस के बाद इंग्लैंड का नंबर था। अगर हिटलर तत्काल भरपूर हमला कर देता तो परिणाम कुछ और होता। फ्रांस का युद्ध इतनी जल्दी खत्म हो गया था कि हिटलर तत्काल अपनी शक्ति को इंग्लैंड की ओर मोड़ नहीं सका। जब जुलाई में ब्रिटेन पर हमला शुरू हुआ तो ब्रिटेन कम से कम हौसले के स्तर पर तैयार था। इस युद्ध (बैटिल आफ ब्रिटेन) में अंधाधुंध बमबारी हुई। घर, अस्पताल, चर्च, संसदभवन किसी को नहीं छोड़ा गया। लेकिन जैसा कि होता रहा है संकट की घड़ी में ब्रिटेन की जनता ने अपने चरित्र का सर्वोत्तम स्वरूप प्रस्तुत किया और ब्रिटेन को आत्मसमर्पण के लिए मजबूर नहीं किया जा सका। हिटलर की हार यहीं से शुरू होती है। युद्ध का दूसरा मोर्चा बाल्कन प्रायद्वीप था जहां केवल बुल्गारिया ने नात्सी व्यवस्था स्वीकार की। यूगोस्लाविया जर्मनी में मिला लिया गया। यूनान ने इटली की सेनाओं का डटकर मुकाबला किया था लेकिन जर्मन फौजों के सामने वह भी परास्त हो गया। अल्बानिया पर इटली का कब्जा था ही। इस तरह बाल्कन प्रायद्वीप फासिस्ट प्रभाव में आ गया। लेकिन जगह जगह विशेषकर यूगोस्लाविया में टीटो के नेतृत्व में देशभक्तों ने प्रतिरोध में गुरिल्ला युद्ध जारी रखा।

स्वेज नहर की रक्षा के लिए चिंतित ब्रिटेन ने पश्चिमी एशिया में जर्मनी का प्रभाव रोकने के लिए राष्ट्रसंघ द्वारा प्रदत्त 'मैंडेटेड क्षेत्रों', फिलस्तीन, सीरिया, इराक, लेबनान और ट्रांसजार्डन पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया।

युद्ध का दूसरा महत्वपूर्ण दौर रूस पर जर्मनी के हमले के बाद शुरू हुआ। हिटलर साम्यवाद को सबसे बड़ा शत्रु समझता था। दूसरी ओर नात्सीवाद के भयानक खतरे से सबसे पहले रूस ही आगाह हुआ था और उसके विरोध के लिए पहल की थी। इसलिए जब मोलोतोफ-रिबेनट्राप समझौता हुआ था तब भी उसके स्थाई होने में किसी को विश्वास नहीं था। हिटलर के एक मंत्री और मित्र अलबर्ट स्पीयर का कहना है कि रूस विजय की योजना हिटलर के दिमाग में पहले ही आ गई थी। फ्रांस की पराजय के बाद ही हिटलर ने पूरब की ओर विस्तार (ड्रांग नाख आस्टेन) की योजना बना ली। इंग्लैंड को छोड़कर पूरे पश्चिमी यूरोप और बालकन प्रायद्वीप पर प्रभुत्व स्थापित करने के बाद उसने रूस के विरुद्ध पहल शुरू की और इसके पहले की अमेरिका युद्ध में कूदे उसने जून 1914 में साम्यवाद के खिलाफ 'धर्मयुद्ध' के नारे के साथ रूस पर हमला कर दिया। बहुत से लोगों का विश्वास था, स्वयं हिटलर का भी, कि रूस की जनता समाजवादी व्यवस्था विशेषकर स्तालिन से असंतुष्ट होने के नाते आक्रमण होने पर विद्रोह करके इनसे मुक्त होना चाहेगी। लेकिन ऐसा हुआ नहीं। रूस में कोई विभीषण नहीं मिला। स्तालिन ने जितना भी समय था उसमें पूरे देश की लामबंदी कर ली थी और नात्सी प्रहार का सबसे अधिक साहस और संगठन से मुकाबला किया।

प्रारंभिक कुछ महीनों में जर्मन सेना तेजी से आगे बढ़ती गई इसी बीच चर्चिल ने घोर साम्यवाद विरोधी होते हुए भी नात्सीवाद के विरुद्ध रूस की मदद की घोषणा की। दक्षिण पूर्व और उत्तर की ओर से रूस को मदद पहुंचने लगी लेकिन जाड़ा शुरू होते ही रूस पर अंतिम विजय असंभव लगने लगी। हिटलर को वही अनुभव होने लगा होगा जो नेपोलियन को रूस विजय के समय हुआ होगा। जाड़ा खत्म होते ही हिटलर ने रूस पर दूसरा भयानक हमला किया लेकिन स्तालिनग्राद की लड़ाई में रूसियों ने असाधारण हौसले का परिचय दिया। महीनों तक बुरी तरह घिरे रहने और निरंतर बमवारी के वावजूद स्तालिनग्राद ने आत्मसमर्पण नहीं किया। एक एक इंच के लिए उन्होंने प्रतिरोध किया और 2 फरवरी 1943 को उतंते नात्सी फौजों को ही आत्मसमर्पण करना पड़ा। यहीं से हिटलर की पराजय का दौर शुरू होता है।

इसी बीच 14 अगस्त 1941 को चर्चिल और अमेरिकी राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने 'अटलांटिक चार्टर' की घोषणा की जो वाद में संयुक्त राष्ट्रसंघ की स्थापना का आधार बनी। इस घोषणा के अनुसार दोनों ने अपने देशों की सीमाओं के विस्तार को नकारा, उन्होंने कहा कि वे किसी देश की जनता की इच्छा के विरुद्ध परिवर्तन नहीं चाहते और हर देश की जनता के अपने शासन पद्धति चुनने के अधिकार का सम्मान करते हैं। उन्होंने नात्सी अत्याचारों का अंत करने और सबकी सुख समृद्धि की गारंटी दी और शक्ति प्रयोग के परित्याग और निरस्त्रीकरण को आवश्यक बताया। इन्हीं सिद्धांतों के आधार पर 1 जनवरी 1942 को 26 राष्ट्रों ने संयुक्त रूप से जर्मनी का विरोध करने की घोषणा की।

इस बीच तानाशाहों की आंख की किरकिरी अमेरिका बना हुआ था। विशेष रूप से जापान प्रशांत महासागर में निर्द्वंद्व होना चाहता था। जापान का पूर्वी एशिया में विस्तार हो रहा था। दिसंबर 1941 में जापान ने अचानक प्रशांत महासागर में स्थित अमेरिकी द्वीपों के बंदरगाह पर्लहार्बर पर भयानक हवाई हमला किया जिसके कारण अमेरिका को भी युद्ध में कूदना पड़ा और महायुद्ध वास्तव में विश्वव्यापी हो गया। पूर्वी एशिया में जापान लगातार विजयी होता रहा। पूर्वी चीन, वियतनाम, कंबोडिया, लाओस, फिलीपींस, थाईलैंड, मलेशिया और वर्मा होती हुई जापानी फौजें हिंदुस्तान की सीमाओं पर मड़राने लगीं। सामुद्रिक लड़ाइयों में भयानक विनाश लीला जारी थी और असंख्य युद्धपोत डुबाए जा रहे थे। इस दौर की सबसे महत्वपूर्ण घटना थी चीनी कम्युनिस्ट पार्टी द्वारा जापान का प्रतिरोध। जापान की अत्याधुनिक और आक्रामक सेना चीन के 'मुक्त क्षेत्रों' पर कब्जा नहीं कर पाई।

इसी बीच इटली के उत्तरी अफ्रीका पर प्रभुत्व को समाप्त करने के प्रयास हुए थे लेकिन जर्मन सेनापति रोमेल ने फिर अपना प्रभाव स्थापित कर लिया था। अक्तूबर 1942 में ब्रिटेन और अमेरिकी फौजों ने मुक्ति अभियान शुरू किया। जनवरी 1943 में मोरक्को स्थित कासाब्लांका में चर्चिल-रूजवेल्ट और जनरल दगाल का एक शीर्ष सम्मेलन हुआ और युद्ध नीति तय की गई। मई आते आते उत्तरी अफ्रीका मित्र राष्ट्रों के कब्जे में आ गया। अफ्रीकी युद्ध में जर्मन सेनापति रोमेल ने बहुत प्रसिद्धि पाई और

हिटलर को स्वयं अपने लिए खतरा महसूस होने लगा। दूसरी ओर परस्पर प्रतिस्पर्धा के बावजूद आंग्ल-अमेरिकी सहयोग में 'आठवीं सेना' ने रेगिस्तानी युद्ध कला का उत्कृष्ट परिचय दिया।

अब मित्र राष्ट्रों की फौज दक्षिण से यूरोप में प्रवेश करने का प्रयास करने लगी। इस बीच इटली का फासिस्ट तंत्र लड़खड़ा गया। मुसोलिनी को इस्तीफा देना पड़ा और उसे बंदी बना लिया गया। इटली की नई सरकार ने आत्मसमर्पण कर दिया और मित्र-राष्ट्रों से सहयोग के लिए अपनी पूरी शक्ति समर्पित कर दी। जर्मनी ने इसका जवाब रोम और उत्तरी इटली पर कब्जा करके दिया। उसके बाद शुरू हुआ वर्षों तक चलने वाला भयानक युद्ध जिसमें मित्रराष्ट्रों की फौज बहुत धीरे धीरे ही आगे बढ़ पाई।

अक्तूबर 1943 में अमेरिका, ब्रिटेन और रूस के विदेशमंत्रियों ने यूरोपीय व्यवस्था पर विचार किया और भावी संयुक्त राष्ट्रसंघ की स्थापना की घोषणा की गई। नवंबर में मिस्र की राजधानी काहिरा में रूजवेल्ट चर्चिल और चीनी नेता च्यांगकाई शेक ने पूर्वी एशिया के विषय में विचार विमर्श किया। तत्काल बाद ईरान की राजधानी तेहरान में स्तालिन रूजवेल्ट और चर्चिल मिले। इस सम्मेलन में जर्मनी के विरुद्ध तीनों देशों ने मिलकर प्रहार करने की योजना बनाई और दुनिया से गुलामी तथा अत्याचार मिटाने के लिए अन्य देशों से सहयोग मांगा।

अफ्रीका विजय के बाद यूरोप विजय के लिए अमेरिकी सेनापति आइजन हावर को संयुक्त यूरोपीय कमांड का सर्वोच्च सेनापति नियुक्त किया गया। जून 1944 में फ्रांस में एक वृहत् मोर्चा खोला गया। बड़े साहस से फ्रांस के उत्तरी पश्चिमी सीमातट नार्मंडी पर मित्र राष्ट्रों की सेनाएं उतारी गईं। स्थल और नौसेना के समन्वित प्रयास के रूप में इसे अपने ढंग का इतिहास का सबसे बड़ा अभियान माना जाता है। मित्र सेना के उतर जाने के बाद फ्रांस के प्रतिरोध करने वाले आंदोलन को बहुत बल मिला। एक ओर से मित्र राष्ट्रों की सेनाएं बढ़ रही थीं दूसरी ओर प्रतिरोध आंदोलन बढ़ रहा था। 3 अगस्त को देशभक्त आंदोलनकारियों ने पेरिस को मुक्त घोषित कर दिया। दो दिनों बाद दगाल पेरिस पहुंचा। उसकी जिद पर मित्र राष्ट्रों की सेना का इस अभियान के लिए एक फ्रांसीसी सेना ने ही नेतृत्व किया था।

इस अभियान का सबसे रोमांचक पक्ष यह है कि हिटलर ने पेरिस के जर्मन प्रशासक को पेरिस खाली करने से पहले नष्ट-भ्रष्ट करने की आज्ञा दे दी थी। यदि ऐसा हो जाता तो विश्व का सबसे समृद्ध कला भंडार लुप्त हो जाता। भयानक अंतर्द्वंद्व जीते हुए और अपनी जान पर खेलकर जर्मन प्रशासक ने तब तक इस आज्ञा के कार्यान्वयन को टाले रखा जब तक पेरिस पर फिर फ्रांसीसियों का कब्जा नहीं हो गया। धीरे धीरे फ्रांस, बेल्जियम और लुक्सेमबुर्ग आदि को मुक्त करा लिया गया।

पूर्व में रूसी सेनाएं न केवल जर्मनी अधिकृत रूस को मुक्त करा चुकी थीं अब वे तेजी से पश्चिम में जर्मनी की ओर बढ़ रही थीं। बालकन प्रायद्वीप को भी धीरे धीरे मुक्त किया जा रहा था। 1945 के प्रारंभिक महीनों में जर्मनी को उसकी सीमाओं में ठेल दिया गया। अब पूरब से रूसी फौजें और पश्चिम से मित्र राष्ट्रों की फौजें आगे

बढ़ती राजधानी बर्लिन तक पहुंच गई। विश्वास किया जाता है कि बर्लिन की घनघोर लड़ाई के दौरान हिटलर ने अपनी प्रेमिका, ईवाब्रान के साथ आत्महत्या कर ली। (कहा जाता है कि उसके साथ मरने के कुछ ही घंटों पहले हिटलर ने शादी कर ली थी) 7 मई 1945 को जर्मनी ने पूरी तरह से आत्मसमर्पण कर दिया।

जर्मनी के आत्मसमर्पण के बाद इटली में भी प्रतिरोध खत्म हो गया। मुसोलिनी पहले ही अपने ही देशवासियों द्वारा मारा जा चुका था और फासिस्टों ने आत्मसमर्पण कर दिया था। इस तरह पूरा यूरोप और अफ्रीका मुक्त हो चुके थे अब केवल जापान से लोहा लेना बाकी था।

जापान का विस्तार 1944 में ही रोका जा चुका था। अमेरिकी सेना ने धीरे धीरे दक्षिणी पूर्वी एशिया के टापुओं को आजाद कराना शुरू कर दिया था। यूरोप में युद्ध समाप्त हो जाने के बाद मित्र राष्ट्रों ने अपनी पूरी ताकत जापान के विरुद्ध लगा दी। जुलाई आते आते रूस ने भी जापान के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। पोट्सडम में अमेरिका के राष्ट्रपति ट्रूमन (राष्ट्रपति रूजवेल्ट का देहांत होने पर अमेरिकी संविधान के अनुसार उपराष्ट्रपति ट्रूमन राष्ट्रपति बनाए जा चुके थे) इंग्लैंड के प्रधानमंत्री एटली (पिछले चुनाव में लेबर पार्टी की विजय के बाद चर्चिल के स्थान पर एटली प्रधानमंत्री बने थे) रूसी नेता स्तालिन और चीनी नेता च्यांगकाई शेक का शीर्ष सम्मेलन हुआ जिसके बाद जापान को बिना शर्त आत्मसमर्पण करने की चेतावनी दी गई।

एकदम निश्चित हार की निकटता के बावजूद जापान समर्पण के लिए तैयार नहीं था। अमेरिकी राष्ट्रपति ने इसी समय एक भयानक निर्णय लिया। द्वितीय महायुद्ध के दौरान विभिन्न देशों में अणुबम बनाने की कोशिशें हुई थीं लेकिन सफलता केवल अमेरिका को मिली थी। छः अगस्त को जापान के नगर हिरोशिमा पर इतिहास में पहली बार अणुबम का प्रयोग किया। सारा नगर नष्ट भ्रष्ट हो गया फिर भी जुझारू जापानियों ने आत्मसमर्पण नहीं किया। नौ अगस्त को नागासाकी पर दूसरा बम गिराया गया। इन क्रूर प्रहारों से इन नगरों का वर्तमान तो समाप्त हो ही गया विकिरण के नाते आने वाली पीढ़ियों के लिए भी खतरा पैदा हो गया। लेकिन इनका अपेक्षित नतीजा निकला और जापान ने हथियार डाल दिए। संधिवार्ताओं के बाद दो सितंबर को करीब छः वर्षों बाद इतिहास का सबसे क्रूर और भयानक युद्ध समाप्त हो गया।

द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति पर 1919 की तरह प्रतिहिंसा का वातावरण नहीं था क्योंकि युद्ध के दौरान ही भारी बम वर्षा द्वारा धुरी राष्ट्रों पर मित्र राष्ट्रों ने अपना गुस्सा उतार लिया था। दूसरे, पेरिस संधियों के परिणामों ने विजेताओं को अपेक्षतया अधिक होशियार बना दिया था। इसलिए पराजित देशों को कटघरे में खड़ा करने के बजाय युद्ध अपराधियों पर नूरेम्बर्ग और तोकियो में मुकदमा चलाया गया और युद्ध तथा नरसंहार में उनकी भूमिकाओं के अनुसार उन्हें सजा दी गई। जर्मनी, इटली और जापान में युद्धोपरांत स्थापित सरकारों के साथ सहयोग की नीति अपनाई गई। मार्शल योजना के अंतर्गत यूरोप में बिना विजेता और विजित का ध्यान किए पुनर्निर्माण की

व्यापक योजना तैयार की गई। इस योजना के कारण शीघ्र ही ज़र्मनी भी अपने पैरों पर खड़ा हो सका और कुछ ही दिनों बाद यूरोपीय साझा बाजार (ई० सी० एम०) में पराजित जर्मनी और इटली के साथ विजेता देश जैसे फ्रांस शामिल हुए और इन देशों की आर्थिक प्रगति की रफ्तार दूसरों के लिए ईर्ष्या का कारण बन गई।

जापान में भी अमेरिकी प्रभाव में निर्माण कार्य शुरू हुआ और वहां तो अमेरिकी सेनापति जनरल मैकार्थर कई वर्षों तक एक प्रकार से शासक बना रहा। जापान कुछ ही वर्षों बाद सर्वाधिक तीव्रगति से विकास करने लगा। पराजित देशों में अमेरिकी पूंजी और प्रभाव मजबूती के साथ स्थापित किए गए और इन देशों की प्रगति का लाभ परोक्ष रूप से अमेरिका को ही मिलता रहा।

कुछ ही वर्षों बाद पूंजीवादी अंतर्विरोध प्रकट होने लगे और ये दूसरी श्रेणी के देश अमेरिकी प्रभुत्व से प्रत्यक्ष परोक्ष रूप से टकराने लगे।

अंतर्राष्ट्रीय संबंधों के विषय में युद्ध के ही दौरान विभिन्न स्थानों पर हुए शीर्ष सम्मेलनों में महत्वपूर्ण निर्णय लिए गए थे। इनमें 'डंबार्टनओक्स) के सम्मेलन में संयुक्त राष्ट्र संघ के निर्माण की योजना बनी थी और 'याक्टा' तथा 'पोट्सडम' के सम्मेलनों में यूरोप की पुनर्व्यवस्था, एशिया और अफ्रीका में युद्धोपरांत की स्थिति शांति और सुरक्षा के संबंध में महत्वपूर्ण निर्णय लिए गए थे।

'डंबार्टन ओक्स' सम्मेलन के प्रस्तावों के आधार पर याक्य में स्तालिन, रूजवेल्ट और चर्चिल ने भावी संयुक्त राष्ट्रसंघ संबंधी विवाद समाप्त कर लिए परिणामस्वरूप अप्रैल 1945 में सैनफ्रांसिस्को में एक अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन में 50 राष्ट्रों ने संयुक्त राष्ट्र संघ के 'चार्टर' पर हस्ताक्षर कर दिए। इस प्रकार राष्ट्रसंघ को दफना कर संयुक्त राष्ट्रसंघ की नींव रख दी गई।





भौतिक परिवर्तन किसी भी देश के भीतर के राजनीतिक और सामाजिक परिवर्तन के लिए अनिवार्य शर्त है। बिना भौतिक परिवर्तन के किसी भी देश के सामाजिक-राजनीतिक ढांचे में आधारभूत परिवर्तन की कल्पना नहीं की जा सकती है। आज की वैज्ञानिक-ऐतिहासिक दृष्टि इसे प्रमाणित कर चुकी है। यही कारण है कि आज का समझदार तथा सचेत इतिहास लेखक किसी देश का इतिहास लिखते समय मात्र राजपरिवारों या महा-पुरुषों के आपसी संघर्षों को ही इतिहास नहीं मानता है। वह परिवर्तन के भौतिक कारणों को केंद्र में रखकर इतिहास लिखता है। आज तिथियों का अनावश्यक रूप से उल्लेख भी इतिहास में जरूरी नहीं माना जाता है क्योंकि हर ऐतिहासिक घटना एक लंबी परिवर्तन प्रक्रिया का परिणाम होती है। डा० लाल बहादुर वर्मा की यह पुस्तक इसी दृष्टि से लिखी गई है। फ्रांस की क्रांति के बाद यूरोप में जो परिवर्तन हुए उनका विश्लेषण अत्यंत सरल तथा सुबोध भाषा में लेखक ने यहां प्रस्तुत किया है। लेखक की दृष्टि तिथि या व्यक्ति पर केंद्रित नहीं है बल्कि घटनाएं तथा उनसे संबद्ध व्यक्ति जिस भौतिक परिस्थिति की उपज होते हैं उन्हीं का वर्णन यहां किया गया है। पुस्तक बी० ए० के छात्रों की आवश्यकता को ध्यान में रखकर लिखी गई है लेकिन इस विषय में रुचि रखनेवाला कोई भी व्यक्ति इसे पढ़कर जानकारी पा सकता है।

डा० लाल बहादुर वर्मा लखनऊ विश्वविद्यालय से इतिहास में एम० ए० (1959) करने के पश्चात गोरखपुर विश्वविद्यालय से 'आंग्ल भारतीय (ऐंग्लो इंडियन) जाति के विकास' पर पीएच० डी० प्राप्त। इसके पश्चात फ्रांस के सारबान विश्वविद्यालय से 'इतिहास लेखन की समस्याएं' शीर्षक शोध प्रबंध पर, जो मूल फ्रेंच में प्रस्तुत किया गया था, उन्हें इतिहास की डी० लिट्० की उपाधि मिली। संप्रति गोरखपुर विश्वविद्यालय के इतिहास विभाग में कार्यरत।

साथ ही 'भंगिमा' नामक साहित्यिक पत्रिका का पिछले छः वर्षों से संपादन-संचालन।

मूल्य : 14.00

M

दि मैकमिलन कंपनी आफ इंडिया लिमिटेड

नई दिल्ली बंबई कलकत्ता मद्रास